उपहार

* सूची *

हिन्दी-कहानियों का विकास

—:※※:—

समाज में, जब सामूहिक रूप से कृति-शक्ति का सरल विकास प्रौढ़ होने लगता है, सम्भवतः उसके साथ ही, अथवा उससे संघर्ष करती हुई, कहानियाँ बनने लगती हैं। कभी-कभी लड़के वृद्धों की मनोरंजनपूर्ण क्रियाओं का स्मरण करने के लिये, उसे गढ़ रखते हैं, और कभी वृद्ध, उन लड़कों को अपने विदग्ध अनुभव की शिक्षा देने के लिये बनाते हैं। यह अन्योन्य सहायता समाज के प्रारम्भिक ज्ञान-विकास के लिये अनावश्यक नहीं है।

सदुपदेश भी कहानी का प्राचीन हेतु है; परन्तु धीरे-धीरे लोक-संग्रह, हँसी, मनोरञ्जन और धार्मिक शिक्षा में भी इसका उपयोग होने लगा। भारतीय साहित्य में ऋग्वेद, ब्राह्मणों और उपनिषदों में सरमा, वामदेव, रोहित, जाबालि और नाचिकेता-आदि के उपाख्यान कहानी-साहित्य की दृष्टि से अत्यन्त प्राचीन हैं। इस तरह की धार्मिक आख्यायिकाएँ बौद्ध तथा जैन-सम्प्रदायों में भी अधिक लिखी गई हैं। बौद्धों की जातक-कथा [illegible] के कथा-साहित्य का एक प्रधान अङ्ग है। जैनों के [illegible]-सूत्र में वर्णित कहानियाँ भी कम महत्व नहीं रखतीं।

पिछले काल के दार्शनिकों ने भी न्याय और सांख्य के सिद्धान्तों को प्रमाणित करने के लिये आख्यायिकाओं का प्रयोग किया है। किसी गहन विषय को समझाने के लिये, इससे बढ़कर दूसरा उपाय नहीं था। इसका प्रभाव धर्म, समाज, दर्शन और राजनीति तथा साधारण शिष्टाचारों पर भी पड़ता था। उस समय, कहानी के आलम्बन-उपकरण में बहुत तीव्र उन्नति हुई, और पशु, पक्षी, मनुष्यों के अंग, भूत-प्रेत, चेतन और अचेतन कितने ही कहानियों के पात्र बने। हँसना, सुलाना, मनोरञ्जन करना, उपदेश देना और कुशलता उत्पन्न करना—यही उनकी उपयोगिता थी। उनकी अस्वाभाविकताओं पर कोई इतना ध्यान न देता था।

कहना न होगा कि संसार के ज्ञान के उपासकों ने अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न धाराओं में कहानी से सहायता लेकर आशातीत सफलता प्राप्त की थी।

(१) ऋग्वेद—अपाला की कथा—

एक युवती स्त्री किसी रोग के कारण, अपने पति-द्वारा परित्यक्ता होती है। उसे कोई सहायता नहीं देता, वह अपने दुःख में अकेली असहाय है। इन्द्र उसे मुक्त करके, उसका दुःख छुड़ाते हैं।

(२) ब्राह्मण—

रोहित, बलि के लिये चुना जाता है। उसे आकाश-वाणी से यह सूचना [होती कि कर्मशील क्रियात्मक मनुष्य कभी दुःखी

नहीं होता। वह बराबर घूमता है। संयोगवश अकाल में एक दुखी परिवार उसके बदले में, अपने एक लड़के की बलि देना स्वीकार करता है; केवल कुछ धन की आशा पर। विश्वामित्र के आजाने से बलि नहीं होने पाती; दोनों के प्राण बच जाते हैं।

(३) उपनिषद्—

जाबालि सत्यकाम गुरुकुल में पढ़ने की इच्छा से गौतम के पास जाता है। नाम और गोत्र पूछने पर वह अपनी माँ से सुनी हुई सची बात कह देता है कि यौवन-काल में कितने-ही सम्बन्ध होने के कारण यह ठीक नहीं कहा जा सकता कि वह किस गोत्र का है। सत्य को इतने स्पष्ट रूप से निःसङ्कोच कहने के कारण कुलपति कहते हैं कि तुम वास्तव में ब्राह्मण हो; क्योंकि सत्य बोलते हो।

(४) सांख्य दर्शन—

प्रकृतिनियोगे विरोधो रागादिभिः कुमारी शङ्खवत् ॥ ६ ॥

एक बड़ी चञ्चल लड़की थी। उसके माता-पिता उसकी चञ्चलता से घबरा उठे। उन्होंने उस कुमारी के हाथ में शङ्ख की चूड़ियाँ पहना दीं। इसलिए जब वह उछलती-कूदती, तो उन चूड़ियों की ध्वनि होती, और वे उसकी चञ्चलता समझ जाते। लौकिक—

कंकणध्वनिज्ञापन न्यायः॥

इसी की ध्वनि महाकवि बिहारीलाल के इस दोहे में है—

मधुकरी

पं० विनोदशङ्कर व्यास

कन दैबो सौंप्यौ ससुर, बहू थुरहथी जानि ।
रूप-रहचटै लगि लग्यो, माँगन सब जग आनि ॥२६५॥

(बिहारी-रत्नाकर)

एक आदमी बड़ा कंजूस था। उसकी पुत्र-वधू विवाह के बाद घर में आई। उसके हाथ छोटे-छोटे थे, इसलिये ससुर ने अन्न बाँटने के लिये उसी से कहा—जिसमें उसके हाथ से थोड़ा-ही-थोड़ा सब को मिले; किन्तु वह बड़ी रूपवती थी, अतएव उसके रूप को देखने के लिये बहुत-से लोग माँगने के लिए आए। बहुत-से अयाचक भी भक्षुक बने!

(५) नन्दीसूत्र—(300 A. D.)

एक राजा थे। उनका एक बड़ा प्रिय हाथी था। एक दिन अचानक हाथी बीमार पड़ा। राजा बड़े चिन्तित हुए। उन्होंने गाँववालों को उसकी सेवा के लिए नियुक्त किया और कहा"—इस हाथी का प्रति दिन का समाचार मुझे मिलना चाहिये, और जो इसकी मृत्यु का समाचार लायेगा—उसे प्राण-दण्ड दिया जायगा।"

हाथी बहुत दिनों तक बीमार रहा। गाँव में से कोई-न-कोई उसका समाचार लेकर नित्य राजा के पास जाता। एक दिन हाथी मर गया। गाँव के सब लोग बड़े संकट में पड़े। नित्य की तरह आज कौन समाचार ले जाय? किसी का साहस न होता था। उस गाँव में एक नट बड़ा चतुर था। वह हाथी का समाचार लेकर राजा के पास गया। उसने कहा—"महाराज, हाथी न देखता है, न उठता है, न बैठता है, न खाता है, न पीता है।"

राजा ने आश्चर्य से पूछा—"तो क्या मर गया ?"

उसने कहा—"महाराज, यह हम कैसे कह सकते हैं ?"

जातक की कहानियों के सम्बन्ध में, अनेक मत हैं। अनेक प्रमाणों से यह निश्चित किया जा सकता है कि जातक की कथाएँ, प्राचीन आर्यों की कहानियों का एक सुन्दर संस्करण हैं। उनका रचना-काल ईस्वी से पूर्व चौथी शताब्दी के बाद का नहीं है; क्योंकि वैशाली के महासंगीति में जो त्रिपिटक का सङ्कलन हुआ, उसमें जातक कथाओं का स्पष्ट उल्लेख है।

'हेरोडोटस' ने अपनी पुस्तक (४५० बी० सी०) में अपने से १०७ वर्ष पहले के कहानीकार इसाप का उल्लेख किया है। इसाप का समय उसके कथनानुसार ५५० बी० सी० है।

'अरस्तू' ने भी अपने व्याख्यान में राजनीति के दृष्टान्त-रूप से दो कहानियों का उल्लेख किया है।

(१) 'स्टेसीकारस' की कहानी—(लगभग ५५६ बी० सी०)

(२) 'इसाप' की कहानी—५५० बी० सी०

किन्तु ग्रीक इसाप बहुत-सी कहानियों में जातक का प्रतिबिम्ब है। सिंह की खाल में गदहेवाली कहानी इसका प्रमाण है। एक बात विचारणीय है, कि वास्तव में ग्रीक इतिहास में सर्व-प्रथम कहानियों का संग्रह (३०० बी० सी०) 'डेमीट्रीयसफोलिरीयस' ने किया। उसी संग्रह का नाम 'इसाप की कहानी' है। इस प्रकार इसाप की कहानियों का संग्रह वैशाली के महासंगीति के पीछे का ही ठहरता है।

श्री ईशानचन्द्र घोष का मत है कि जो लोग जातक-साहित्य का अध्ययन करेंगे, उन्हें मालूम होगा कि मध्य एशिया की सब जातियों की कथा-कहानियों पर जातक-कहानियों की छाप है। इटली के विद्वान् 'कास्पारेटी' मित्र-विन्दक-जातक को ही फ़ारस के सिंधबाद जहाज़ी की मूल भित्ति मानते हैं।

राधा-जातक भी प्रकारान्तर से अरब के कथा साहित्य में मिलता है। बात यह है कि वह सब जातियाँ जो मुसलमान हुईं, वे पहले प्रायः बौद्ध थीं, और इस तरह से परम्परागत जातीय कथा-कहानियों का अपने नवीन साहित्य में उन लोगों का उपयोग करना कोई असम्भव नहीं।

अरब लोगों के सम्पर्क में आने से 'कारोलीना' के नीग्रो बच्चे भी श्लेशरोम जातक से (रिमॉस चाचा की कहानी के रूप में) परिचित हुए। मध्य युग में 'जेरुसेलम' के झगड़े के समय धर्म-युद्ध से लौटकर वीर रिचर्ड ने अपने विद्रोही सामन्तों के सत्यङ्की जातक की छाया-कथा सुनाकर समझाया था।

महाकवि 'चासर' का Pardonar's Tale वेदब्भ जातक के आधार पर रचित है। लोग तो 'शेक्सपियर' के 'मरचेण्ट ऑफ़-वेनिस' को भी भारतीय कथा के आधार पर बना हुआ मानते हैं।

इधर भी ला० फण्टेन प्रभृति कहानी-लेखकों पर भारतीय उपाख्यानों का बहुत क़र्ज़ है।

ईसा की तीसरी शताब्दी में वेब्रियास ने रोम-सम्राट् के राज-कुमार के लिए १०० कहानियाँ [illegible]

उसने मिश्र देश के कहानी-लेखक केबिसीस का उल्लेख किया है, और उन कहानियों में भी बहुत-से जातकों की छाया है।

कुछ लोगों का अनुमान है, कि केबिसीस, यहूदी कहानी-लेखक, भी केवल काश्यप का रूपान्तर है; क्योंकि जातकों में काश्यप बुद्ध-काल की कथाकार है।

'बेब्रियास' की कहानियों में पीछे जो उपदेश (Moral) निकालने की व्याख्या लगी हुई मिलती है, वह ठीक जातकों की नक़ल है। नीचे कुछ ग्रीक और रोम की कहानियों के आधार-स्वरूप, इसाप और जातक की कहानियों की समानता का उदा-हरण दिया जाता है।

जातक	इसाप
नृत्य जातक	The Jay and Peacock
मशक जातक	The Baldman & the Fly
सुवर्णहंस जातक	The Goose with golden eggs
सिंहचर्म जातक	The Ass in a lion's skin
कच्छप जातक	The Eagle & the Tortoise
जम्बू जातक	The Crow & the Fox
जवसकुन जातक	The Wolf & the Crave
चूल्ल धनुर्गह जातक	The Dog & the Shadow
कुक्कुट जातक	The Fox, the Cock & Dog
दीपि जातक	The Wolf & the Lamb

जातकों के साथ-ही-साथ, जो धर्म-प्रचार की विभिन्न धारा के

कारण पाली और प्राकृत में लिखे गये थे, भारत की प्रमुख संस्कृत भाषा तथा उसके परिवारवर्ग की अन्य भाषाओं में भी कहानियों का पूर्ण विकास हुआ था। महाभारत में प्रसंग के अनुसार बहुत-सी छोटी-छोटी आख्यायिकाएँ वर्त्तमान हैं। पुराणों को तो एक प्रकार से धार्मिक उपाख्यानों का संग्रह ही कहना होगा।

पञ्चतन्त्र, हितोपदेश-इत्यादि संस्कृत के प्रसिद्ध कथा-ग्रन्थ हैं, किन्तु अन्य अपभ्रंश भाषाओं में भी भारतीय प्रचलित कहानियों का एक बड़ा संग्रह था। ईसा की पहली शताब्दी में पैशाची भाषा में 'बृहत् कथा' की रचना हुई, जो अब संस्कृत की 'बृहत् कथा-मञ्जरी' और 'कथा सरित् सागर' के रूप में उपलब्ध है।

पञ्चतन्त्र-आदि का तो अरबी और फ़ारसी भाषा में अनुवाद हुआ ही, किन्तु 'बृहत् कथा' के रचना-संगठन (construction) का अनुकरण करके 'सहस्र-रजनी-चरित्र'-इत्यादि अन्य भाषाओं में बने। इस तरह के संग्रहों की एक प्रधान विशेषता है कि किसी एक व्यक्ति को केन्द्र बनाकर समाज में प्रचलित अनेक आख्यायिकाएँ सजा दी जाती हैं, और यह क्रम भी जातकों के प्रचार से अनुकरण किया गया था। जातकों के राजा ब्रह्मदत्त, और 'सरित्-सागर' के नरवाहनदत्त के ही ढंग पर फ़ारस के राजकुमार भी कल्पित किये गये, जिनके चारों ओर 'सहस्र रजनी-चरित्र' की आख्यायिकाएँ थीं।

संस्कृत-साहित्य में इस ढंग का अन्तिम संकलन 'दशकुमार-चरित' है। इस तरह से आप देखेंगे, कि भारतीय कथा-साहित्य

का कितना अपूर्व विस्तार था; किन्तु क्रमशः उपाख्यानों की उपादेयता बदलती गई, और साथ ही-साथ उनका उद्देश और रूप भी बदला। धार्मिक कथाओं में जहाँ साहस धर्म के लिये होता था, वहाँ पिछले काल में स्वार्थ और लौकिक उन्नति की ओर कहानियों का अधिक झुकाव दिखलाई पड़ता है।

यात्रा, साहस के कार्य, आश्चर्यमय क्रिया-कलाप, तथा स्वार्थ, सम्बन्धी कूट-चातुरी इन कहानियों में भरी हुई हैं। छल-प्रवञ्चना आदि किसी भी प्रकार से लौकिक विजय प्राप्त करना, तथा निर्भीक होने की शिक्षा देना—इन कहानियों का उद्देश है। 'दशकुमार-चरित्र' इसका सब से अच्छा उदाहरण है। यह ठीक उसी भाव (Spirit) में लिखा गया है, जिसमें कि वर्तमान काल की योरोपियन साहसिक (Adventurous) कहानियाँ लिखी जाती हैं।

हाँ, कहीं-कहीं लोक-चरित्र की तीव्र आलोचना तथा नीति और व्यंग्य की प्रधानता भी है। अपभ्रंश भाषा में भी बहुत-सी कहानियाँ लिखी गई हैं, किन्तु अभी उनका अधिक पता नहीं लगता, और हम वर्तमान हिन्दी के आदि-युग की ओर चले आने के लिये बाध्य होते हैं।

हिन्दी में कहानियाँ अनुवाद के रूप में 'बैतालपचीसी', 'सिंहासनबत्तीसी', 'शुकबहत्तरी'-आदि के नाम से आई हैं, किन्तु हिन्दी में कहानी का नया विकास 'रानी केतकी की कहानी' से हुआ है।

आधुनिक खड़ी बोली के साहित्य का विकास, लल्लूलालजी

(प्रेमसागर) के समय, यानी १८ वीं शताब्दी ई० के आरम्भ से, ही हुआ है। लल्लूलाल के समकालीन सदल मिश्र, इंशाअल्लाह-ख़ाँ और मुन्शी सदासुखलाल थे।

सदल मिश्र का 'नासिकेतोपाख्यान' हिन्दी-कहानी का पहला रूप है; किन्तु यह एक पौराणिक कथा है।

'रानी केतकी की कहानी'—

राजकुमार हिरन के पीछे घोड़े पर जाता है। वह उसे नहीं मिलता, अतएव थककर विश्राम लेना चाहता है। उसने देखा, 'अमराइयों' में बहुत-सी युवतियाँ झूले पर झूल रही थीं। वहीं रानी केतकी से भेंट होती है। एक-दूसरे की अँगूठियों का परिवर्तन होता है। घर चले आते हैं। विवाह की बातचीत चलती है। रानी केतकी का पिता अस्वीकार कर देता है। दोनों राज्यों में युद्ध आरम्भ होता है। रानी केतकी के पिता के गुरु आते हैं। मन्त्र द्वारा, राजकुमार और उसके माता-पिता हिरन बन जाते हैं। बहुत दिनों के बाद रानी केतकी के प्रयत्नों से फिर गुरुजी आते हैं। गुरुजी इन्द्र को बुलाते हैं। राजकुमार, उसके माता-पिता-आदि फिर मनुष्य के रूप में हो जाते हैं। अन्त में राजकुमार और रानी केतकी का विवाह हो जाता है।

इस कहानी का रचना-काल १८०२ ई० माना जाता है। यह एक मुसलमान लेखक इंशाअल्लाह ख़ाँ-द्वारा लिखित हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी है। इस कहानी को पढ़कर हँसी आती है। सचमुच यह एक खिलवाड़ मालूम पड़ता है, किन्तु 'लेखक

इस एक कहानी से सवा-सौ-वर्ष पहले से लेकर आज तक की हिन्दी-कहानियों, और साथ-साथ हिन्दी-गद्य का विकास कैसे हुआ, यह हम भली भाँति जान लेते हैं। अतएव यह एक खिलवाड़ भी अपनी प्राचीनता के कारण आज कहानी-साहित्य में अपना महत्व रखता है।

१८ वीं शताब्दी के मध्य तक कहानियों के इतिहास के सम्बन्ध में कोई उल्लेखनीय बात नहीं हुई; पौराणिक और धार्मिक कथाओं का ही संस्कृत-साहित्य से अनुवाद होता रहा। इसके बाद राजा शिवप्रसाद (सितारेहिन्द) का 'राजा भोज का सपना' भाषा के नये साँचे में ढलकर, कहानी के आकार में हिन्दी-संसार के सामने आया।

भारतेन्दु-काल में कथा-साहित्य का ज़ोरों से विकास हो रहा था। बँगला और अँग्रेज़ी से भी अनुवाद आरम्भ हो गया था। उसी समय बाबू काशीनाथ खत्री ने 'लेम्ब्स टेल्स' का अनुवाद किया था।

१९०० ई० 'सरस्वती' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। कहानियों की ओर दृष्टि दौड़ाते हुए, कहना होगा, कि 'सरस्वती'-द्वारा ही आज हम कहानी-साहित्य का पूर्ण विकास हिन्दी में देख रहे हैं। पं० किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' कहानी १९०२ में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। लाला पार्वतीनन्दन के नाम से बाबू गिरिजाकुमार घोष ने अँग्रेज़ी की कई कहानियों का छाया-अनुवाद किया था। 'भूतों की हवेली' ख़ूब पसन्द की गई।

कहानियों के प्रति पाठकों की रुचि बढ़ने लगी। 'सरस्वती' में प्रकाशित कहानियों को लोग बड़े चाव से पढ़ने लगे; किन्तु मौलिक लेखकों का अभाव था।

श्रद्धेय पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत की आख्यायिकाओं को हिन्दी-रूप दिया था। 'बंग-महिला' ने बँगला की उच्च कोटि की कहानियों से हिन्दी जनता को परिचित कराया था। उनकी कहानियों में 'दुलाईवाली' उस समय की दृष्टि से बहुत अच्छी है। हिन्दी-कहानियों का वह आरम्भिक काल था।

वर्त्तमान युग की मौलिक कहानियों का विकास 'इन्दु' के द्वारा अधिक हुआ। १९११ ई० में बाबू जयशङ्कर 'प्रसाद' ने 'इन्दु' में एक मौलिक कहानी लिखी। उसका नाम था —'ग्राम'। 'प्रसाद'-जी युग-प्रवर्त्तक कवि हैं। अतएव उनकी कहानियों में भावुकता का ओत-प्रोत होना स्वाभाविक ही है। आपकी कहानियाँ स्थायी साहित्य की चीज़ हैं। उन्हें दो सौ वर्षों के बाद पढ़ने पर उतना ही मज़ा आयेगा, जितना आज आता है। 'आकाश-दीप', 'बिसाती', 'प्रतिध्वनि', 'देवदासी', 'चूड़ीवाली', 'स्वर्ग में', 'गूदड़साईं'-आदि कहानियाँ हिन्दी-साहित्य में अमर रहेंगी।

जिस तरह 'प्रसाद'-जी की कविताओं से हिन्दी में नवयुग आरम्भ हुआ है, उसी तरह उनकी कहानियों ने भी अपनी सीमा बना ली है। 'बिसाती' और 'आकाश-दीप' में कला का पूर्ण विकास हुआ है। इसका आनन्द विद्वान् पाठक ही अनुभव कर सकेंगे। 'प्रसाद'-जी की रचनायें साधारण पाठकों के लिये नहीं होतीं

है। हिन्दी में मौलिक कहानियों की पहली पुस्तक आपकी कहानियों का संग्रह 'छाया' नाम से प्रकाशित हुई, जो साहित्य-सम्मेलन की परीक्षा में भी रही।

पं० विश्वम्भरनाथ जिज्जा की 'परदेसी' कहानी १९१२ में पहले 'इन्दु' में प्रकाशित हुई थी। इस कहानी का अनुवाद गुजराती की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका 'बीसवीं सदी' में भी निकला था।

सन् १९१३ में पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' की पहली कहानी 'रक्षा-बन्धन' सरस्वती में छपी थी। हिन्दी के चुने हुए कहानी-लेखकों में 'कौशिक'जी का उच्च स्थान है। 'सरस्वती'-सम्पादक श्री द्विवेदीजी का कहना है कि 'ताई' उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानी है। मुझे भी 'ताई', 'वह प्रतिमा' और 'सहृदय शत्रु' बहुत पसन्द आई।

बँगला और अँग्रेज़ी कहानियों के अनुवाद ने भी लेखकों को आकर्षित किया। मौलिक कहानी लिखने की प्रथा चल निकली। १९१३ ई० में सूर्यपुराधीश राजा राधिकारमण सिंह की 'कानों में कँगना' कहानी 'इन्दु' में छपी। उस समय हिन्दी में अपने ढङ्ग की यह पहली कहानी थी।

"किरण! तुम्हारे कानों में यह क्या है?"

उसने कानों से चंचल लट को हटाकर कहा—"कङ्गना।"

इस शैली को सफलतापूर्वक लिखकर राजा साहब ने पढ़ने-वालों को मुग्ध कर दिया था। इस कहानी की भाषा बड़ी सजीव है। राजा साहब हिन्दी के गद्य-कवि हैं। आपकी 'बिजली' कहानी भी अपूर्व है।

१९१५ ई० में 'उसने कहा था' कहानी ने विद्वानों को चकित कर दिया। इसके लेखक थे, स्वर्गीय चन्द्रधर शर्मा गुलेरी-जी। हिन्दी कहानियों में इसके जोड़ की आज तक कोई दूसरी कहानी नहीं निकली। कई वर्षों की बात है, मैं 'मधुकरी' के सङ्कलन के लिये 'सरस्वती' की फ़ाइल उलट रहा था। एकाएक मेरी दृष्टि इस कहानी पर पड़ी। शीर्षक ही आकर्षक था। मैं बड़े ध्यान से पढ़ने लगा। कहानी पढ़ते-पढ़ते तबियत उछलने लगी। ऐसी कहानी भी हिन्दी में है? आश्चर्य था। इस कहानी को तब से मैं कितनी बार पढ़ चुका, नहीं कह सकता। मैंने अनेक कहानी-लेखकों से इस कहानी पर उनकी सम्मति पूछी। सभी ने इसको सराहा और प्रशंसा की। मेरा अपना मत है, कि हिन्दी में यह पहली 'रियलिस्टिक' (Realistic) कहानी है। इसमें कहानी के सब अङ्ग वर्तमान हैं। इस कहानी को जो एक बार ध्यान से पढ़ेगा, वह जीवन-भर नहीं भूल सकेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। गुलेरीजी ने अपने जीवन में दो-तीन कहानियाँ ही लिखी हैं; किन्तु बहुत खोज करने पर भी उनकी दूसरी कहानी मुझे न प्राप्त हो सकी।

उन दिनों 'सरस्वती' और 'इन्दु' में उच्च कोटि की मौलिक कहानियाँ प्रकाशित होने लगीं। पं० ज्वालादत्त शर्मा की पहली कहानी 'सरस्वती' १९१४ ई० में निकली। उस समय प्रेमचन्द-जी की कहानियों का हिन्दी में जन्म भी नहीं हुआ था। शर्माजी की घटनात्मक कहानियाँ बहुत ही दिलचस्प होती थीं। पढ़ने में

खूब मन लगता था। इस तरह कभी 'कौशिक'-जी की और कभी शर्माजी की कहानियाँ बराबर 'सरस्वती' को सुशोभित करती रहीं।

श्री चतुरसेन शास्त्री की पहली कहानी 'गृहलक्ष्मी' में प्रकाशित हुई थी। १६१४ की बात है। उस समय शास्त्रीजी से कहानी-लेखक के नाते बहुत कम लोग परिचित थे। उनकी कहानियों का प्रचार तो इधर ही कई वर्षों में हुआ है। आपकी अब तक की कहानियों में 'खूनी' को मैं उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना समझता हूँ।

१६१६ ई० में हिन्दी-कहानियों में युगान्तर उपस्थित करनेवाले श्री प्रेमचन्दजी की पहली कहानी 'सरस्वती' में निकली। इसके पहले उर्दू में 'प्रेम-पचीसी'-इत्यादि पुस्तकें आपकी निकल चुकी थीं। प्रेमचन्दजी की अब तक लगभग दो-सौ कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। हिन्दी की दुनियाँ में प्रेमचन्दजी की कहानियाँ बड़े आदर और चाव से पढ़ी जाती हैं। आप इस कला के आचार्य हैं। जिन्हें ज़रा भी कहानियों से शौक़ है, वे प्रेमचन्दजी को भली भाँति जानते हैं। इस संग्रह में उनकी उच्च कोटि की कहानी नहीं दी जा सकी, इसका मुझे हार्दिक दुःख है। कारण, उनकी कहानियों का सर्वाधिकार प्रकाशकों को है। लगातार पत्र-व्यवहार करने पर भी निराशा ही मिली। अतएव मैं विवश होकर उनकी आज्ञानुसार यहाँ 'मधुकरी' में 'अग्नि-समाधि' ही देकर सन्तोष प्रकट करता हूँ।

श्री रायकृष्णदासजी की कहानियों में 'गहूला' सर्वोत्तम है।

आपकी पहली कहानी १९१७ ई० में प्रकाशित हुई थी। छोटी कहानियाँ आप बड़ी कुशलता से लिखते हैं।

१९१८ ई० में पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की पहली कहानी 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। उनकी कहानियों में 'गोई जीजी' मुझे अधिक पसन्द है।

स्वर्गीय चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' का रचना-काल १९१९ ई० है। 'हृदयेश'-जी ने अपनी छोटी-सी आयु में-ही बहुत-कुछ लिखा। उनकी असामयिक मृत्यु पर हृदय काँप उठा था। उनका अन्तिम पत्र ८।५।२७ का मिला था। उसके एक मास बाद ही उनकी मृत्यु का समाचार मिला। 'मधुकरी' के सम्बन्ध में पत्र-व्यवहार करते हुये, उन्होंने अपने एक पत्र में लिखा था—सब से पहला लेख मैंने सम्वत् १९७१ अर्थात् १५ वर्ष की अवस्था में लिखा था, पर वास्तविक रूप से मेरी रचना का विकास हुआ है १९७६ में; जिस साल मैंने बी० ए० पास किया था। उसी साल मैं 'इण्डियन-डिफ़ेन्स-फ़ोर्स' में देहरादून रहा था। देहरादून और मसूरी की पर्वत-मालाओं ने, एवं वहाँ की प्राकृतिक सुषमाओं ने मेरे हृदय में स्वतः ही स्फूर्ति उत्पन्न कर दी, जिसका प्रथम फल था—'प्रेम-परिणाम'; जो 'ललिता' में प्रकाशित हुआ था।

'हृदयेश'-जी को अपनी कहानियों में 'पर्य्यवसान' और 'उन्मादिनी' अधिक पसन्द थी। उनकी रचनाओं में 'उन्मादिनी' को मैं सर्वोत्तम समझता हूँ। 'हृदयेश'-जी अब एक कहानी हो गये हैं। उनकी स्मृति आते ही हृदय से एक आह निकल पड़ती है।

पं० गोविन्दवल्लभ पन्त की पहली कहानी 'मिलन-मुहूर्त' १९१९ ई० में 'प्रतिभा' में निकली थी। 'जूठा आम' और 'मिलन-मुहूर्त' को मैं हिन्दी की उच्च कोटि की कहानियों में समझता हूँ। पन्तजी की कहानियों में भावुकता भरी रहती है। 'तैमूरलङ्ग' और 'सब से बड़ा रत्न' भी आपकी अच्छी कहानियों में हैं।

१९२० में 'सुदर्शन'-जी की पहली कहानी छपी। इसके पहले आप उर्दू में लिखा करते थे। सुदर्शनजी हिन्दी के विख्यात कहानी-लेखक हैं। अपनी कहानियों में 'अमेरिकन रमणी' और 'कवि की स्त्री' आपको पसन्द है। अतएव इस संग्रह में मैं उन्हीं दोनों कहानियों को दे रहा हूं। चरित्र-चित्रण करने में प्रेमचन्दजी और 'सुदर्शन'-जी को कमाल हासिल है। वर्तमान हिन्दी-कहानी-लेखकों में 'सुदर्शन'-जी का प्रशंसनीय स्थान है।

'उग्र'-जी का रचना-काल १९२२ ई० है। आपकी पहली कहानी 'आज' में प्रकाशित हुई थी। इधर सात वर्षों के भीतर ही आपने सौ से अधिक कहानियाँ लिखी हैं। उनकी कहानियाँ भिन्न-भिन्न शैलियों का उदाहरण हैं। 'कला का पुरस्कार', 'मोको', 'दूसरी की साध', 'प्यारे', 'पगडुआ', 'कुमुदनी', 'खुदाराम' और हाल ही में लिखी गई कहानी 'उसकी माँ'-आदि हिन्दी-साहित्य की उत्कृष्ट कहानियाँ हैं। 'उग्र'-जी ऐसे प्रतिभाशाली हैं, कि वह जो-कुछ चाहें लिख सकते हैं; कहानी, कविता, उपन्यास, नाटक, प्रहसन सभी-कुछ। वह अपनी कला के आचार्य हैं। जो लोग उन्हें प्रतिभाशाली मानने में संकोच करते हों, उन्हें चाहिये, कि

इस संग्रह में दी गई उनकी तीन श्रेष्ठ कहानियाँ 'बुढ़ापा', 'देश-भक्त' और 'चाँदनी' का मनन करें।

अध्ययनशील पाठकों के लिये मैं वर्तमान हिन्दी-कहानी-लेखकों को तीन भिन्न-भिन्न स्कूलों में विभाजित करूँ, तो अनुचित न होगा। कारण, यहाँ पर किसी लेखक की किसी अन्य लेखक से तुलना करना मेरा उद्देश नहीं है। प्रत्येक लेखक अपने स्थान पर महान् है।

इन तीन स्कूलों को इस तरह बाँट सकते हैं।

(१) प्रसाद (२) प्रेमचन्द (३) उग्र

'प्रसाद'-जी जीवन की एक घटना के चित्र को पूर्ण रूप से अङ्कित कर देंगे। किन्तु जहाँ वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समाप्त हो जायगा, वहीं छोड़ देंगे। फिर, आगे क्या हुआ, इसे पाठकों के सुलझाने के लिये छोड़ देना ही उनकी कला है। मनुष्य-जीवन में सुख, दुख, हँसी, कहाँ छिपी हुई हैं—इनके वे पूर्ण ज्ञाता हैं। भाषा के ओज और वर्णन की शैली की विशेषता देखिये—

शीरीं ने सहसा अपना अवगुण्ठन उलट दिया। प्रकृति प्रसन्न हो, हँस पड़ी। गुलाबों के दल में शीरीं का मुख राजा के समान सुशोभित था। मकरन्द मुँह में भरे दो नील भ्रमर उस गुलाब से उड़ने में असमर्थ थे, भौरों के पर निस्पन्द थे। कँटीली झाड़ियों की कुछ परवाह न करते हुए, बुलबुलों का उसमें घुसना और उड़ भागना शीरीं तन्मय होकर देख रही थी।

उसकी सखी ज़ुलेखा के आने से उसकी एकान्त भावना भङ्ग

हो गई। अपना अवगुण्ठन उलटते हुए अलेखा ने कहा—"शीरीं ! वह तुम्हारे हाथों पर बैठ जानेवाला बुलबुल आजकल नहीं दिखलाई देता।"

आह खींचकर शीरीं ने कहा—"कड़े शीत में अपने दल के साथ मैदान की ओर निकल गया। वसन्त तो आ गया, पर वह नहीं लौट आया।"

ऊपर के वार्तालाप में कितना मस्ताना ढङ्ग है। एक साधारण-सी बात पूछने के लिये 'प्रसाद'-जी कितनी निपुणता, और चुहल से उसे आकर्षक बनाते हैं। 'प्रसाद'-जी की प्रत्येक कहानी में कुछ विशेषता है। मानसिक विश्लेषण के सूक्ष्म सत्यों की अभिव्यक्ति करना कथा-साहित्य की एक प्रमुख कला है। यह रस का अलौकिक तत्व ग्रहण कर के चिरस्थाई होता है। 'प्रसाद'-जी इस कला के आचार्य हैं।

(२) प्रेमचन्द

समाज की स्थूल घटनाओं के आधार पर व्यङ्ग (Satiro) के रूप में जो कहानियाँ लिखी जाती हैं, उपादेयता उनका प्रधान गुण है; जो प्रायः सामाजिक हुआ करता है।

प्रेमचन्दजी समाज की एक साधारण घटना को लेकर बड़ी सफलता से उसका चित्रण करते हैं। इसलिये सर्व-साधारण के लिये ऐसी कहानियाँ रुचिकर होती हैं।

प्रेमचन्द-स्कूल के लेखक, पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', पं० ज्वालादत्त शर्मा, और श्री 'सुदर्शन'-जी हैं। मेरा यहाँ यह

तात्पर्य नहीं है, कि प्रेमचन्दजी की शैली का 'कौशिक'-जी, शर्माजी, और सुदर्शन'-जी अनुकरण करते हैं। क्योंकि आरम्भ में ही हम लिख चुके हैं, कि 'कौशिक' जी और शर्माजी का रचना-काल प्रेम-चन्द जी के पूर्व का है। किन्तु कहानियों के सम्बन्ध में इन लेखकों का दृष्टि-कोण प्रायः एक ही है, और इन चारों लेखकों की शैली में बहुत कम अन्तर है। पर इनमें प्रेमचन्दजी अधिक प्रसिद्ध हैं, अतएव उन्हीं का स्कूल माना जायगा।

(३) 'उग्र'

तीसरा स्कूल 'उग्र'-जी का है। किन्तु इस स्कूल के नायक अकेले 'उग्र'-जी ही हैं। भाषा, शैली, कल्पना, आकर्षण—सब कुछ उनका अनोखा है। राजनैतिक-मौलिक कहानियाँ तो उनके सिवाय, हिन्दी-साहित्य में किसी ने लिखी ही नहीं हैं। 'चिनगा-रियाँ' इसका उज्वल उदाहरण है। एक-एक कहानी पढ़कर तबि-यत फड़क उठती है। लिखने का ढङ्ग उनका बड़ा मनोमोहक होता है। 'दोज़ख़ की आग' में देखिये, कितना सुन्दर वर्णन् है—

"मेरी एक बीबी थी। गुलाब की तरह ख़ूबसूरत, मोती की तरह आबदार, 'कोहेनूर' की तरह बेशक़ीमत, नेकी की तरह नेक, चाँद की तरह सादी, लड़कपन की हँसी की तरह भोली और जान की तरह प्यारी।

"मेरे एक बच्चा था। चाँदनी-सा गोरा, नये चाँद-सा प्यारा, युवती के कपोल-सा कोमल, प्रेम-सा सुन्दर, चुम्बन-सा मधुर, आशा-सा आकर्षक और प्रसन्न हँसी-सा सुखद।

"मेरी एक माँ थी। मसजिद की तरह बूढ़ी, आम की तरह पकी, बया की तरह उदार, दुआ की तरह मददगार, प्रकृति की तरह कल्याणमयी, खुदा की प्यारी और कुरान-पाक की तरह पाक।

"मेरी एक दर्ज़ी की दुकान थी। वही मेरी ग़रीबी के बुढ़ापे की लाकड़ी थी, वही मेरे चार आदमियों के परिवार के होटल की मालिकिन थी, वही मेरी रोज़ी थी, वही मेरी रोटी थी, वही मेरे उजड़े घर की फूस की टट्टी थी, वही मेरी झोपड़ी का चिराग़ थी। बीबी की हँसी, बच्चे की ख़ुशी, माँ की दुआ, ख़ुदा की याद, सब कुछ वही थी। वही मेरी दुनियाँ थी।"

मिस्टर हडसन का कहना है, कि कला की दृष्टि से आदर्श सिद्धान्तों लेकर भी हम Realism का निर्वाह कर सकते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि उपन्यास और कहानियों में उपदेश की प्रथा अस्वाभाविक प्रतीत होती है; किन्तु यह मानना पड़ेगा, कि संसार के प्रसिद्ध उपन्यास-लेखक अधिकतर आदर्शवादी थे। उदाहरण के लिये हिन्दी में एक कहानी का नाम हम ले सकते हैं; जिसमें पूर्ण Realism होते हुए, भी आदर्श की रक्षा की गये थी है। यह कहानी है, 'उसने कहा था।' स्वाभाविक चित्रण होते हुए भी कहीं से आदर्श भ्रष्ट नहीं होने पाया है।

घटनाओं का तारतम्य देने के लिये जब लेखक, 'क्यों' और 'कैसे' का प्रयोग करने लगता है, तब परिणाम में वह आदर्शवादी हो जाता है। Realism में भी लेखक का कथा-भाग 'क्यों' द्वारा बनता है; वह क्यों? इसलिये कि वह वस्तु-स्थिति से ग्रहण किया

जाता है; उस पर लेखक के आदर्श की 'पॉलिश' नहीं रहती।

हिन्दी में अभी वह युग नहीं आया है। इसका प्रादुर्भाव 'उग्र'-जी की रचनाओं-द्वारा होता है। 'उग्र'-रचनाओं ने हिन्दी में क्रान्ति उपस्थित कर दी है।

'मधुकरी' में जिन महान् लेखकों की कृतियाँ दी गई हैं, उनके अतिरिक्त अभी और भी लेखक हैं। इसमें श्री० जी० पी० श्रीवास्तव, हास्य-रस के लिये प्रसिद्ध हैं। इस संग्रह में इनकी कहानियाँ देने की मेरी बड़ी इच्छा थी; किन्तु इनके प्रकाशक के कारण मैं ऐसा न कर सका।*

श्रीरघुपतिसहायजी का 'सफल जीवन' खोजने में मुझे विलम्ब हुआ। और इसी बीच 'मधुकरी' के फ़र्मे छप चुके थे। अतएव क्रम लगाने में अड़चन होती। यही हाल श्री शिवपूजनसहायजी के लिये भी हुआ। उनकी कहानियाँ तो फ़ाइल में थीं, किन्तु रचना-काल और जन्म-काल उनके संकोची स्वभाव के कारण विलम्ब से मालूम हुआ। और तब तक रचना-काल के क्रम से फ़र्मे आगे बढ़ गये थे। 'मधुकरी' के दूसरे संस्करण में आपकी कहानियाँ दी जायँगी। †

---

* 'मधुकरी' के दूसरे भाग में श्रीयुक्त जी० पी० श्रीवास्तव की 'लबानी के दिन'-नामक रचना संगृहीत की गई है।

—प्रकाशक।

† श्रीयुक्त शिवपूजनसहायजी की 'कहानी का प्लॉट'-नामक रचना 'मधुकरी' के दूसरे भाग में सङ्कलित है। —प्रकाशक.

'सरस्वती'-सम्पादक श्रीपदुमलाल-पुन्नालाल बख़्शी की तीन कहानियाँ मैंने चुनी थीं—'झलमला', 'नन्दिनी' और 'गूँगी'। इन कहानियों में बख़्शीजी बड़े सफल हुए हैं। किन्तु संग्रह में देने के लिये, अधिकार के सम्बन्ध में कई बार मैंने उनसे पत्र-व्यवहार किया; पर, स्पष्ट उत्तर न मिलने के कारण, ये कहानियाँ नहीं दी जा सकीं।

यत्र-तत्र कभी-कभी और भी अनेक तेजस्वी नक्षत्र हमारी आँखों के आगे चमक जाते हैं। उनमें प्रभा होती है, आकर्षण होता है। उन्हें पढ़ने से ऐसा मालूम पड़ता है, कि वे अपनी लेखिनी से अपने हृदय का रस बराबर निचोड़ते रहेंगे, तो आगे चलकर उनका नाम अच्छे-अच्छों के साथ लिया जा सकेगा।

—सम्पादक

कैसा कोलाहल, कैसा कोलाहल ! कैसी दाँता-किटकिट, कैसी तू-तू, मैं-मैं, कैसी मार-मार, काट-काट, और इस हाय-हाय-हाट के कोने पर तुम्हारी कैसी मनोमोहिनी, अपने-आप में मस्त मुस्कराहट !

तुम लोगों की ओर नहीं देखते; केवल अपनी कहानी गाते जाते हो। लोग झख मारकर तुम्हारा गीत सुनने लगते हैं-पुलकते हुए, छलकते हुये;—और अन्त में—आह रे, बाज़ार के भावुक ! —वे तुम्हारे हृदय के टुकड़ों को द्वेष के, हिंसा के, स्वार्थ के, स्पर्द्धा के, फिटकार और घृणा के तराज़ू पर रखकर तौलने लगते हैं। अन्तः-स्पर्शी गानों का मोल उनकी कर्ण-कटु, खड़-खड़ गालियाँ चुकाती हैं !

और तिस पर भी; हे तपस्वी ! तुम मुस्कराते जाते हो, गाते जाते हो, बाज़ारुओं की फिटकारों पर रस की धार बरसाते जाते हो।

इसीलिये तो—तुम्हीं से पायी हुई इस भीख 'मधुकरी' को पैसेवालों, अमीरों, राजों-महाराजों को नज़र करने में मुझे संकोच होता है। भय लगता है, कि कहीं उनकी चमचम-दमदम भावुकता तुम्हारी इस स्वर्गीयता को अपवित्र न कर दे !

अतः लो—हे अमर ! अपना तेज तुम्हीं सम्भालो। 'मधुकरी' को अपनी अश्रु-गङ्गा में डुबोकर कृतार्थ करो।

प्रकाशक के शब्द

'मधुकरी' प्रथम भाग का प्रथम संस्करण 'सुलभ-ग्रन्थ प्रचारक मण्डल', कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। पाठकों ने इस संग्रह को एक-स्वर से हिन्दी-साहित्य का एक-मात्र सर्वश्रेष्ठ संग्रह स्वीकार किया था। यही कारण था, कि छपने के कुछ ही समय पश्चात् इस पुस्तक का संस्करण हाथों-हाथ बिक गया।

सौभाग्यवश इस संग्रह के दूसरे भाग का प्रकाशन सम्पादक महाशय ने हमें सौंपा। प्रथम भाग का संस्करण हमारे पाठकों के क्षेत्र में न पहुँच सकने के कारण, जो लोग दूसरा भाग ख़रीदते, वे पहले की माँग भी करते थे। उधर 'सुलभ-ग्रन्थ-प्रचारक-मण्डल' किन्हीं कारणों से प्रायः बन्द होगया, इसलिये प्रथम भाग का द्वितीय संस्करण प्रकाशित करने की आवश्यकता का हमने अनुभव किया।

पहला संस्करण अपने-आप में इतना सुन्दर, सुसम्पादित और सम्पूर्ण था, कि दूसरे संस्करण में कुछ भी परिवर्तन-परिवर्द्धन करना उचित न था। यों पिछले कुछ ही समय में हमारे सामने ऐसे अनेक कहानी-लेखकों का अवतरण हुआ है, जिनका स्थान हमारे कितने ही पुराने लेखकों से बढ़ा-चढ़ा है; परन्तु उन सब की कहानियाँ इस पुस्तक के दूसरे भाग में संगृहीत हैं; इसलिये यहाँ उनका उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं।

विनीत—

ऋषभचरण जैन

साहित्य--मंडल--माला

के

स्थायी ग्राहक बनने के नियम

++++

१--स्थायी ग्राहक बनने की प्रवेश-फ़ीस १) है, जो वापस नहीं की जाती।

२--स्थायी ग्राहकों को मण्डल से प्रकाशित प्रत्येक पुस्तक (कोर्स की पुस्तकों को छोड़कर) दो-तिहाई मूल्य में दी जाती है।

३--स्थायी ग्राहकों को मण्डल से प्रकाशित होनेवाली कम-से-कम आधी पुस्तकें जरूर लेनी पड़ती हैं।

४--नई पुस्तकें भेजने के १५ दिन पूर्व ग्राहकों को सूचना दी जाती है। कोई उत्तर न मिलने पर पुस्तकें कमीशन काटकर वी० पी० द्वारा भेज दी जाती हैं।

५--स्थायी ग्राहकों को हमारी एजेन्सियों या हमारे ट्रैवलिंग-एजेण्टों से दो-तिहाई मूल्य में पुस्तकें पाने का अधिकार नहीं है; क्योंकि कमीशन की सुविधा केवल पोस्टेज-खर्च बढ़ जाने के कारण ही दी गई है।

श्री जयशंकर 'प्रसाद'

जन्मकाल	रचनाकाल
१९४६ वि०	१९११ ई०

आकाश-दीप

१

"बन्दी!"

"क्या है? सोने दो।"

"मुक्त होना चाहते हो?"

"अभी नहीं—निद्रा खुलने पर; चुप रहो।"

"फिर अवसर न मिलेगा।"

"बड़ा शीत है, कहीं से एक कम्बल डालकर शीत से मुक्त करता।"

"आँधी आने की सम्भावना है। यही अवसर है। आज मेरे बन्धन शिथिल हैं।"

"तो क्या तुम भी बन्दी हो?"

"हाँ; धीरे बोलो, इस नाव पर केवल दस नाविक और प्रहरी हैं।"

२

"शस्त्र मिलेगा ?"

"मिल जायगा। पोत से सम्बद्ध रज्जु काट सकोगे ?"

"हाँ।"

समुद्र में हिलोरें उठने लगीं। दोनों बन्दी आपस में टकराने लगे। पहले बन्दी ने अपने-को स्वतन्त्र कर लिया, और दूसरे का बन्धन खोलने का प्रयत्न करने लगा। लहरों के धक्के एक-दूसरे को स्पर्श से पुलकित कर रहे थे। मुक्ति की आशा—स्नेह का असम्भावित आलिंगन। दोनों ही अन्धकार में मुक्त होगये। दूसरे बन्दी ने हर्षातिरेक से दूसरे को गले से लगा लिया। सहसा उस बन्दी ने कहा—"यह क्या ? तुम स्त्री हो ?"

"क्या स्त्री होना कोई पाप है ?" अपने को अलग करते हुए स्त्री ने कहा।

"शस्त्र कहाँ है ? तुम्हारा नाम ?"

"चम्पा।"

तारक-खचित नील अम्बर और नील समुद्र के अवकाश में पवन ऊधम मचा रहा था। अन्धकार से मिलकर पवन दुष्ट होरहा था। समुद्र में आन्दोलन था। नौका लहरों में विकल थी। स्त्री सतर्कता से लुढ़कने लगी। एक मतवाले नाविक के शरीर से टकराती हुई सावधानी से उसका कृपाण निकालकर फिर लुढ़कते हुए बन्दी के समीप पहुँच गई। सहसा पोत के प्रदर्शक ने कहा—"आँधी !"

घंटा बजने लगा। सब सावधान होने लगे। बन्दी युवक उसी तरह पड़ा रहा। किसी ने रस्सी पकड़ी, कोई पाल खोल रहा था। पर बन्दी ढुलककर उस रज्जु के पास पहुँचा, जो पोत से संलग्न थी।

ढँक गये। तरंगें उद्वेलित हुईं, समुद्र गरजने लगा। भीषण आँधी पिशाचिनी के समान नाव को अपने हाथों में लेकर कन्दुक-क्रीड़ा और अट्टहास करने लगी।

एक झटके के साथ ही नाव स्वतन्त्र थी। उस संकट में भी दोनों बन्दी खिलखिलाकर हँस पड़े। आँधी के हाहाकार में उसे कोई न सुन सका।

२

अनन्त जलनिधि में उषा का मधुर आलोक फूट उठा। सुनहली किरणों और लहरों की कोमल सृष्टि मुस्काने लगी। सागर शान्त था। नाविकों ने देखा, पोत का पता नहीं। बन्दी मुक्त है। नायक ने कहा—"बुद्धगुप्त! तुमको मुक्त किसने किया?"

कृपाण दिखाकर बुद्धगुप्त ने कहा—"इसने।"

नायक ने कहा—"तो तुम्हें फिर बन्दी बनाऊँगा।"

"किसके लिये? पोताध्यक्ष मणिभद्र अतल जल में होगा। नायक! अब इस नौका का स्वामी मैं हूँ।"

"तुम! जलदस्यु बुद्धगुप्त! कदापि नहीं।" चौंककर नायक ने कहा, और अपना कृपाण टटोलने लगा। चम्पा ने इसके पहले उस पर अधिकार कर लिया था। वह क्रोध से उछल पड़ा।

"तो तुम द्वन्द्व-युद्ध के लिये प्रस्तुत हो जाओ। जो विजयी होगा, वही स्वामी होगा।" इतना कह, बुद्धगुप्त ने कृपाण देने का संकेत किया। चम्पा ने कृपाण नायक के हाथ में दे दिया।

भीषण घात-प्रतिघात आरम्भ हुआ। दोनों कुशल, दोनों त्वरित

गतिवाले थे। बड़ी निपुणता से बुद्धगुप्त ने अपना कृपाण दाँतों से पकड़-कर अपने दोनों हाथ स्वतन्त्र कर लिये। चम्पा भय और विस्मय से देखने लगी। नाविक प्रसन्न होगये। परन्तु बुद्धगुप्त ने लाघव से नायक का कृपाणवाला हाथ पकड़ लिया, और विकट हुंकार से दूसरा हाथ कटि में डाल, उसे गिरा दिया। दूसरे ही क्षण प्रभात की किरणों में बुद्धगुप्त का विजयी कृपाण उसके हाथों में चमक उठा। नायक की कायर आँखें प्राण-भिक्षा माँगने लगीं। बुद्धगुप्त ने कहा—"बोलो, अब स्वीकार है कि नहीं?"

"मैं अनुचर हूँ, वरुणदेव की शपथ, मैं विश्वासघात न करूँगा।"

बुद्धगुप्त ने उसे छोड़ दिया। चम्पा ने युवक जलदस्यु के समीप आकर उसके क्षतों को अपनी स्निग्ध दृष्टि और कोमल करों से वेदना-विहीन कर दिया। बुद्धगुप्त के सुगठित शरीर पर रक्तबिन्दु विजय-तिलक कर रहे थे।

विश्राम लेकर बुद्धगुप्त ने पूछा—"हम लोग कहाँ होंगे?"

"बाली द्वीप से बहुत दूर; सम्भवतः एक नवीन द्वीप के पास, जिसमें अभी हम लोगों का बहुत कम आना-जाना होता है। सिंहल के वणिकों का वहाँ प्राधान्य है।"

"कितने दिनों में हम लोग वहाँ पहुँचेंगे?"

"अनुकूल पवन मिलने पर दो दिन में। तब तक के लिये खाद्य का अभाव न होगा।" सहसा नायक ने नाविकों को डाँड लगाने की आज्ञा दी, और स्वयं पतवार पकड़कर बैठ गया। बुद्धगुप्त के पूछने पर उसने कहा—"यहाँ एक जलमग्न शैलखण्ड है। सावधान न रहने से नाव टकराने का भय है।"

२

"तुम्हें इन लोगों ने बन्दी क्यों बनाया ?"

"वणिक मणिभद्र की पापवासना ने।"

"तुम्हारा घर कहाँ है ?"

"जाह्नवी के तट पर चम्पा नगरी की एक क्षत्रिय-बालिका हूँ। पिता-जी इसी मणिभद्र के यहाँ प्रहरी का काम करते थे। माता का देहावसान होजाने पर मैं भी पिताजी के साथ नाव पर ही रहने लगी। आठ बरस से समुद्र ही मेरा घर है। तुम्हारे आक्रमण के समय मेरे पिताजी ने ही सात दस्युओं को मारकर जल-समाधि ली। एक मास हुआ मैं इस नील नभ के नीचे नील जलनिधि के ऊपर एक भयानक अनन्तता में निस्सहाय हूँ, अनाथ हूँ। मणिभद्र ने मुझसे एक दिन घृणित प्रस्ताव किया। मैंने उसे गालियाँ सुनाईं। उसी दिन से बन्दी बना दी गई।" चम्पा रोष से जल रही थी।

"मैं भी ताम्रलिप्ति का एक क्षत्रिय हूँ, चम्पा ! परन्तु दुर्भाग्य से जल-दस्यु बनकर जीवन बिताता हूँ। अब तुम क्या करोगी ?"

"मैं अपने अदृष्ट को अनिर्दिष्ट ही रहने दूँगी। वह जहाँ ले जाय।" चम्पा की आँखें निस्सीम प्रदेश में निरुद्देश्य थीं। उनमें किसी आकांक्षा के लाल डोरे न थे। धवल अपाङ्ग में बालकों के सदृश विश्वास था। हत्या-व्यवसायी दस्यु भी उसे देखकर काँप गया। उसके मन में एक सम्भ्रमपूर्ण श्रद्धा यौवन की पहली लहरों को जगाने लगी। समुद्र-वक्ष पर विलम्बमयी राग-रञ्जित सन्ध्या थिरकने लगी। चम्पा के असंयत कुन्तल उसकी पीठ पर बिखर रहे थे। दुर्दान्त दस्यु ने देखा, अपनी

महिमा में अलौकिक एक तरुण बालिका। वह विस्मय से अपने हृदय को टटोलने लगा। उसे एक नई वस्तु का पता चला।

वह थी कोमलता।

उसी समय नायक ने कहा—"हम लोग द्वीप के पास पहुँच गये।"

वेला से नाव टकराई। चम्पा निर्भीकता से कूद पड़ी। माँझी भी उतरे। बुधगुप्त ने कहा, "जब इसका कोई नाम नहीं है, तो हम लोग इसे चम्पा द्वीप कहेंगे।" चम्पा हँस पड़ी।

४

पाँच वर्ष बाद:—

शरद् के धवल नक्षत्र नील गगन में झलमला रहे थे। चन्द्र के उज्ज्वल विजय पर अन्तरिक्ष में शरद् लक्ष्मी ने आशीर्वाद के फूलों और खीलों को बिखेर दिया।

चम्पा के एक उच्च सौध पर बैठी हुई तरुणी चम्पा दीपक जला रही थी। बड़े यत्न से अभ्रक की मञ्जूषा में दीप धरकर उसने अपनी सुकुमार उँगलियों से डोरी खींची। वह दीपाधार ऊपर चढ़ने लगा। भोली-भोली आँखें उसे ऊपर चढ़ते बड़े हर्ष से देख रही थीं। डोरी धीरे-धीरे खींची गई। चम्पा की कामना थी कि उसका आकाश-दीप नक्षत्रों से हिल-मिल जाय; किन्तु वैसा होना असम्भव था। उसने आशा-भरी आँखें फिरा लीं।

सामने जलराशि का रजत शृंगार था। वरुण-बालिकाओं के लि लहरों से हीरे और नीलम की क्रीड़ा-शैलमालायें बन रही थीं। वे मायाविनी छलनायें अपनी हँसी का कलनाद छोड़कर छिप जाती

दूर-दूर से धीवरों की वंशी की झनकार उनके सङ्गीत-सा मुखरित होता था। चम्पा ने देखा कि तरङ्ग-सङ्कुल जलराशि में उसके कण्डील का प्रतिबिम्ब अस्तव्यस्त था। वह अपनी पूर्णता के लिये सैकड़ों चक्कर काटता था। वह अनमनी होकर उठ खड़ी हुई। किसी को पास न देखकर पुकारा, "जया!"

एक श्यामा युवती सामने आकर खड़ी हुई। वह जंगली थी। नील नभोमण्डल से मुख में शुभ्र नक्षत्रों की पंक्ति के समान उसके दाँत हँसते ही रहते। वह चम्पा को रानी कहती। बुद्धगुप्त की आज्ञा थी।

"महानाविक कब तक आवेंगे, बाहर पूछो तो।" चम्पा ने कहा। जया चली गई। दूरागत पवन चम्पा के अञ्चल में विश्राम लेना चाहता था। उसके हृदय में गुदगुदी हो रही थी। आज न-जाने-क्यों वह बेसुध थी। एक दीर्घकाय दृढ़ पुरुष ने उसकी पीठ पर हाथ रखकर उसे चमत्कृत कर दिया। उसने फिरकर कहा, "बुद्धगुप्त"। "बावली हो क्या? यहाँ बैठी अभी तक दीप जला रही हो। तुम्हें यह काम करना है?"

"क्षीरनिधिशायी अनन्त की प्रसन्नता के लिये क्या दासियों से आकाश-दीप जलवाऊँ?"

"हँसी आती है। तुम किस को दीप जलाकर पथ दिखलाना चाहती हो? उसको, जिसको तुमने भगवान् मान लिया है?"

"हाँ; वह भी कभी भटकते हैं, भूलते हैं; नहीं तो बुद्धगुप्त को इतना ऐश्वर्य क्यों देते?"

"तो बुरा क्या हुआ, इस द्वीप की अधीश्वरी चम्पा रानी!"

"मुझे इस बन्दीगृह से मुक्त करो। अब तो बाली, जावा और

सुमात्रा का वाणिज्य केवल तुम्हारे ही अधिकार में है महानाविक! परन्तु मुझे उन दिनों की स्मृति सुहावनी लगती है, जब तुम्हारे पास एक ही नाव थी और चम्पा के उपकूल में पण्य लादकर हम लोग सुखी जीवन बिताते थे। इस जल में अगणित बार हम लोगों की तरी आलोकमय प्रभात में—तारिकाओं की मधुर ज्योति में—थिरकती थी। बुध-गुप्त! उस विजन अनन्त में जब माँझी सो जाते थे, दीपक बुझ जाते थे, हम-तुम परिश्रम से थककर पालों में शरीर लपेटकर एक-दूसरे का मुँह क्यों देखते थे। वह नक्षत्रों की मधुर छाया"—

"तो चम्पा! अब उससे भी अच्छे ढङ्ग से हम लोग विचर सकते हैं। तुम मेरी प्राणदात्री हो, मेरी सर्वस्व हो।"

"नहीं, नहीं, तुमने दस्यु-वृत्ति तो छोड़ दी, परन्तु हृदय वैसा ही अकरुण, सतृष्ण और ज्वलनशील है। तुम भगवान् के नाम पर हँसी उड़ाते हो। मेरे आकाश-दीप पर व्यङ्ग कर रहे हो। नाविक! उस प्रचण्ड आँधी में प्रकाश की एक-एक किरणों के लिये हम लोग कितने व्याकुल थे। मुझे स्मरण है, जब मैं छोटी थी, मेरे पिता नौकरी पर समुद्र में जाते थे—मेरी माता, मिट्टी का दीपक बाँस की पिटारी में जलाकर भागीरथी के तट पर बाँस के साथ ऊँचे टाँग देती थी। उस समय वह प्रार्थना करती, 'भगवान्! मेरे पथभ्रष्ट नाविक को अन्धकार में ठीक पथ पर ले चलना। और जब मेरे पिता बरसों पर लौटते तो कहते—साध्वी! तेरी प्रार्थना से भगवान् ने भयानक सङ्कटों में मेरी रक्षा की है। वह गद्गद हो जाती। मेरी माँ! आह नाविक!! यह उसकी पुण्य-स्मृति है। मेरे पिता, वीर पिता की मृत्यु के निष्ठुर कारण जलदस्यु! हट,

आओ।" सहसा चम्पा का मुख क्रोध से भीषण होकर रङ्ग बदलने लगा। महानाविक ने कभी यह रूप न देखा था। वह ठठाकर हँस पड़ा। "यह क्या? चम्पा तुम अस्वस्थ हो जाओगी, सो रहो।" कहता हुआ चला गया। चम्पा मुट्ठी बाँधे उन्मादिनी-सी घूमती रही।

५

निर्जन समुद्र के उपकूल में वेला से टकराकर लहरें बिखर जाती हैं। पश्चिम का पथिक थक गया था। उसका मुख पीला पड़ गया। अपनी शान्त गम्भीर हलचल में जल-निधि विचार में निमग्न था। वह जैसे प्रकाश की उन मलिन किरणों से विरक्त था।

चम्पा और जया धीरे-धीरे उस तट पर आकर खड़ी हो गईं। तरङ्ग से उठते हुए पवन ने उनके वसन को अस्त-व्यस्त कर दिया। जया के संकेत से एक छोटी-सी नौका आई। दोनों के उस पर बैठते ही नाविक उतर गया। जया नाव खेने लगी। चम्पा मुग्ध-सी समुद्र के उदास वातावरण में अपने को मिश्रित कर देना चाहती थी। "इतना जल! इतनी शीतलता!! हृदय की प्यास न बुझी। पी सकूँगी? नहीं। तो जैसे वेला से चोट खाकर सिन्धु चिल्ला उठता है, उसी समान रोदन करूँ या जलते हुए उस स्वर्ण-गोलक के सदृश अनन्त जल में डूबकर बुझ जाऊँ।" चम्पा के देखते-देखते पीड़ा और ज्वलन से आरक्त बिम्ब धीरे-धीरे सिन्धु में चौथाई—आधा फिर सम्पूर्ण विलीन हो गया। एक दीर्घ निःश्वास लेकर चम्पा ने मुँह फिरा लिया। देखा तो महानाविक का बजरा उसके पास है। बुधगुप्त ने झुककर हाथ बढ़ाया। चम्पा उसके सहारे बजरे पर चढ़ गई। दोनों पास-पास बैठ गये।

"इतनी छोटी नाव पर इधर घूमना ठीक नहीं। पास ही वह जल-मग्न शैलखण्ड है। कहीं नाव टकरा जाती या ऊपर चढ़ जाती, चम्पा, तो ?"

"अच्छा होता बुद्धगुप्त ! जल में बन्दी होना कठोर प्राचीरों से तो अच्छा है।"

"आह चम्पा, तुम कितनी निर्दय हो। बुद्धगुप्त को आज्ञा देकर देखो तो, वह क्या नहीं कर सकता। जो तुम्हारे लिये नये द्वीप की सृष्टि कर सकता है, नयी प्रजा खोज सकता है, नये राज्य बना सकता है, उसकी परीक्षा लेकर देखो तो······कहो चम्पा, वह कृपाण से अपना हृदयपिण्ड निकाल, अपने हाथों अतल जल में विसर्जन कर दे।" महानाविक—जिसके नाम से बाली, जावा और चम्पा का आकाश गूँजता था, पवन थर्राता था—घुटनों के बल चम्पा के सामने छलछलाई आँखों से बैठा था।

सामने शैलमाला की चोटी पर, हरियाली में, विस्तृत जल-प्रदेश में नील पिङ्गल संध्या। प्रकृति की एक सहृदय कल्पना, विश्राम की शीतल छाया, स्वप्न-लोक का सृजन करने लगी। उस मोहिनी के रहस्य-पूर्ण नील जाल का कुहक स्फुट हो उठा। जैसे मदिरा से सारा अन्तरिक्ष सिक्त हो गया। सृष्टि नील कमलों से भर उठी। उस सौरभ से पागल चम्पा ने बुद्धगुप्त के दोनों हाथ पकड़ लिये। वहाँ एक आलिङ्गन हुआ, जैसे क्षितिज में आकाश और सिन्धुवीचि का। किन्तु उस परिरम्भ में सहसा चैतन्य होकर चम्पा ने अपनी कञ्चुकी से एक कृपाण निकाल लिया।

"बुद्धगुप्त ! आज मैं अपना प्रतिशोध का कृपाण अतल जल में डुबा

देती हूँ। हृदय ने छल किया—बार-बार धोखा दिया।" चमककर वह कृपाण समुद्र का हृदय बेधता हुआ विलीन हो गया। "तो आज से मैं विश्वास करूँ, मैं क्षमा कर दिया गया?" आश्चर्य-कम्पित कण्ठ से महानाविक ने पूछा।

"विश्वास! कदापि नहीं, बुद्धगुप्त! जब मैं अपने हृदय पर विश्वास नहीं कर सकी,—उसी ने धोखा दिया, तब मैं कैसे कहूँ? मैं तुम्हें घृणा करती हूँ, फिर भी तुम्हारे लिये मर सकती हूँ। अन्धेर है जलदस्यु! तुम्हें प्यार करती हूँ।" चम्पा रो पड़ी।

वह स्वप्नों की रंगीन सन्ध्या तम से अपनी आँखें बन्द करने लगी थी। दीर्घ निःश्वास लेकर महानाविक ने कहा, "इस जीवन की पुण्य-तम घड़ी की स्मृति में एक प्रकाश-गृह बनाऊँगा चम्पा! यहीं उस पहाड़ी पर सम्भव है कि मेरी जीवन की धुँधली सन्ध्या उससे आलोक-पूर्ण हो जाय।"

६

चम्पा के दूसरे भाग में एक मनोरम शैल-माला थी—बहुत दूर तक सिन्धु-जल में निमग्न थी। सागर का चञ्चल जल उस पर उछलता हुआ उसे छिपाये था। आज भी शैल-माला पर चम्पा के आदि-निवासियों का समारोह था। उन सभों ने चम्पा को वनदेवी-सा सजाया था। ताम्रलिप्ति के बहुत-से सैनिक और नाविकों की श्रेणी में वन-कुसुम-विभूषिता चम्पा शिविकारूढ़ होकर जा रही थी।

शैल के एक ऊँचे शिखर पर चम्पा के नाविकों को सावधान करने के लिये सुदृढ़ दीप-स्तम्भ बनवाया गया था। आज उसका महो-

त्सव है। बुद्धगुप्त स्तम्भ के द्वार पर खड़ा था। शिविका से सहायता देकर चम्पा को उसने उतारा। दोनों ने भीतर पदार्पण किया था कि बाँसुरी और ढोल बजने लगे। पंक्तियों में कुसुम-भूषण से सजी वन-बालायें फूल उछालती हुई नाचने लगीं।

दीप-स्तम्भ की ऊपरी खिड़की से यह देखती हुई चम्पा ने जया से पूछा—"यह क्या है जया? इतनी बालिकायें कहाँ से बटोर लाई?"

"आज रानी का ब्याह है न?" कहकर जया ने हँस दिया।

बुद्धगुप्त विस्तृत जलनिधि की ओर देख रहा था। उसे झकझोर-कर चम्पा ने पूछा, "क्या यह सच है?"

"यदि तुम्हारी इच्छा हो तो यह सच भी हो सकता है चम्पा! कितने बरसों से मैं ज्वालामुखी को अपनी छाती से दबाये हूँ।"

"चुप रहो महानाविक! क्या मुझे निस्सहाय और कंगाल जानकर तुमने आज सब प्रतिशोध लेना चाहा?"

"मैं तुम्हारे पिता का घातक नहीं हूँ चम्पा! वह एक दूसरे दस्यु के शस्त्र से मरे।"

"यदि मैं इसका विश्वास कर सकती! बुद्धगुप्त! वह दिन कितना सुन्दर होता, वह क्षण कितना स्पृहणीय! आह! तुम इस निष्ठुरता में भी कितने महान् होते।" जया नीचे चली गई थी। स्तम्भ के संकीर्ण प्रकोष्ठ में बुद्धगुप्त और चम्पा एकान्त में एक-दूसरे के सामने बैठे थे।

बुद्धगुप्त ने चम्पा के पैर पकड़ लिये। उच्छ्वसित शब्दों में वह कहने लगा, "चम्पा! हम लोग जन्मभूमि भारतवर्ष से कितनी दूर इन निरीह प्राणियों में इन्द्र और शची के समान पूजित हैं। पर न-जाने

कौन अभिशाप हम लोगों को अभीतक अलग किये है। स्मरण होता है वह दार्शनिकों का देश! वह महिमा की प्रतिमा, मुझे वह स्मृति नित्य आमन्त्रित करती है; परन्तु मैं क्यों नहीं जाता? जानती हो, इतना महत्त्व प्राप्त करने पर भी मैं कङ्गाल हूँ। मेरा पत्थर-सा हृदय एक-दिन सहसा तुम्हारे स्पर्श से चन्द्रकान्त-मणि की तरह द्रवित हुआ।"

"चम्पा! मैं ईश्वर को नहीं मानता—मैं पाप को नहीं मानता—मैं दया को नहीं समझ सकता—मैं उस लोक में विश्वास नहीं करता। पर मुझे अपने हृदय के एक दुर्बल अंश पर श्रद्धा हो चली है। तुम न-जाने कैसे एक बहकी हुई तारिका के समान मेरे शून्य में उदित हो गई हो। आलोक की एक कोमल रेखा इस निविड़ तम में मुस्कराने लगी; पर पशु-बल और धन के उपासक के मन में किसी शान्त और कान्त कामना की हँसी खिलखिलाने लगी, पर मैं न हँस सका।"

"चलोगी चम्पा! पोतवाहिनी पर असंख्य धनराशि लादकर राज-रानी-सी जन्मभूमि के अंक में? आज हमारा परिणय हो, कल-ही हम लोग भारत के लिये प्रस्थान करें। महानाविक बुद्धगुप्त की आज्ञा सिन्धु की लहरें मानती हैं। वे स्वयं उस पोतपुञ्ज को दक्षिण पवन के समान भारत में पहुँचा देंगी। आह चम्पा! चलो।"

चम्पा ने उसके हाथ पकड़ लिये। किसी आकस्मिक झटके ने एक पल-भर के लिये दोनों के अधरों को मिला दिया। सहसा चैतन्य होकर चम्पा ने कहा, "बुद्धगुप्त! मेरे लिए सब भूमि मिट्टी है; सब जल तरल है, सब पवन शीतल है। कोई विशेष आकांक्षा हृदय में अग्नि के समान प्रज्वलित नहीं। सब मिलाकर मेरे लिए एक शून्य है। प्रिय नाविक! तुम

स्वदेश लौट जाओ विभवों का सुख भोगने के लिये—और मुझे छोड़ दो इन निरीह भोले-भाले प्राणियों के दुःख की सहानुभूति और सेवा के लिए।"

"तब मैं अवश्य चला जाऊँगा चम्पा! यहाँ रहकर मैं अपने हृदय पर अधिकार रख सकूँगा, इसमें सन्देह है। आह! किन लहरों में मेरा विनाश हो जाय?" महानाविक के उच्छ्वास में विकलता थी। फिर उसने पूछा, "तुम अकेली यहाँ क्या करोगी?"

"पहले विचार था कि कभी-कभी इसी दीप-स्तम्भ पर से आलोक जलाकर अपने पिता की समाधि का इस जल में अन्वेषण करूँगी। किन्तु देखती हूँ, मुझे भी इसी में जलना होगा—जैसे आकाश-दीप!"

(७)

एक दिन स्वर्ण-रहस्य के प्रभात में चम्पा ने अपने दीप-स्तम्भ पर से देखा। सामुद्रिक नावों की एक श्रेणी चम्पा का उपकूल छोड़कर पश्चिम-उत्तर की ओर महाजल-व्याल के समान सन्तरण कर रही है। उसकी आँखों से आँसू बहने लगे।

यह कितनी ही शताब्दियों पहले की कथा है। चम्पा आजीवन उस दीप-स्तम्भ में आलोक जलाती ही रही। किन्तु उसके बाद भी बहुत दिन द्वीप-निवासी, उस माया-ममता और स्नेह-सेवा की देवी की समाधि-सदृश उसकी पूजा करते थे।

काल के कठोर हाथों ने वहाँ उसे अपनी चंचलता से गिरा दिया।

बिसाती

उद्यान की शैलमाला के नीचे एक हरा-भरा छोटा-सा गाँव है। वसन्त का सुन्दर-समीर उसे आलिङ्गन करके फूलों के सौरभ से उसके झोपड़ों को भर देता है। तलहटी के हिम-शीतल झरने उसको अपने बाहुपाश में जकड़े हुए हैं। उस रमणीय प्रदेश में एक स्निग्ध-संगीत निरन्तर चला करता है, जिसके भीतर बुलबुलों का कलनाद, कम्प और लहर उत्पन्न करता है।

दाड़िम के लाल फूलों की रँगीली छाया सन्ध्या की अरुण किरणों से चमकीली हो रही थी। शीरीं उसी के नीचे शिला-खण्ड पर बैठी हुई सामने गुलाबों की झुरमुट देख रही थी, जिसमें बहुत-से बुलबुल चहचहा रहे थे—समीरण के साथ छूल-छुलैया खेलते हुए आकाश को अपने कलरव से गुञ्जारित कर रहे थे।

शीरीं ने सहसा अपना अवगुण्ठन उलट दिया। प्रकृति प्रसन्न हो, हँस पड़ी। गुलाबों के दल में शीरीं का मुख राजा के समान सुशोभित था। मकरन्द मुँह में भरे दो नील-भ्रमर उस गुलाब से उड़ने में असमर्थ थे, भौंरों के पर निस्पन्द थे। कँटीली झाड़ियों की कुछ परवाह न करते हुए बुलबुलों का उनमें घुसना और उड़ भागना शीरीं तन्मय होकर देख रही थी।

उसकी सखी ज़ुलेखा के आने से उसकी एकान्त-भावना भंग हो गई। अपना अवगुण्ठन उलटते हुए ज़ुलेखा ने कहा—"शीरीं! वह तुम्हारे हाथों पर बैठ जानेवाला बुलबुल आजकल नहीं दिखाई देता।"

आह खींचकर शीरीं ने कहा—"कड़े शीत में अपने दल के साथ मैदान की ओर निकल गया। वसन्त तो आ गया पर वह नहीं लौट आया।"

"सुना है कि ये सब हिन्दोस्तान में बहुत दूर तक चले जाते हैं। क्या सच है शीरीं?"

"हाँ प्यारी! उन्हें स्वाधीन विचरना अच्छा लगता है। इनकी जाति बड़ी स्वतन्त्रता-प्रिय है।"

"तूने अपनी घुँघराली अलकों के पाश में उसे क्यों न बाँध लिया?"

"मेरे पाश उस पक्षी के लिए ढीले पड़ जाते थे।"

"अच्छा लौट आवेगा, चिन्ता न कर। मैं घर जाती हूँ।"

शीरीं ने सिर हिला दिया।

ज़ुलेखा चली गई।

* * * *

इनमें मूल्य ही नहीं, हृदय भी लगा है। ये दाम पर नहीं बिकते।"

सर्दार ने तीक्ष्ण स्वर में कहा—"तब मुझे न चाहिये, ले जाओ—उठाओ।"

"अच्छा उठा ले जाऊँगा। मैं थका हुआ आ रहा हूँ, थोड़ा अवसर दीजिये, मैं हाथ-मुँह धोलूँ।" कहकर युवक भरभराई आँखों को छिपाते हुए उठ गया।

सर्दार समझा, झरने की ओर गया होगा। विलम्ब हुआ, पर वह न आया। गहरी चोट और निर्मम व्यथा को वहन करते, कलेजा हाथ से पकड़े हुए, शीरीं गुलाब की झाड़ियों की ओर देखने लगी। परन्तु उसकी आँसू-भरी आँखों को कुछ न सूझता था। सर्दार ने प्रेम से उसकी पीठ पर हाथ रखकर पूछा—"क्या देख रही हो?"

"एक मेरा पालतू बुलबुल शीत में हिन्दोस्तान की ओर चला गया था। वह लौटकर आज सबेरे दिखलाई पड़ा। पर जब वह पास आ गया और मैंने उसे पकड़ना चाहा, तो वह उधर कोहकाफ़ की ओर भाग गया!" शीरीं के स्वर में कम्प था, फिर भी वे शब्द बहुत सँभलकर निकले थे। सर्दार ने हँसकर कहा—"फूलों को बुलबुल की खोज है! आश्चर्य है!"

बिसाती अपना सामान छोड़ गया, फिर लौटकर नहीं आया। शीरीं ने बोझ तो उतार लिया, पर दाम नहीं दिया।

प्रतिध्वनि

मनुष्य की चिता जल जाती है, और बुझ भी जाती है, परन्तु उसकी छाती की जलन, द्वेष की ज्वाला, संभव है, उसके बाद भी धक-धक करती हुई जला करे।

तारा जिस दिन विधवा हुई, जिस समय सब लोग रो-पीट रहे थे, उसकी ननद ने, भाई के मरने पर भी, रोदन के साथ व्यंग्य के स्वर में कहा—"अरे भैया रे, किसका पाप किसे खा गया रे!" तभी आसन्न वैधव्य ठेलकर अपने कानों को ऊँचा करके, तारा ने वह तीक्ष्ण व्यंग्य रोदन के कोलाहल में भी सुन लिया था।

तारा सम्पन्न थी; इसलिये वैधव्य उसे दूर ही से डराकर चला जाता। उसका पूर्ण अनुभव वह कभी न कर सकी। हाँ, ननद रामा अपनी दरिद्रता के दिन अपनी कन्या श्यामा के साथ किसी तरह काटने लगी। दहेज

मिलने की निराशा से कोई व्याह करने के लिये प्रस्तुत न होता। श्यामा १४ बरस की हो चली। बहुत चेष्टा करके भी रामा उसका व्याह न कर सकी। वह चल बसी।

श्यामा निस्सहाय, अकेली हो गई। पर जीवन के जितने दिन हैं, वे तो कारावासी के समान काटने ही होंगे। वह अकेली ही गङ्गा-तट पर अपनी बारी से सटे हुए कच्चे झोपड़े में रहने लगी।

मन्नी नाम की एक बुढ़िया, जिसे श्यामा 'दादी' कहती थी, रात को उसके पास सो रहती, और न जाने कहाँ से, कैसे उसके खाने-पीने का कुछ प्रबन्ध कर ही देती। धीरे-धीरे दरिद्रता के सब अवशिष्ट चिन्ह बिककर श्यामा के पेट में चले गये।

पर उसकी आम की बारी अभी नीलाम होने के लिये हरी-भरी थी।

❀ ❀ ❀ ❀

कोमल आतप गङ्गा के शीतल शरीर में अभी ऊष्मा उत्पन्न करने में असमर्थ था। नवीन किसलय उससे चमक उठे थे। वसन्त की किरणों की चोट से कोयल कुहुक उठी। आम की कैरियों के गुच्छे हिलने लगे। उस आम की बारी में माधव ऋतु का डेरा था, और श्यामा के कमनीय कलेवर में यौवन का।

श्यामा अपने घर के द्वार पर खड़ी हुई मेष संक्रान्ति का पर्व-स्नान करनेवालों को कगारे के नीचे देख रही थी। समीप होने पर भी व, मनुष्यों की भीड़ उसे चींटियाँ रेंगती हुई-जैसी दिखाई पड़ती थी।

मन्नी ने आते ही उसका हाथ पकड़कर कहा—"चल बेटी, हम आओ भी स्नान कर आवें।"

उसने कहा—"नहीं दादी, आज अंग-अंग टूट रहा है, जैसे ज्वर आने को है।"

अम्मी चली गईं।

तारा स्नान करके दासी के साथ कगारे के ऊपर चढ़ने लगी। श्यामा की बारी के पास से ही पथ था। किसी को वहाँ न देखकर तारा ने संतुष्ट होकर साँस ली। कैरियों से गदराई हुई डाली से उसका सिर लग गया। डाली राह में झुकी पड़ती थी। तारा ने देखा—कोई नहीं; हाथ बढ़ाकर कुछ कैरियाँ तोड़ लीं। सहसा किसी ने कहा—"और तोड़ लो भाभी, कल तो यह नीलाम ही होगा।

तारा की अग्निवाला-सी आँखें किसी को जला देने के लिये खोजने लगीं। फिर उसके हृदय में वही बहुत दिन की बात प्रतिध्वनित होने लगी—"किसका पाप किसको खा गया!" तारा चौंक उठी। उसने सोचा, रामा की कन्या व्यंग्य कर रही है। तारा होंठ चबाते हुए चली गई।

❀ ❀ ❀ ❀

एक सौ पाँच—एक

एक सौ पाँच—दो

एक सौ पाँच रुपये—तीन!

बोली होगई। अमीन ने पूछा—"नीलाम का चौथाई रुपया कौन जमा करता है?

एक सजीले युवक ने कहा—"चौथाई नहीं, कुल रुपया लीजिये, और श्यामा के नाम की रसीद बनाइये।" रुपया सामने रख दिया गया, रसीद बना दी गई।

श्यामा एक आम के वृक्ष के नीचे चुपचाप बैठी थी। उसे और कुछ नहीं सुनाई पड़ता था। केवल डुग्गियों के साथ एक-दो-तीन की प्रतिध्वनि उसके कानों में गूँज रही थी। एक समझदार मनुष्य ने कहा—"चलो अच्छा ही हुआ, तारा ने अनाथ लड़की के बैठने का ठिकाना तो बना रहने दिया; नहीं गंगा किनारे का घर और तीन बीघे की बारी, एक सौ पाँच रुपये में ! तारा ने बहुत अच्छा किया।"

बुढ़िया मन्नी ने कहा—"भगवान् जाने, ठिकाना कहाँ होगा !" श्यामा चुपचाप सुनती रही। संध्या होगई। जिनका उसी अमराई में नीड़ था, उन पक्षियों का झुण्ड कलरव करता हुआ घर लौटने लगा। पर श्यामा न हिली। उसे भूल गया कि उसके भी घर है।

❀ ❀ ❀ ❀

बुढ़िया के साथ अमीन साहब आकर खड़े होगये। अमीन एक सुन्दर कहे जाने योग्य युवक थे, और उनका यह सहज विश्वास था कि कोई भी स्त्री हो, वह मुझे एक बार अवश्य देखेगी। श्यामा के सौन्दर्य्य को तो दारिद्र्य ने ढक लिया था, पर उसका यौवन छिपने के योग्य न था। कुमार यौवन अपनी क्रीड़ा में विह्वल था। अमीन ने कहा—"मन्नी ! पूछो, मैं रुपया देदूँ—अभी एक महीने की अवधि है। रुपया दे देने से नीलाम रुक जायगा।" श्यामा ने एक बार तीखी आँखों से अमीन की ओर देखा। वह पुष्ट कलेवर अमीन उस अनाथ बालिका की दृष्टि न सह सका, धीरे-से चला गया। मन्नी ने भी देखा, बरसाती की की गीली चिता श्यामा की आँखों में जल रही थी। मन्नी का साहस न हुआ कि उससे घर चलने के लिये कहे। उसने सोचा, ठहरकर आऊँगी

तो इसे घर लिवा जाऊँगी। परन्तु जब वह लौटकर आई, तो रजनी के अन्धकार में बहुत खोजने पर भी श्यामा को न पा सकी।

❀　　　　❀　　　　❀　　　　❀

तारा का उत्तराधिकारी हुआ, उसके भाई का पुत्र प्रकाश। अकस्मात् सम्पत्ति मिल जाने से जैसा प्रायः हुआ करता है, वही हुआ। प्रकाश अपने आपे में न रह सका। वह उस देहात का प्रथम श्रेणी का विलासी बन बैठा। उसने तारा के पहले घर से कोस-भर दूर श्यामा की बारी को भली भाँति सजाया, उसका कच्चा घर टूटकर बँगला बन गया। अमराई में सड़कें और क्यारियाँ दौड़ने लगीं। यहीं प्रकाश बाबू की बैठक जमी। अब इसे उसके नौकर 'छावनी' कहते थे।

आषाढ़ का महीना था। सवेरे ही बड़ी उमस थी। पुरवाई से घन-मण्डल स्थिर हो रहा था। वर्षा होने की पूरी सम्भावना थी। पक्षियों के झुण्ड आकाश में अस्त-व्यस्त घूम रहे थे। एक पगली गंगा के तट से ऊपर की ओर चढ़ रही थी। वह अपने पादक्षेप पर एक दो-तीन स्फुट स्वर से कह देती, फिर आकाश की ओर देखने लगती थी। अमराई में खुले फाटक से वह घुस आई, और आम के वृक्षों के नीचे घूमती हुई "एक-दो-तीन" करके गिनने लगी।

लहरीले पवन का एक झोंका आया। तिरछी बूँदों की एक बाढ़ झड़ गई। दो चार आम भी चू पड़े। पगली घबरा गई। तीन से अधिक वह गिनना ही नहीं जानती थी। इधर बूँदों को गिने कि आमों को। बड़ी गड़बड़ी हुई। पर वह मेघ का टुकड़ा बरसता हुआ निकल गया। पगली फिर एक बार स्वस्थ हो गई।

महोखा एक डाल से बोलने लगा। डुग्गी के समान उसका हुप-हुप-हुप शब्द पगली को पहचाना हुआ-सा मालूम पड़ा। वह फिर गिनने लगी—एक-दो-तीन। उसके चुप होजाने पर पगली ने डालों की ओर देखा और प्रसन्न होकर बोली—"एक-दो-तीन।" इस बार उसकी गिनती में बड़ा उल्लास था, विस्मय था और हर्ष भी। उसने एक ही डाल में पके हुये तीन आमों को वृन्तों-सहित तोड़ लिया, और उन्हें झुलाते हुये गिनने लगी। पगली इस बार सचमुच बालिका बन गई, जैसे खिलौने के साथ खेलने लगी।

माली आ गया। उसने गाली दी, मारने के लिये हाथ उठाया। पर पगली अपना खेल छोड़कर चुपचाप उसकी ओर एकटक देखने लगी। वह उसका हाथ पकड़कर प्रकाश बाबू के पास ले चला।

प्रकाश यक्ष्मा से पीड़ित होकर इन दिनों यहीं निरन्तर रहने लगा था। वह खाँसता जाता था, और तकिये के सहारे बैठा हुआ पीकदान में रक्त और कफ थूकता जाता था, कंकाल-सा शरीर पीला पड़ गया था। मुख में केवल नाक और बड़ी-बड़ी आँखें अपना अस्तित्व चिल्ला-कर कह रही थीं। पगली को पकड़कर माली उसके सामने ले आया।

विलासी प्रकाश ने देखा, पागल यौवन अभी उस पगली के पीछे लगा था। कामुकी प्रकाश को आज अपने रोग पर क्रोध हुआ, और पूर्ण मात्रा में हुआ। पर वह क्रोध धक्का खाकर पगली की ओर चला आया। प्रकाश ने आम देखकर ही समझ लिया, और फूहड़ गालियों की बौछार से उसकी अभ्यर्थना की।

पगली ने कहा—"यह किस पाप का फल है ? तू जानता है ? इसे कौन खायगा ? बोल ? कौन मरेगा ? बोल ! एक-दो-तीन—"

"चोरी को पागलपन में छिपाना चाहती है। अभी तो तुझे बीसों चाहनेवाले मिलेंगे। चोरी क्यों करती है ?" प्रकाश ने कहा।

एक बार पगली का पागलपन, लाल वस्त्र पहनकर, उसकी आँखों में नाच उठा। उसने आम तोड़-तोड़कर प्रकाश के क्षय-जर्जर हृदय पर खींचकर मारते हुए गिना—एक-दो-तीन। प्रकाश, तकिये पर चित लोट-कर, हिचकियाँ लेने लगा, और पगली हँसते हुये गिनने लगी—एक-दो-तीन ! उसकी प्रतिध्वनि अमराई में गूँज उठी।

पं० विशम्भरनाथ जिज्जा

जन्मकाल रचनाकाल
१९५१ वि० १९१२ ई०

परदेसी

१

विधवा होने पर जमुना की माता जसोदा ने जमुना को ससुराल नहीं भेजा; अपने पास ही रखा। जसोदा के कोई नहीं था। पति का स्वर्गवास पहले ही हो चुका था, आज छः बरस हुए, लड़का भी मर गया। इधर जमुना भी विधवा होगई, इस कारण उसने अपने पास रखके घर की चहल-पहल बनाये रखने की चेष्टा की। शहर में जसोदा के कई मकान थे, उन्हीं के किराये से उसका जीवन-निर्वाह होता था। किराया कम नहीं था—यथेष्ट था। रूखा भोजन न करके दोनों समय अच्छा भोजन करने के लिये काफ़ी था। घर में जसोदा अकेली थी। साथ थी, केवल एक वही विधवा जमुना। माता की छाती बच्ची के लिये अब भी वैसी ही दूध-भरी थी। जमुना की अवस्था, १७ साल

की है। पति को स्वर्गवासी हुए तीन वर्ष होगये। सारा सुख सूखा हो गया। हृदय के उल्लास-उद्गार सदा के लिये हृदय में दब गये।

परसों चन्द्र-ग्रहण लगनेवाला है। काशी में चन्द्र-ग्रहण का बड़ा माहात्म्य है। दूर-दूर से लोग गङ्गा-स्नान के लिये आते हैं। लाखों यात्रियों की भीड़ होती है। जसोदा का मकान गङ्गा-तट पर था। उसके मकान के बाहर पक्के ओसारे में कई दिन से एक परदेसी यात्री आके टिका हुआ है। यात्री युवा है, ग़रीब है। इस भीड़-भाड़ में काशी में कहीं ठहरने का ठिकाना नहीं मिला। जसोदा ने दया करके उसे अपने मकान के बाहर ओसारे में स्थान दे दिया है।

२

सन्ध्या-समय जमुना जब नहा-धोकर ऊपर छत पर टहलती थी उस समय परदेसी ओसारे के बाहर चौतरे पर रोटियाँ ठोंकता था। जमुना देखती थी कि वह गोहरे से सुलगाये हुए, चूल्हे को फूँकते-फूँकते रोने लगता था। धूएँ से आँखें बहुत लाल हो जाती थीं। कभी-कभी हाथ जल जाने से, वह बहुत देर तक तड़फता था। जमुना ने एक रोज़ यह भी देखा कि उसकी दाल की बटुली उलट गई। अपना परिश्रम निष्फल देख, परदेसी का खिला चेहरा मुरझा गया। जमुना ने सोचा—"माता ने जहाँ इस परदेसी पर इतनी दया दिखाई है, वहाँ भोजन भी दे दिया करें, तो क्या हर्ज है।"

दिन भर की धूप से तपे हुए पक्के ओसारे की गच पर परदेसी रात को केवल एक दरी बिछाके सो रहता था—गरमी की कसक उसे बिछुड़ आँखों में और भी सहारा देती थी। जिस समय जमुना कई घड़े पानी से

सींची हुई ठण्डी छत पर शीतलपाटी बिछा-कर सोती थी—चन्द्र की शीतल किरणें छत को धवलित करती थीं—ठण्डी हवा के झोंके चलते थे—उस समय वह उस दीन परदेसी के लिये बहुत चिन्ता करती थी। मन में सोचती थी कि बिचारा इस समय गरमी की व्यथा से तड़पा रहा होगा। ओसारे की तपती हुई पक्की गच से उसका शरीर जलता होगा। पीठ तपती होगी। ताड़ की टूटी पंखी, जो उसी ने दया करके उसके पास भेजवा दी थी, हाँकते-हाँकते अपने को ठण्डा करता होगा। अवनाथ विदेशी के गरम ओसारे में जमुना की शीतल कल्पना चक्कर मारने लगी। ठण्डी छत पर शीतल चन्द्र के नीचे जमुना का कलेजा गरमी के मारे जलने लगा। ठण्डी हवा में दोपहरिये की लू का अनुभव होने लगा।

जिस रात में युवतियाँ अपने प्रेमियों को गजरे पहिनाती हैं—नव-वधुएँ सैयाँ के मान करती हैं, जिस रात में रसिया बालम मानवती सुन्दरियों को मनाते-मनाते अपनी ओर खींच लेते हैं—वक्ष से लगा के हँसते हैं—हँसाते हैं, जिस रात में मुलायम बिछौना युवक-युवतियों की आनन्द-क्रीड़ा से कुचला जाता है, उसी रात में—उसी सुखमयी आनन्द-रजनी में—जमुना, एक पतली शीतलपाटी पर नक्षत्रों को गिनती हुई सबेरा कर देती थी।

२

सन्ध्या-समय दुर्गाजी के मन्दिर के प्रसाद में बेले की कलियों की जो माला जमुना लाई थी, इस समय वह उसके वक्ष पर पड़ी हुई है। उस समय सब कलियाँ थीं, इस समय रात्रि में एक कामिनी की मुलायम छाती पर आसीन होने के कारण प्रफुल्ल, सब-की-सब खिल-खिल, पड़ीं।

सुगन्ध आने लगी। किन्तु अन्य युवतियों के सुख का ध्यान करते करते जमुना ने उस माला को मींजके फेंक दिया। सारा संसार सुख से—निःस्तब्ध रात्रि में विश्राम करता था। जमुना ने अनुमान किया कि कि परदेसी भी ओसारे में पंखा हाँकते-हाँकते सो गया होगा। आकाश में अनगिनती तारिकायें हँस रही थीं। बादल के टुकड़ों में चन्द्र की लुका-लुकैया देखते-देखते जमुना ने परदेसी को एक बार देखने का विचार किया। गरमी की व्यथा से उसकी क्या दशा होगी, यही उसे देखने की इच्छा थी। सहसा उसके कान में एक मधुर रागिनी सुन पड़ी। उसे ऐसा जान पड़ा, मानो कोई उमङ्ग में मदमाती इस खिली हुई चाँदनी में जी खोलकर गा रहा है। जमुना उस गाने को सुनने लगी। गवैये की तान और गिटकिरी में गीत समझ नहीं पड़ता था। बहुत ध्यान देने पर समझ पड़ा—

"बेला फूले आधी रात, गजरा केकरे गरे डारूँ।
एक तो मैं बारी भोरी, मैं बारी भोरी, सैयाँ छाये परदेस,
गजरा केकरे गरे डारूँ॥"

बहुत काल की विस्मृति, सुख-स्मृति की नाईं वह मधुर गान जमुना के कानों में घुस गया। गवैया अपनी आन्तरिक उमङ्ग की मस्ती में गा रहा था। आनन्द की उछाह से गाया गया गीत उस निस्तब्ध चाँदनी रात में कोयल की सुन्दर कूक की तरह गूँज उठा। मस्ती से बजती हुई वीणा-झनकार की नाईं जमुना की हृत्-तन्त्री बज उठी।

वह उठके टहलने लगी। टहलते-टहलते मुँड़ेर के पास गई। उसे जान पड़ा कि नीचे ओसारे में कोई गा रहा है। उसने सोचा कि

। वह इनके सामने नहीं हुई थी। वह घर में थी। देखता इसी देखने के लिये जमुना अब तक मरती थी। वह चाहती थी कि एक बार किसी भी दृष्टि से यह परदेसी उसकी ओर निहार दे। आज गङ्गाजी में उसकी यह तृष्णा बुझ गई। परदेसी उसकी ओर एक सामान्य—साधारण दृष्टि से देख, फिर नहाने लगा।

जीवन सफल होगया! इसी दृष्टि के लिये जमुना अब तक व्याकुल थी। पर प्रेम-शून्य दृष्टि से उसकी तृष्णा पूर्णतः नहीं बुझी।

५

रात के दस बज चुके हैं। जमुना खाके रोज़ की तरह आज भी ठंडी पर—शीतलपाटी बिछाके लेटी है। आज भी कलवाला गीत सुनने की उत्कट अभिलाषा है। ग्यारह बज गया, बारह, फिर एक बजा, दो भी बज गये, पर अब तक गवैये की तान न सुन पड़ी। गवैया कहाँ गया, यह जानने के लिये वह नीचे झाँकने लगी।

पर सड़क पर क्या दिखेगा? परदेसी गवैया तो ओसारे में गाता, इसलिये उसने एक बार उसे नीचे जाके देखने का विचार किया।

दबे-पाँव जमुना नीचे गई। अन्दर से, किवाड़ के झरोखे से, उसने देखा, ओसारे में कोई नहीं है—शून्य हृदय की भाँई खाली सारा भाँय-भाँय कर रहा है। क्षण-भर अन्धकार में परदेसी की कल्पना करके—शून्य स्नेह-सम्पन्न प्रेम-मूर्ति का आवाहन करते-करते जमुना सिर थामके बैठ गई।

आशा का भी क्या प्रबल प्रताप है! मनुष्य को कभी निराशा नहीं होती। इसका पग सदा आगे बढ़ता है। मनुष्य फाँसी पर लटकाये जाने-

बूढ़े, बच्चे, जवान सभी आये हिन्दू धर्म व सच्चा विश्वास दूर-दूर देशों—और गाँवों के कितने हज़ार मनुष्यों को खींच लाया था। ऐसा जान पड़ता था कि मानों अनन्त संसार में मनुष्य-रूपी अनगिनती नद-नाले अपनी अन्यान्य सहायक धाराओं के साथ एक महासागर में मिलने जा रहे हैं। सब मनुष्यों का धर्म-विश्वास एक न रुकनेवाली सरिता की नाईं उमड़ा हुआ था। चारों ओर से ध्वनि आरही थी—"गङ्गा माई की जय!"

लड़के, लड़की, जवान, बूढ़े सभी नर-नारी, विमल उज्ज्वल जल में स्नान कर, अक्षय पुण्य का सुख लूट रहे थे। पवित्रता की खान और प्यासों को बुझानेवाली गंगामाई भी स्वच्छ निर्मल जल से अपने भक्तों को नहला-नहलाकर पवित्र करने के लिये उत्सुकता से उछल रही थीं

स्वयंसेवक और पुलिस का यथेष्ट प्रबन्ध था। कोई यात्री पद-दलित न होजाय, कोई बूढ़ा-बच्चा दबके मर न जाय, इसलिये चारों ओर अच्छा पहरा था।

शाम की नौबत झरी। 'गौरी' सहनाई बजी। खम्भे पर थाप पड़ने लगी। कुछ अँधेरा होते देखकर जसोदा ने कहा—"चल जमुना! हम भी स्नान कर आवें। अइया लग गया।"

दोनों स्त्रियाँ धोती ले-लेके स्नान करने चलीं। जमुना को आज ओसारे में परदेसी नहीं देख पड़ा। उसने सोचा—वह हमसे पहिले नहाने चला गया है, इसी से नहीं देख पड़ा।

गङ्गाजी में गोता लगाते हुये जमुना ने देखा कि उसका परदेसी भी दूर पर खड़ा हुआ नहा रहा है। जमुना को परदेसी ने कभी [illegible]

वाले मनुष्य को छूट जाने की आशा बनी रहती है—सम्भव है, न्याया-धीश अब भी कृपा करके उसे टिकठी पर से उतरवाने की आज्ञा दे दे। इसी तरह दुःख में सदा सुख की आशा बनी रहती है। वही सुखमयी आशा, इस समय कोयल बनके दुखिया जमुना के हृदय में कूकने लगी। उसने आशा की;—सोचा, सम्भव है, परदेसी कहीं चला गया हो—प्रभात में आजाय। गाँव की कल्पना कर, दुखिया जमुना क्षण-भर को सुखी होगई।

थोड़ी देर के बाद फिर कोठे पर गई। चन्द्रदेव चमक रहे थे। उस उज्ज्वल चाँदनी में गर्म उच्छ्वास फेंकती हुई जमुना आकाश की ओर निहारने लगी। बादलों में से तेज़ी के साथ जाते हुए चन्द्रदेव को देखते-देखते जमुना सो गई।

सबेरा हुआ। जमुना उन्मत्त की नाईं ओसारे में गई। उसने देखा, ओसारा सुनसान पड़ा है!

* * * *

सप्ताह, महीने और वर्ष बीत गये। पर फिर परदेसी नहीं देख पड़ा। फिर वह—"बेला फूले आधी रात गजरा केकरे गरे डारूँ"-वाली मधुर तान नहीं सुन पड़ी।

चाँदनी रात में छत पर लेटे-लेटे जमुना आज भी उसी तान का अनुभव करती है। आज भी परदेसी के कलकंठ की मनोहर ध्वनि उसे अपने हृदयाकाश में गूँजती हुई मालूम होती है। परदे पर उँगली फेरने के समान आज भी उसके आन्तरिक तार झनझना उठते हैं—सुरताल के पंचम स्वर में कंठ-वीणा उसी कारुणिक स्वर में बजती है;—"सैयाँ गये परदेस गजरा केकरे गरे डारूँ।" जमुना हँसती है—रोती है!

पं० विश्वम्भरनाथ शर्म्मा कौशिक

जन्मकाल	रचनाकाल
१९४८ वि०	१९१९ ई०

वह प्रतिमा

१

स्मृति—वह मर्म-स्पर्शी स्मृति, जो हृदय-पृष्ठ पर करुणोत्पादक भावों की उस पक्की और गहरी-स्याही से अंकित की गई है, जिसका मिटना इस जन्म में कठिन ही नहीं, प्रत्युत असम्भव है। आह ! वह स्मृति कष्ट-दायिनी होने पर भी कितनी मधुर और प्रिय है ! उस स्मृति से हृदय जला जाता है, तन-मन राख हुआ जाता है, फिर भी उसे मिटाने की चेष्टा करने को जी नहीं चाहता। वह स्मृति वह मीठी छुरी है जिसकी तेज धार से हृदय लहू-लुहान हो रहा है; परन्तु उसमें वह मधुरता है, वह मिठास है कि, उसे कलेजे से दूर करने को जी नहीं चाहता। क्यों ? इसलिये कि वह उस प्रेम-प्रतिमा की स्मृति है, जिस के प्रेम के मूल्य को, जिसकी कर्त्तव्यशीलता की गहराई को मैं अब समझ

समझा, जब वह मुझसे सदैव के लिये बिछुड़कर मृत्यु के परदे में अदृश्य हो रही थी। उस प्रेम की पुतली का असली रूप मैंने उस समय देखा जब मृत्यु के यवनिका के बन्धन खुल चुके थे, और वह धीरे-धीरे हम दोनों के बीच गिर रही थी। उसका असली जाज्वल्यमान स्वरूप देखकर मेरी आँखें झपक गईं, और फिर उस समय खुलीं, जब निष्ठुर यवनिका उसे अपनी ओट में छिपा चुकी थी।

*　　　*　　　*　　　*

मेरा विवाह उस समय हुआ था, जब मेरी आयु १६ वर्ष की थी। विवाह के दो ही वर्ष बाद गौना भी होगया था। मेरी स्त्री यों तो साधारण सुन्दरी और कुछ पढ़ी-लिखी भी थी। अधिक सुन्दरी न होने पर भी उसमें दो-एक ऐसी बातें थीं, जो हृदय को अपनी ओर उसी प्रकार खींचती थीं, जिस प्रकार सौन्दर्य खींच सकता है। वे बातें क्या थीं? आह! उनकी याद आने पर आज भी कलेजे में हूक उठती है। सच तो यह है कि केवल उन हाव-भावों पर ही कोई भी हृदय अनुपम सौन्दर्य को न्यौछावर कर सकता है। वे बातें थीं---उसकी लजीली आँखें, उसकी मन्द मुस्कान। उसका लजाकर मन्द मुस्कान के साथ आँखें नीची कर लेना बड़े-से-बड़े सौन्दर्य का रङ्ग फीका कर देता था। गौना होने के पश्चात् तीन-चार वर्ष तक हम दोनों के दिन बड़े सुख से कटे। इस बीच में दो सन्तानें भी हुईं। उनमें एक पुत्र अभी तक जीवित है। एक कन्या हुई थी। वह कुछ ही महीनों बाद मर गई। कन्या उत्पन्न होने के पश्चात् हमारे सुखमय जीवन पर पाला पड़ गया। विधाता से हम दोनों का वह जीवन, जिसमें किसी प्रकार के भी दुःख का

लेश-मात्र न था, सीधी आँखों न देखा गया। परिणाम यह हुआ कि चमेली रोग-ग्रस्त होगई। न जाने किस अशुभ-घड़ी में रोग का आगमन हुआ कि उसने प्राण लेकर ही छोड़ा। रोग था राजयक्ष्मा। यह वह रोग है, जो मनुष्य को घुला-घुलाकर मारता है। इस रोग में मनुष्य बरसों तक जीवित रहता है, पर स्वस्थ एक क्षण के लिये भी नहीं होता। यही हाल चमेली का भी हुआ। यद्यपि रोग-ग्रस्त होने के पश्चात् वह छः सात वर्ष तक जीवित रही, परन्तु स्वस्थ पूरे एक महीने भी न रही। कभी-कभी ऐसी दशा हो जाती थी कि सरसरी दृष्टि से देखने पर कोई रोग न मालूम होता था; पर तब भी उसका जी उदास रहता था। किसी काम में उसका जी न लगता था। केवल इन्हीं बातों से पता चलता था कि रोग ने उस पर से अपना अधिकार नहीं उठाया है।

एक वर्ष तक तो मैं उसकी दशा पर बड़ा चिन्तित रहा। दवा, दारू भी खूब की। परन्तु इसके पश्चात् मेरा जी कुछ ऐसा ऊब उठा कि मैंने उसे ईश्वर के भरोसे पर छोड़ दिया। साधारणरूप से चिकित्सा होने के अतिरिक्त और कोई विशेष चेष्टा न की।

चिकित्सकों से मुझे यह मालूम हुआ था कि राजयक्ष्मा बड़ा संक्रामक रोग है। अतएव आप भी उसी रोग से ग्रस्त होजाने के भय से मैंने उसके पास बैठना-उठना भी कम कर दिया था। इसके अतिरिक्त एक यह भी कारण था कि उसका कान्तिहीन मुख और दुबला-पतला शरीर देखकर, मेरा हृदय दुःखित होता था, और सच तो यह है कि कुछ ग्लानि भी होती थी। मेरे परिवार में मेरी माता और दो छोटी भावजें थीं। इस कारण गृहस्थ-सम्बन्धी सब काम वे ही करती थीं।

यह भी एक कारण था कि, जिससे मुझे उससे अधिक सम्पर्क रखने की आवश्यकता न पड़ती थी। कभी-कभी तो ऐसा होता था कि दस-दस पन्द्रह-पन्द्रह दिन तक उससे मेरी बात-चीत तक न होती थी। मेरी इस उदासीनता को चमेली भी जानती थी; पर उसके सम्बन्ध में उसने मुझसे कभी शिकायत नहीं की।

२

इस प्रकार एक वर्ष व्यतीत होगया। इन दिनों मेरी चित्त-वृत्ति बिलकुल बदल गई थी। अब मुझे घर में एक क्षण रहना भी कष्टदायक मालूम होता था। जबतक बाहर रहता, चित्त प्रसन्न रहता था; परन्तु घर में आते ही चित्त उदास और खिन्न हो जाता था। इसलिये दिन में केवल दो-तीन घण्टे घर में रहता था, और उधर रात को दस-ग्यारह बजे के पहले घर न लौटता था। मुझे नशेबाजी इत्यादि दुर्गुणों और दुर्व्यसनों की भी लत पड़ गई थी; क्योंकि मेरा हृदय सदैव आनन्द और प्रसन्नता के लिये लालायित रहता था। इन दुर्व्यसनों में मुझे आनन्द मिलता था।

एक दिन मैं दोपहर में बैठा हुआ उपन्यास पढ़ रहा था। सहसा किसी के आने की आहट पाकर मैंने सिर उठाया। सामने चमेली को देखकर कुछ सिटपिटा गया; क्योंकि मैं उससे सदैव अलग-अलग रहने की चेष्टा किया करता था। मैंने शिष्टाचार के नाते चमेली से कहा—"आओ बैठो, कहो अब जी कैसा रहता है?"

चमेली मेरे सामने बैठ गई, और उदास स्वर में बोली—"जैसा है, वैसा ही रहता है।"

मैं—"आख़िर कुछ मालूम तो हो, पहले से कुछ अच्छा है, या कुछ......?"

चमेली—"अच्छा तो क्या, किसी-न-किसी प्रकार जी रही हूँ। जीवन के जितने दिन हैं, वे तो किसी-न-किसी प्रकार पूरे ही करने पड़ेंगे।"

मैं कुछ कहने के अभिप्राय से बोला—"हाँ यह तो ठीक ही है। क्या कहें, इतनी दवा-दारू हुई और हो रही है, पर अभी तक कुछ भी फ़ायदा न हुआ।"

चमेली इस बात पर ध्यान न देकर बोली—"आज बीस दिन बाद तुमसे बात-चीत करने का अवसर मिला है।"

मैं—"बीस दिन! अभी आठ-दस दिन हुए, जब मैं तुमसे मिला था।"

चमेली—"तुम्हें बीस दिन आठ-दस दिन ही समझ पड़ते हैं, पर मेरे लिये तो बीस दिन बीस ही दिन हैं।

मैंने कुछ लज्जित होकर कहा—"सम्भव है, बीस दिन हो गये हों। जब से तुम बीमार रहने लगीं, तब से मिलने-जुलने का सुयोग ही नहीं लगता।"

चमेली—"सुयोग तो तब लगे, जब सुयोग के लिये कुछ चेष्टा की जाय।"

मेरा हृदय धड़कने लगा। अन्तःकरण पर कुछ चोट-सी लगी; क्योंकि चमेली की इस बात में सत्यता का बहुत कुछ अंश था।

मैंने उपन्यास के पृष्ठ उलटते हुए कहा—"माता इत्यादि के रहते हुए इस प्रकार की चेष्टा करना कुछ भद्दा-सा मालूम होता है।"

कहने को तो यह बात कह गया, परन्तु मुझे ख़ुद यह बात बेतुकी-

सी मालूम हुई; क्योंकि एक वह समय भी था, जब माता इत्यादि रहते हुए भी मैं जितनी बार चाहता था, चमेली से मिलने का सुअवसर उत्पन्न कर ही लेता था।

चमेली ने भी यही बात कही। वह बोली—"मेरे बीमार होने पहले भी तो माता और भौजाइयाँ थीं।"

इसका उत्तर मैं कुछ न दे सका। मुझे चमेली का बैठना बुरा मालू हुआ। मैं मन-ही-मन ईश्वर से प्रार्थना करने लगा कि कोई कारण ऐस उत्पन्न होजाय, जिससे चमेली मेरे पास से उठ जाय। आह! कैस विकट परिवर्तन था! जिस चमेली के दर्शनों के लिये मैं मकान के को और कोठरियों में छिपा खड़ा रहता था, उसी चमेली का पास बैठ आज मुझे बुरा मालूम हो रहा था!

चमेली कुछ देर तक चुप रहकर बोली—"लज्जित क्यों होते हो लज्जित होने का कोई कारण नहीं। मैं इस बात से ज़रा भी रुष्ट नह हूँ। मैं जानती हूँ कि मुझ में अब ऐसा कोई आकर्षण नहीं रहा, ज तुम्हें मेरे पास आने के लिये विवश करे।"

मैंने विकल होकर कहा—"आज तुम्हें यह क्या सूझा है, जो वाहि यात बातें मुँह से निकाल रही हो?"

चमेली एक लम्बी साँस लेकर बोली—"वाहियात बातें नहीं, सच बातें हैं। मुझे कोई शिकायत नहीं, पर कुछ दुःख अवश्य है। तुम्हें य ख्याल रखना चाहिये कि सब का जी तुम्हारा-सा नहीं है।"

मैंने कुछ रुष्ट होकर कहा—"देखो चमेली, यदि तुम ऐसी निरर्थ बातें करोगी, तो मैं उठकर चला जाऊँगा।"

चमेली के नेत्रों में आंसू छलछला आये—उन्हीं नेत्रों में, जिन्हें देखकर मैं कभी मतवाला होजाता था। परन्तु आज, उन नेत्रों को अश्रु-पूर्ण देखकर मेरा हृदय पसीजा तक नहीं।

चमेली ने कहा—"यदि तुम्हें ये बातें बुरी मालूम होती हैं, तो न कहूँगी। हाँ, यदि तुम एक बात मानने का वचन दो, तो कहूँ।"

मैं—"कौन-सी बात?"

चमेली—"मानोगे?"

मैं—"यदि मानने योग्य होगी।"

चमेली—"तुम दूसरा विवाह कर लो।"

मैं चौंक पड़ा। एँ—दूसरा विवाह! और चमेली खुद उसका प्रस्ताव करे! मैंने कुछ देर तक चुप रहकर कहा—"तुम ऐसा क्यों कहती हो?"

चमेली—"इसलिये कि तुम्हें उसकी आवश्यकता है। मैं तो इस योग्य ही नहीं रही कि आपकी कुछ सेवा कर सकूँ। इसीलिये दूसरा विवाह कर लेना ठीक है। मेरे लिये तुम अपने जीवन को दुःखमय क्यों बना रहे हो? इससे मुझे भी बड़ा दुःख है। मैं तुम्हें उदास और चिन्तित देखती हूँ। मुझे यह भी मालूम है कि तुम किसी दिन भी रात को बारह बजे के पहले घर नहीं लौटते। मैं यह जानती हूँ कि घर में तुम्हारा जी नहीं लगता। इन सब बातों का कारण भी मैं जानती हूँ। मैं रात-दिन ईश्वर से यही प्रार्थना किया करती हूँ कि वह मुझे शीघ्र उठा लें, और तुम विवाह करने के लिये स्वतन्त्र हो जाओ। परन्तु मेरी प्रार्थना जल्दी स्वीकार होती दिखाई नहीं पड़ती, इसलिये मैं यह चाहती हूँ कि तुम विवाह कर डालो।"

चमेली की इस बात ने मुझे चिन्ता-सागर में डाल दिया। कई बार मेरे हृदय में भी यही विचार उत्पन्न हुआ था कि यदि चमेली आरोग्य नहीं होती, तो मर ही जाय, और मुझे दूसरा विवाह करने की स्वतन्त्रता मिल जाय। ओफ़् ! मैं नहीं समझता कि मेरे हृदय में यह विचार कैसे आता था। जिस चमेली का सिर कुछ दुखने से ही मुझे अत्यन्त कष्ट पहुँचता था, उसी चमेली का मरना मैं मनाता था ! सच तो यह है कि इन्हीं बातों के प्रायश्चित्त-स्वरूप आज घोर मानसिक क्लेश भोग रहा हूँ।

मैंने कहा—"नहीं, मैं विवाह न करूँगा। तुम्हारे रहते मैं विवाह करूँ, ऐसा कभी संभव हो सकता है ?"

चमेली—"हानि ही क्या है ? जब मैं इस में राज़ी हूँ, तब तुम क्यों हिचकते हो ?"

इच्छा न रहने पर भी मेरे मुँह से सच्ची बात निकल गई। मैंने कहा—"मैं यदि विवाह करने के लिये तैयार भी हो जाऊँ, तो माता और भाई साहब इसे कब स्वीकार करेंगे ?"

चमेली—"मैं जब कहूँगी, तो स्वीकार कर लेंगे।"

मैं—"ईश्वर के लिये कहीं ऐसा कर भी न बैठना, नहीं माताजी तो मुझे खा जायँगी। तुम इस फेर में मत पड़ो; मैं विवाह-इवाह कुछ न करूँगा।"

चमेली—"मेरे पीछे तुम दुःख क्यों उठाते हो ?"

मैं—"मुझे कोई दुःख नहीं। केवल तुम्हारी बीमारी और कष्ट से अवश्य दुःख होता है; पर उसके लिये क्या किया जाय ? ईश्वर ही को मंज़ूर है कि हमें यह दुःख हो।"

चमेली ने इस पर कुछ नहीं कहा, और थोड़ी देर के बाद वह मेरे पास से उठकर चली गई।

३

एक वर्ष और व्यतीत हुआ। चमेली की वही दशा थी। न तो रोग-मुक्त होती दिखाई पड़ती थी, और न जीवन-मुक्त। कभी-कभी मुझे उस पर बड़ा तरस आता था। कारण, मृत्यु की प्रतीक्षा करने के अतिरिक्त उसके लिये संसार में कोई और काम ही न था। संसार में कोई वस्तु ऐसी न थी, जो उसका मनोरंजन कर सकती। परन्तु इतना होते हुए भी उसका लक्ष्य मेरे सुख-दुःख की ओर विशेष रहता था। वह सदैव मेरे ही सुख-दुःख का ध्यान रखती थी। वह मेरे अलग-अलग रहने पर भी मुझे प्रसन्न और सुखी रखने की चिन्ता में रहती थी। यद्यपि उसका शारीरिक सौंदर्य नष्ट होगया था, परन्तु हार्दिक सौंदर्य वैसा ही बना हुआ था; बल्कि पहले की अपेक्षा भी कुछ बढ़ ही गया था। यद्यपि वह पुष्प मुरझा गया था, सूख गया था, परन्तु वह गुलाब का पुष्प था, कि जो सूख जाने पर भी अपनी सुगन्ध नहीं छोड़ता। इसके प्रतिकूल मेरे हृदय में कितना गहरा परिवर्तन हो गया था! मेरा हृदय-भ्रमर उस पुष्प की सुगन्ध की ज़रा भी पर्वाह नहीं करता था। भ्रमर को सुगन्ध से क्या सरोकार? वह तो केवल रस चाहता है। सुगन्ध होते हुए भी वह नीरस पुष्प के पास नहीं फटकता।

एक दिन मैंने अपने पुत्र लालू को, जिसकी उम्र उस समय सात वर्ष की थी, किसी साधारण अपराध पर पीट दिया। वह रोता हुआ अपनी माँ के पास गया। केवल इसी बात पर चमेली ने दूसरे दिन

मुझ से कहा—"कल तुमने शानू को बड़ी बुरी तरह मारा।"

मैंने कहा—"उसने काम ही मार खाने का किया था।"

चमेली आँखों में आँसू भरके बोली—"उसे मारा न करो।"

मैंने कहा—"क्यों?"

चमेली—"मुझे बड़ा दुःख होता है।"

मुझे उसकी इस बात पर कुछ हँसी आई। सभी बच्चे कुछ-न-कुछ मारे-पीटे जाते हैं। इसमें इतना दुख अनुभव करने की क्या आवश्यकता? मैंने चमेली से कहा—"अपराध करने पर तो ताड़ना की ही जाती है। इसमें तुम्हारा इतना दुःख मानना बिलकुल निरर्थक है।"

चमेली—"मेरे इतना दुःख मानने का कारण है।"

मैं—"क्या कारण?"

चमेली—"वह बिन माँ का है!"

मैं हतबुद्धि होकर बोला—"बिन माँ का है?"

चमेली—"हाँ, मैं ऐसा ही समझती हूँ। मेरे जीवन का क्या भरोसा? मैं अपने को मरा हुआ ही मानती हूँ और इसी कारण उसे मातृ-हीन समझती हूँ। यही कारण है, कि जब उसे कोई कुछ कहता-सुनता है, जब कभी तुम मारते-पीटते हो, तब आकर वह मेरी छाती से लग जाता है। मैं उसे हृदय से लगाकर, चुमकार-पुचकारकर शान्त कर देती हूँ। पर मेरे पीछे वह किसके पास जायगा, किसके आँचल में मुँह छिपा-कर बैठेगा? कौन उसे प्यार करके प्रसन्न करेगा? इसीलिये कहती हूँ, कि तुम उसे कुछ न कहा करो।"

चमेली की इस करुण प्रार्थना से कुछ, व्यथा के लिये मेरा हृदय थर्रा

गया। उसके इन शब्दों में न-जाने कितनी प्रबल शक्ति थी, कि उसने मेरे पाषाण-हृदय को भी ठेस पहुँचाई। मैंने कहा—"अच्छा, अब जहाँ तक हो सकेगा, उसे कुछ न कहा करूँगा।"

* * * *

चमेली का अन्त समय निकट था। एक महीना हुआ, उसने चार-पाई की शरण ली थी। तब से उसकी दशा दिन-प्रति-दिन बिगड़ती ही गई। वह जिस दिन रात को इस संसार से सदैव के लिये विदा होने-वाली थी, उसी दिन उसने दोपहर को मुझे अपने पास बुलवाया। मैं उसके पास पहुँचा। मुझे यह तो मालूम था, कि अब चमेली थोड़े ही दिनों की मेहमान है, पर स्वप्न में भी यह ख़याल न आया था, कि यही दिन उसका अन्तिम दिन है। मैं उसके पास बैठ गया, और पूछा—"इस समय कैसा जी है?"

चमेली कुछ मुस्कुराई और बोली—"अब जी बहुत अच्छा है।"

मैंने कहा—"बहुत अच्छा तो क्या होगा?"

चमेली—"मेरा चित्त इस समय जितना प्रसन्न है, उतना कभी नहीं रहा।"

मैं—"यह तो तुम्हारी बातें हैं।"

चमेली—"नहीं, मैं सच कहती हूँ।"

मैंने चमेली के मुख को ध्यानपूर्वक देखा। आज छः वर्ष पश्चात् मुझे उसकी आँखों में, उसके मुख पर, वही सौन्दर्य दिखाई पड़ा, जो छः वर्ष पूर्व था। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, कि चमेली को कोई रोग ही नहीं, वह बिलकुल स्वस्थ है। न-जाने उस दिन मेरे हृदय में उसके प्रति

पहले का-सा प्रेम क्यों उत्पन्न होगया। छः वर्ष पश्चात् मैंने बड़े प्रेमपूर्वक उसके सिर पर हाथ फेरकर कहा—"जो तुम्हारी तबियत ऐसी ही रही, तो दो-चार दिन में तुम बिल्कुल स्वस्थ हो जाओगी।" मेरा प्रेम-व्यवहार देखकर चमेली ने मन्द-मुस्कान के साथ शरमाकर अपनी दृष्टि दूसरी ओर फेर ली। मैं विकल होगया। वही शरमीली दृष्टि—वही मन्द मुस्कान! मैंने अपने मन में कहा—चमेली के सौन्दर्य में तो ज़रा भी अन्तर नहीं आया। क्या मैं इतने दिनों तक अन्धा रहा, जो यह बात न देख सका? ओफ़्! मैंने कितना घोर अनर्थ किया, जो इसकी ओर से इतना उदासीन होगया। मुझे क्या होगया था? मैं इसे इतने दिन कैसे और क्यों ठुकराये रहा? इसमें कौन-सा ऐसा बुरा परिवर्तन होगया था, जिसके कारण मैं इससे इतने दिनों घृणा करता रहा? मैं इस रत्न को छोड़कर इधर-उधर काँच के टुकड़ों से कैसे आनन्द का अनुभव करता रहा? इसलिये कि यह रोग-ग्रस्त थी? छिः-छिः! कितनी पाशविकता हुई! मैं यदि उसी प्रकार चेष्टा करता रहता, तो बहुत सम्भव है, यह अब तक कभी की रोग-मुक्त होगई होती। इसे रोग-ग्रस्त और इसके कष्ट में छोड़कर मैं अकेला केवल अपने ही लिये, आनन्द और सुख की खोज में कैसे घूमता रहा? यदि यह दुखी थी, तो मुझे इसका दुःख बटाना चाहिये था, न-कि इसको इस दशा में छोड़कर अकेले सुख-भोग करना। ओफ़्! कितना अनर्थ हुआ! इसने इन सब बातों को जानकर भी कोई शिकायत नहीं की, उलटे यह सदैव मुझे प्रसन्न और सुखी रखने की चिन्ता करती रहती। यहाँ तक कि केवल मुझे सुखी करने के लिये इसने मेरा दूसरा विवाह कराने की भी चेष्टा की। आह! मेरे और

इसके व्यवहार में आकाश-पाताल का अन्तर रहा। ओफ़्! मैंने बड़ा पाप किया। न-जाने इस पाप से कैसे मुक्त हो सकूँगा!

चमेली ने मुझे विचार-सागर में निमग्न देखकर पूछा—"क्या सोच रहे हो?"

मैं—"कुछ नहीं।"

चमेली—"मैंने कुछ कहने के लिये बुलाया था।"

मैं—"कहो, क्या कहती हो?"

चमेली—"मेरे कारण तुम्हें बड़ा कष्ट मिला। मैं तुम्हारे सुख-मार्ग का काँटा रही। मेरे भाग्य में तो विधाता ने सुख लिखा ही नहीं था। जितना लिखा था, वह भोगा, और वह स्वप्न में बैकुण्ठ मिलने की तरह था। परन्तु मैं तुम्हारा सुख नष्ट करने का कारण रही। अब मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता है, कि मैं तुम्हारे सुख-मार्ग से अलग हुई जाती हूँ। अब तुम संसार में सुख भोगने के लिये स्वतन्त्र......।"

मैं आगे कुछ न सुन सका। मैंने बेचैन होकर कहा—"चमेली, यह तुम क्या बक रही हो? तुम्हारे बिना मुझे स्वर्ग में भी सुख नहीं मिल सकता। ईश्वर न करे......।"

चमेली कुछ विस्मित होकर बोली—"नाथ, अब लोकाचार दिखाने का समय नहीं है। यह कपट-वेष छोड़ो, और जो मैं कहती हूँ, उसे सुनो।"

मैं अत्यन्त दुःखित होकर बोला—"चमेली, मैं बड़ा अधम हूँ, बड़ा नीच हूँ। इसमें सन्देह नहीं, कि एक अवधा पहले तक मैं कपट-वेष धारण किये हुए था; परन्तु ईश्वर साक्षी है, इस समय मैं अपने पिछले

शुष्क व्यवहार पर अत्यन्त लज्जित हूँ। मैंने जो कुछ किया, उसका प्रायश्चित्त यदि ये प्राण देकर हो सके, तो मैं करने को तैयार हूँ। मैं अंधा होगया था। मैं नहीं जानता, मुझे इस बात पर आश्चर्य है, कि मैंने कैसे तुमसे यह दुर्व्यवहार किया।"

इतना कहते-कहते मेरी आँखों से आँसू बहने लगे। मेरी हिचकी बँध गई। चमेली की आँखों से भी आँसुओं की धारा बहने लगी।

कुछ देर बाद उसने कहा—"यदि यह बात तुमने आज से कुछ दिनों पहले कही होती, तो कदाचित् मैं जीवित रहने की चेष्टा करती; परन्तु अब कुछ नहीं हो सकता।"

मैं चौंक पड़ा। मेरी आँखों के आगे अँधेरा आने लगा। मैंने चमेली का सिर अपनी गोद में रखकर कहा—"नहीं-नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। ऐसे समय में, जब मैं अपनी भूल पर पश्चात्ताप कर रहा हूँ, उसका प्रायश्चित्त करने के लिये तैयार हूँ, जब तुम मुझे संसार की समस्त मूल्यवान् चीज़ों से प्रिय होगई हो, तब मुझे छोड़कर जाना चाहती हो? नहीं प्रियतमे, ऐसा कभी नहीं हो सकता!"

चमेली एक आह भरकर बोली—"तुम्हारी इन बातों से मुझे मृत्यु से भय मालूम होता है। हृदय में जीने की उत्कट लालसा उत्पन्न होती है। अभी तक मैं प्रसन्नतापूर्वक मरने को तैयार थी; परन्तु अब तुम्हारी बातों से मुझे मरना दुखदायी प्रतीत होरहा है। नाथ, मेरा अन्त समय दुखदाई न बनाओ! मुझे इस प्रकार मरने में कष्ट होगा। तुम यही कहो, कि मैं तुमसे घृणा करता हूँ। उसी प्रकार उदासीन भाव रक्खो। मुझे विश्वास दिला दो, कि तुम्हें मेरे मरने से प्रसन्नता होगी, सुख

होगा, जिससे मुझे मृत्यु से भय न हो, मैं प्रसन्नतापूर्वक मरूँ ।"

दुःख और पश्चात्ताप से मेरा कंठ रुँध गया । मैं उसकी बात का कोई उत्तर न दे सका । चमेली ने कहा—"इस अन्त समय में मैं केवल एक भिक्षा तुमसे माँगती हूँ ।"

मैंने बड़ी कठिनता से कहा—"क्या ?"

चमेली—"मेरे ज्ञानू को कभी कुछ न कहना !"

इतना कहकर चमेली बेहोश होगई, फिर उसे अन्तिम श्वास तक होश न आया ।

ताई

१

"ताऊजी, हमें लेलगाड़ी (रेलगाड़ी) ला दोगे ?"—कहता हुआ एक पञ्चवर्षीय बालक बाबू रामजीदास की ओर दौड़ा ।

बाबू साहब ने दोनों बाहें फैलाकर कहा—"हाँ बेटा ला देंगे ।"

उनके इतना कहते-कहते बालक उनके निकट आगया । उन्होंने बालक को गोद में उठा लिया, और उसका मुख चूमकर बोले—"क्या करेगा रेलगाड़ी ?"

बालक बोला—"उसमें बैठकर बड़ी दूर जायँगे । हम भी जायँगे, चुन्नी को भी ले जायँगे । बाबूजी को नहीं ले जायँगे । हमें रेलगाड़ी नहीं ला देते । ताऊजी तुम ला दोगे, तो तुम्हें ले जायँगे ।"

बाबू—"और किसे ले जायगा ?"

बालक क्षण भर सोचकर बोला—"बस, और किसी को नहीं ले जायँगे ।"

पास ही बाबू रामजीदास की अर्द्धाङ्गिनी बैठी थीं। बाबू साहब ने उनकी ओर इशारा करके कहा—"और अपनी ताई को नहीं लेजायगा ?"

बालक कुछ देर तक अपनी ताई की ओर देखता रहा। ताईजी उस समय कुछ चिढ़ी हुई-सी बैठी थीं। बालक को उनके मुख का यह भाव अच्छा न लगा। अतएव वह बोला—"ताई को नहीं ले जायँगे।"

ताईजी सुपारी काटती हुई बोलीं—"अपने ताऊ को ही लेजा ! मेरे ऊपर दया रख !"

ताई ने यह बात बड़ी रुखाई के साथ कही। बालक ताई के शुष्क व्यवहार को तुरन्त ताड़ गया। बाबू साहब ने पूछा—"ताई को क्यों नहीं ले जायगा ?"

बालक—"ताई हमें प्याल (प्यार) नहीं करतीं।"

बाबू—"जो प्यार करे तो ले जायगा ?"

बालक को इसमें कुछ सन्देह था। ताई का भाव देखकर उसे यह आशा नहीं थी कि वह प्यार करेगी। इससे बालक मौन रहा।

बाबू साहब ने फिर पूछा—"क्यों रे, बोलता नहीं ? ताई प्यार करे तो, रेल पर बिठाकर ले जायगा ?"

बालक ने ताऊजी को प्रसन्न करने के लिये केवल सिर हिलाकर स्वीकार कर लिया; परन्तु मुख से कुछ नहीं कहा।

बाबू साहब उसे अपनी अर्द्धांगिनी के पास लेजा कर उनसे बोले—"लो, इसे प्यार करलो, यह तुम्हें भी ले जायगा।" परन्तु बच्चे की ताई श्रीमती रामेश्वरी को पति की यह चुहुलबाज़ी अच्छी न लगी। वह तुनककर बोलीं—"तुम्हीं रेल पर बैठकर जाओ, मुझे नहीं जाना है।"

बाबू साहब ने रामेश्वरी की बात पर ध्यान नहीं दिया। बच्चे को उनकी गोद में बिठाने की चेष्टा करते हुये बोले—"प्यार नहीं करोगी, तो फिर रेल में नहीं बिठावेगा।—क्यों रे मनोहर?"

मनोहर ने ताऊ की बात का उत्तर नहीं दिया। उधर ताई ने मनोहर को अपनी गोद से ढकेल दिया। मनोहर नीचे गिर पड़ा। शरीर में चोट नहीं लगी; पर हृदय में चोट लगी। बालक रो पड़ा।

बाबू साहब ने बालक को गोद में उठा लिया, चुमकार-पुचकारकर चुप किया, और तत्पश्चात् उसे कुछ पैसे तथा रेलगाड़ी ला देने का वचन देकर छोड़ दिया। बालक मनोहर भयपूर्ण दृष्टि से अपनी ताई की ओर ताकता हुआ उस स्थान से चला गया।

मनोहर के चले जाने पर बाबू रामजीदास रामेश्वरी से बोले—"तुम्हारा यह कैसा व्यवहार है? बच्चे को ढकेल दिया! जो उसके चोट लग जाती तो?"

रामेश्वरी मुँह लटकाकर बोलीं—"लग जाती, तो अच्छा होता। क्यों मेरी खोपड़ी पर लादे देते थे। आप ही तो उसे मेरे ऊपर डालते थे, और अब आप ही ऐसी बातें करते हैं।"

बाबू साहब कुढ़कर बोले—"इसी को खोपड़ी पर लादना कहते हैं?"

रामेश्वरी—"और नहीं किसे कहते हैं? तुम्हें तो अपने आगे और किसी का दुख-सुख सूझता ही नहीं। न-जाने कब किसका जी कैसा होता है। तुम्हें इन बातों की कुछ परवाह ही नहीं, अपनी चुहल से काम है।"

बाबू—"बच्चों की प्यारी-प्यारी बातें सुनकर तो चाहे जैसा जी हो

प्रसन्न हो जाता है। मगर तुम्हारा हृदय न-जाने किस धातु का बना हुआ है!"

रामेश्वरी—"तुम्हारा हो जाता होगा। और होने को होता भी है; मगर वैसा बच्चा भी तो हो! पराये धन से भी कहीं घर भरता है?"

बाबू साहब कुछ देर चुप रहकर बोले—"यदि अपना सगा भतीजा भी पराया धन कहा जा सकता है, तो फिर मैं नहीं समझता कि अपना धन किसे कहेंगे?"

रामेश्वरी कुछ उत्तेजित होकर बोलीं—"बातें बनाना बहुत आता है। तुम्हारा भतीजा है, तुम चाहे जो समझो; पर मुझे ये बातें अच्छी नहीं लगतीं। हमारे भाग ही फूटे हैं। नहीं तो ये दिन काहे को देखने पड़ते। तुम्हारा चलन तो दुनिया से निराला है। आदमी सन्तान के लिये न-जाने क्या-क्या करते हैं—पूजा-पाठ कराते हैं, व्रत रखते हैं, पर तुम्हें इन बातों से क्या काम? रात-दिन भाई-भतीजों में मगन रहते हो।"

बाबू साहब के मुख पर घृणा का भाव झलक आया। उन्होंने कहा—"पूजा-पाठ-व्रत सब ढकोसला है। जो वस्तु भाग्य में नहीं, वह पूजा-पाठ से कभी प्राप्त नहीं हो सकती। मेरा यह अटल विश्वास है।"

श्रीमतीजी कुछ रुआँसे स्वर में बोलीं—"इसी विश्वास ने तो सब चौपट कर रक्खा है! ऐसे ही विश्वास पर सब बैठ जायँ, तो काम कैसे चले? सब विश्वास पर ही बैठे रहें, आदमी काहे को किसी बात के लिये चेष्टा करे?"

बाबू साहब ने सोचा कि मूर्ख स्त्री के मुँह लगना ठीक नहीं। अत-एव वह स्त्री की बात का कुछ उत्तर न देकर वहाँ से टल गए।

२

बाबू रामजीदास धनी आदमी हैं। कपड़े की आढ़त का काम करते हैं। लेन-देन भी । इनके एक छोटा भाई है। उसका नाम है, कृष्णदास। दोनों भाइयों का परिवार एक ही में है। बाबू रामजीदास की आयु ३५ वर्ष के लगभग है, और छोटे भाई कृष्णदास की २१ के लगभग। राम-जीदास निस्सन्तान हैं। कृष्णदास के दो सन्तानें हैं। एक पुत्र—वही पुत्र, जिससे पाठक परिचित हो चुके हैं—और एक कन्या है। कन्या की आयु दो वर्ष के लगभग है।

रामजीदास अपने छोटे भाई और उनकी सन्तान पर बड़ा स्नेह रखते हैं—ऐसा स्नेह कि उसके प्रभाव से उन्हें अपनी सन्तान-हीनता कभी खटकती ही नहीं। छोटे भाई की सन्तान वे अपनी ही सन्तान समझते हैं। दोनों बच्चे भी रामजीदास से इतने हिले हैं कि उन्हें अपने पिता से भी अधिक समझते हैं।

परन्तु रामजीदास की पत्नी रामेश्वरी को अपनी सन्तान-हीनता का बड़ा दुःख है। वह दिन-रात सन्तान-ही-के सोच में घुला करती हैं। छोटे भाई की सन्तान पर पति का प्रेम उनकी आँखों में काँटे की तरह खटकता है।

रात को भोजन इत्यादि से निवृत्त होकर रामजीदास शय्या पर लेटे हुए शीतल और मन्द वायु का आनन्द ले रहे थे। पास ही दूसरी शय्या पर रामेश्वरी, हथेली पर सिर रक्खे, किसी चिन्ता में डूबी हुई

थीं। दोनों बच्चे अभी बाबू साहब के पास से उठकर अपनी माँ के पास गए थे।

बाबू साहब ने अपनी स्त्री की ओर करवट लेकर कहा—"आज तुम ने मनोहर को इस बुरी तरह से ढकेला था कि मुझे अब तक उसका दुःख है, कभी-कभी तो तुम्हारा व्यवहार बिलकुल ही अमानुषिक हो उठता है।"

रामेश्वरी बोलीं—"तुम्हीं ने ऐसा बना रक्खा है। उस दिन उस पण्डित ने कहा था कि हम दोनों के जन्म-पत्र में सन्तान का योग है, और उपाय करने से सन्तान भी हो सकती है, उसने उपाय भी बताए थे; पर तुमने उनमें से एक भी उपाय करके न देखा। बस, तुम तो इन्हीं दोनों में मगन हो। तुम्हारी इस बात से रात-दिन मेरा कलेजा सुलगता रहता है। आदमी उपाय तो करके देखता है। फिर होना-न-होना तो भगवान के आधीन है।"

बाबू साहब हँसकर बोले—"तुम्हारी-जैसी सीधी स्त्री भी......क्या कहूँ, तुम इन ज्योतिषियों की बातों पर विश्वास करती हो, जो दुनियाँ-भर के झूठे और धूर्त हैं! ये झूठ बोलने-ही-की रोटियाँ खाते हैं।"

रामेश्वरी तुनककर बोलीं—"तुम्हें तो सारा संसार झूठा ही दिखाई पड़ता है। ये पोथी-पुराण भी सब झूठे हैं? पण्डित कुछ अपनी तरफ से तो बना कर कहते ही नहीं हैं; शास्त्र में जो लिखा है, वही वे भी कहते हैं। शास्त्र झूठा है, तो वे भी झूठे हैं। अँगरेजी क्या पढ़ी, अपने आगे किसी को गिनते ही नहीं। जो बातें बाप-दादों के जमाने से चली आई हैं, उन्हें भी झूठा बताते हैं।"

बाबू साहब—"तुम बात तो समझती ही नहीं, अपनी ही छोटे जाती हो। मैं यह नहीं कहता कि ज्योतिष शास्त्र झूठा है। संभव है, वह सच्चा हो। परन्तु ज्योतिषियों में अधिकांश झूठे होते हैं। उन्हें ज्योतिष का पूर्ण ज्ञान तो होता नहीं, दो-एक छोटी-मोटी पुस्तकें पढ़कर ज्योतिषी बन बैठते हैं, और लोगों को ठगते फिरते है। ऐसी दशा में उन पर कैसे विश्वास किया जा सकता है?"

रामेश्वरी—"हूँ—सब झूठे ही हैं, तुम्हीं एक सच्चे हो! अच्छा, एक बात पूछती हूँ, भला तुम्हारे जी में सन्तान की इच्छा क्या कभी नहीं होती?"

इस बार रामेश्वरी ने बाबू साहब के हृदय का कोमल स्थान पकड़ा। वह कुछ देर चुप रहे। तत्पश्चात् एक लम्बी साँस लेकर बोले—"भला ऐसा कौन मनुष्य होगा, जिस के हृदय में संतान का मुख देखने की इच्छा न हो? परन्तु किया क्या जाय? जब नहीं है, और न होने की आशा ही है, तब उसके लिये व्यर्थ चिन्ता करने से क्या लाभ? इस के सिवा, जो बात अपनी सन्तान से होती, वही भाई की संतान से भी हो रही है। जितना स्नेह अपनी पर होता, उतना ही इन पर भी है। जो आनन्द उनकी बाल-क्रीड़ा से आता, वही इनकी क्रीड़ा से भी आ रहा है। फिर मैं नहीं समझता कि चिन्ता क्यों की जाय।"

रामेश्वरी कुछ कुढ़कर बोलीं—"तुम्हारी समझ को मैं क्या कहूँ! इसी से तो रात-दिन जला करती हूँ। भला यह बताओ कि हमारे पीछे क्या इन्हीं से तुम्हारा नाम चलेगा?"

बाबू साहब हँसकर बोले—"अरे, तुम भी कहाँ की पोच बातें

जाईं। नाम संतान से नहीं चलता। नाम अपनी सुकृति से चलता है। तुलसीदास को देश का बच्चा-बच्चा जानता है। सूरदास को मरे कितने दिन हो चुके? इसी प्रकार कितने महात्मा हो गए हैं, उन सब का नाम क्या उनकी संतान ही की बदौलत चल रहा है? सच पूछो, तो संतान से जितनी नाम चलने की आशा रहती है, उतनी नाम डूब जाने की भी संभावना रहती है। परन्तु सुकृति एक ऐसी वस्तु है, जिस से नाम बढ़ने के सिवा घटने की कभी आशंका रहती ही नहीं। हमारे शहर में राय गिरधारीलाल कितने नामी आदमी थे? उनके संतान कहाँ है? पर उनकी धर्मशाला और अनाथालय से उनका नाम अब तक चला जा रहा है, और अभी न-जाने कितने दिनों तक चला जायगा।"

रामेश्वरी—"शास्त्र में लिखा है, जिसके पुत्र नहीं होता, उस की मुक्ति नहीं होती?"

बाबू—"मुक्ति पर मुझे विश्वास ही नहीं। मुक्ति है किस चिड़िया का नाम? यदि मुक्ति होना मान भी लिया जाय, तो यह कैसे माना जा सकता है कि सब पुत्रवालों की मुक्ति हो ही जाती है? मुक्ति का भी क्या सहज उपाय है। ये जितने पुत्रवाले हैं, सभी को तो मुक्ति हो ही जाती होगी?"

रामेश्वरी निरुत्तर होकर बोलीं—"अब तुम से कौन बकवाद करे। तुम तो अपने सामने किसी को मानते ही नहीं।"

२

मनुष्य का हृदय बड़ा ममत्व-प्रेमी है। कैसी ही उपयोगी और कितनी ही सुन्दर वस्तु क्यों न हो, जब तक मनुष्य उसको पराई सम-

झता है, तब तक उससे प्रेम नहीं करता। किन्तु भद्दी-से-भद्दी और काम में न आनेवाली वस्तु को भी यदि मनुष्य अपनी समझता है, तो उससे प्रेम करता है। पराई वस्तु कितनी ही मूल्यवान् क्यों न हो, कितनी ही उपयोगी क्यों न हो, कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, उसके नष्ट होने पर मनुष्य कुछ भी दुःख का अनुभव नहीं करता, इसलिये कि वह वस्तु उसकी नहीं, पराई है। अपनी वस्तु कितनी ही भद्दी हो, काम में न आनेवाली हो, उसके नष्ट होने पर मनुष्य को दुःख होता है, इसलिये कि वह अपनी चीज़ है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मनुष्य पराई चीज़ से प्रेम करने लगता है। ऐसी दशा में भी जब तक मनुष्य उस वस्तु को अपनी बनाकर नहीं छोड़ता, अथवा अपने हृदय में यह विचार नहीं दृढ़ कर लेता कि यह वस्तु मेरी है, तब तक उसे सन्तोष नहीं होता। ममत्व से प्रेम उत्पन्न होता है, प्रेम से ममत्व। इन दोनों का साथ चोली-दामन का-सा है। ये कभी पृथक् नहीं किये जा सकते।

यद्यपि रामेश्वरी को माता बनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था, तथापि उनका हृदय एक माता का हृदय बनने की पूरी योग्यता रखता था। उनके हृदय में वे गुण विद्यमान तथा अंतर्निहित थे, जो एक माता के हृदय में होते हैं; परन्तु उनका विकास नहीं हुआ था। उनका हृदय उस भूमि की तरह था, जिसमें बीज तो पड़ा हुआ है, पर उसको सींचकर और इस प्रकार बीज को प्रस्फुटित करके भूमि के ऊपर लानेवाला कोई नहीं। इसलिये उनका हृदय उन बच्चों की ओर खिंचता तो था, परन्तु जब उन्हें ध्यान आता था कि ये बच्चे मेरे नहीं, दूसरे के हैं, तब उनके हृदय में उनके प्रति द्वेष उत्पन्न होता था, घृणा पैदा होती थी।

विशेषकर उस समय उनके द्वेष की मात्रा और भी बढ़ जाती थी, जब वह देखती थी कि उनके पति-देव उन बच्चों पर प्राण देते हैं, जो उनके (रामेश्वरी के) नहीं हैं।

शाम का समय था। रामेश्वरी खुली छत पर बैठी हवा खा रही थीं। पास ही उनके देवरानी भी बैठी थी। दोनों बच्चे छत पर दौड़कर खेल रहे थे। रामेश्वरी उनके खेलों को देख रही थी। इस समय रामेश्वरी को उन बच्चों का खेलना-कूदना बड़ा भला मालूम हो रहा था। हवा में उड़ते हुए उनके बाल, कमल की तरह खिले हुए उनके नन्हें-नन्हें मुख, उनकी प्यारी-प्यारी तोतली बातें उनका चिल्लाना, भागना, लौट जाना इत्यादि क्रीड़ायें उनके हृदय को शीतल कर रही थीं। सहसा मनोहर अपनी बहन को मारने दौड़ा। वह खिलखिलाती हुई दौड़कर रामेश्वरी की गोद में जा गिरी। उसके पीछे-पीछे मनोहर भी दौड़ता हुआ आया, और वह भी उन्हीं की गोद में जा गिरा। रामेश्वरी उस समय सारा द्वेष भूल गईं। उन्होंने दोनों बच्चों को उसी प्रकार हृदय से लगा लिया, जिस प्रकार वह मनुष्य लगाता है, जो कि बच्चों के लिये तरस रहा हो। उन्होंने बड़ी सतृष्णता से दोनों को प्यार किया। उस समय यदि कोई अपरिचित मनुष्य उन्हें देखता, तो उसे यही विश्वास होता कि रामेश्वरी ही उन बच्चों की माता हैं।

दोनों बच्चे बड़ी देर तक उनकी गोद में खेलते रहे। सहसा उसी समय किसी के आने की आहट पाकर बच्चों की माता वहाँ से उठकर चली गईं।

"मनोहर, ले रेलगाड़ी।"—कहते हुए बाबू रामजीदास छत पर आये।

उनका स्वर सुनते ही दोनों बच्चे रामेश्वरी के गोद से तड़पकर निकल भागे। रामजीदास ने पहले दोनों को खूब प्यार किया, फिर बैठकर रेल-गाड़ी दिखाने लगे।

इधर रामेश्वरी की नींद-सी टूटी। पति को बच्चों में मगन होते देखकर उनकी भवें तन गईं। बच्चों के प्रति फिर वही घृणा और द्वेष का भाव जग उठा।

बच्चों को रेलगाड़ी देकर बाबू साहब रामेश्वरी के पास आए, और मुसकिराकर बोले—"आज तो तुम बच्चों को बड़ा प्यार कर रही थीं! इससे मालूम होता है कि तुम्हारे हृदय में भी इनके प्रति कुछ प्रेम अवश्य है।"

रामेश्वरी को पति की यह बात बहुत बुरी लगी। उन्हें अपनी कम-ज़ोरी पर बड़ा दुःख हुआ। केवल दुःख ही नहीं, अपने ऊपर क्रोध भी आया। वह दुःख और क्रोध पति के उक्त वाक्य से और भी बढ़ गया। उनकी कमज़ोरी पति पर प्रकट हो गई, यह बात उनके लिये असह्य हो उठी।

रामजीदास बोले—"इसीलिये मैं कहता हूँ कि अपनी सन्तान के लिये सोच करना वृथा है। यदि तुम इनसे प्रेम करने लगो, तो तुम्हें ये ही अपनी सन्तान प्रतीत होने लगेंगे। मुझे इस बात से प्रसन्नता है कि तुम इनसे स्नेह करना सीख रही हो।"

यह बात बाबू साहब ने नितान्त शुद्ध हृदय से कही थी, परन्तु रामेश्वरी को इसमें व्यंग की तीक्ष्ण गन्ध मालूम हुई। उन्होंने कुढ़कर मन में कहा—इन्हें मौत भी नहीं आती। मर जायँ, पाप कटे! आठों-

पहर आँखों के सामने रहने से प्यार करने को जी ललचा ही उठता है। इनके मारे कलेजा और भी जला करता है।"

बाबू साहब ने पत्नी को मौन देखकर कहा—"अब झेंपने से क्या लाभ? अपने प्रेम को छिपाना व्यर्थ है। छिपाने की आवश्यकता भी नहीं!"

रामेश्वरी जल-भुनकर बोलीं—"मुझे क्या पड़ी, जो मैं प्रेम करूँगी? तुम्हीं को मुबारक रहे! निगोड़े आप ही आ-आकर घुसते हैं। एक घर में रहने से कभी-कभी हँसना-बोलना ही पड़ता है। अभी परसों ज़रा यों-ही ढकेल दिया उस पर तुमने सैकड़ों बातें सुनाईं। संकट में प्राण हैं; न यों चैन, न यों चैन।"

बाबू साहब को पत्नी के वाक्य सुनकर बड़ा क्रोध आया। उन्होंने कर्कश स्वर में कहा—"न-जाने कैसे हृदय की स्त्री है। अभी अच्छी-ख़ासी बैठी बच्चों को प्यार कर रही थी। मेरे आते ही गिरगिट की तरह रङ्ग बदलने लगी। अपनी इच्छा से चाहे जो करे, पर कहने से बल्लियों उछलती है। न-जाने मेरी बातों में कौन-सा विष घुला रहता है। यदि मेरा कहना ही बुरा मालूम होता है, तो न कहा करूँगा। इतना याद रखो कि अब जो कभी इनके विषय में निगोड़े-सिगोड़े अपशब्द निकाले, तो अच्छा न होगा! तुमसे मुझे बच्चे कहीं अधिक प्यारे हैं।"

रामेश्वरी ने इसका कोई उत्तर न दिया। अपने क्षोभ तथा क्रोध को वह आँखों द्वारा निकालने लगीं।

जैसे-ही-जैसे बाबू रामजीदास का स्नेह दोनों बच्चों पर बढ़ता जाता

था, वैसे-ही-वैसे रामेश्वरी के द्वेष और घृणा की मात्रा भी बढ़ती जाती थी। प्रायः बच्चों के पीछे पति-पत्नी में कहा-सुनी हो जाती थी, और रामेश्वरी को पति के कटुवचन सुनने पड़ते थे। जब रामेश्वरी ने यह देखा कि बच्चों के कारण वह पति की नज़रों से गिरती जा रही है, तब उनके हृदय में बड़ा तूफ़ान उठा। उन्होंने सोचा—पराए बच्चों के पीछे यह मुझसे प्रेम कम करते जाते हैं, मुझे हर समय बुरा-भला कहा करते हैं। इनके लिये बच्चे ही सब-कुछ हैं, मैं कुछ भी नहीं! दुनियाँ मरती जाती है, पर इन दोनों को मौत नहीं। ये पैदा होते ही क्यों न मर गये। न होते, न मुझे ये दिन देखने पड़ते। जिस दिन ये मरेंगे, उस दिन घी के चिराग़ जलाऊँगी। इन्होंने ही मेरा घर सत्यानाश कर रक्खा है।

इसी प्रकार कुछ दिन व्यतीत हुए। एक दिन नियमानुसार रामेश्वरी छत पर अकेली बैठी हुई थीं। उनके हृदय में अनेक प्रकार के विचार आ रहे थे। विचार और कुछ नहीं, वही अपनी निज की सन्तान का अभाव, पति का भाई की सन्तान के प्रति अनुराग—इत्यादि। कुछ देर बाद उनके विचार स्वयं कष्ट-दायक प्रतीत होने लगे। तब वह अपना ध्यान दूसरी ओर लगाने के लिये उठकर टहलने लगीं।

वह टहल रही थीं कि मनोहर दौड़ता हुआ आया। मनोहर को देखकर उनकी भ्रुकुटि चढ़ गई, और वे छत की चहारदिवारी पर हाथ रखकर खड़ी हो गईं।

सन्ध्या का समय था। आकाश में रंग-बिरंगी पतंगें उड़ रही थीं। मनोहर कुछ देर तक खड़ा पतंगों को देखता और सोचता रहा कि कोई

पतंग कटकर उसकी छत पर गिरे, तो क्या ही आनन्द आवे। देर तक पतंग गिरने की आशा करने के बाद वह दौड़कर रामेश्वरी के पास आया, और उनकी टाँगों में लिपटकर बोला—"ताई, हमें पतङ्ग मँगादो।" रामेश्वरी ने झिड़ककर कहा—"चल हट, अपने ताऊ से माँग लाकर।"

मनोहर कुछ अप्रतिभ होकर फिर आकाश की ओर ताकने लगा। थोड़ी देर बाद उससे फिर न रहा गया। इस बार उसने बड़े लाड़ में आकर अत्यन्त करुण स्वर में कहा—"ताई, पतङ्ग मँगा दो; हम भी उड़ावेंगे।"

इस बार उसकी भोली प्रार्थना से रामेश्वरी का कलेजा कुछ पसीज गया। वह कुछ देर तक उसकी ओर स्थिर दृष्टि से देखती रहीं। फिर उन्होंने एक लम्बी साँस लेकर मन-ही-मन कहा—यदि यह मेरा पुत्र होता, तो आज मुझसे बढ़कर भाग्यवान् स्त्री संसार में दूसरी न होती। निगोड़-मारा कितना सुन्दर है, और कैसी प्यारी-प्यारी बातें करता है। यही जी चाहता है कि उठाकर छाती से लगा लें।

यह सोचकर वह उसके सिर पर हाथ फेरनेवाली ही थीं कि इतने में मनोहर उन्हें मौन देखकर बोला—"तुम हमें पतंग नहीं मँगवा दोगी, तो ताऊजी से कहकर तुम्हें पिटवायेंगे।"

यद्यपि बच्चे की इस भोली बात में भी बड़ी मधुरता थी, तथापि रामेश्वरी का मुख क्रोध के मारे लाल होगया। वह उसे झिड़ककर बोलीं—"जा कहदे अपने ताऊजी से। देखूँ, वह मेरा क्या करेंगे!"

मनोहर भयभीत होकर उनके पास से हट आया, और फिर सतृष्ण नेत्रों से आकाश में उड़ती हुई पतंगों को देखने लगा।

इधर रामेश्वरी ने सोचा - यह सब ताऊजी के दुलार का फल है कि बालिश्त-भर का लड़का मुझे धमकाता है। ईश्वर करे, इस दुलार पर बिजली टूटे।

उसी समय आकाश से एक पतंग कटकर उसी छत की ओर आई, और रामेश्वरी के ऊपर से होती हुई छज्जे की ओर गई। छत के चारों ओर चहारदिवारी थी। जहाँ रामेश्वरी खड़ी हुई थीं, केवल वहीं पर एक द्वार था, जिससे छज्जे पर आ-जा सकते थे। रामेश्वरी इस द्वार से सटी हुई खड़ी थी। मनोहर ने पतंग को छज्जे पर जाते देखा। पतंग पकड़ने के लिये वह दौड़कर छज्जे की ओर चला। रामेश्वरी खड़ी देखती रहीं। मनोहर उनके पास होकर छज्जे पर चला गया, और उनसे दो फ़ीट की दूरी पर खड़ा होकर पतंग को देखने लगा। पतंग छज्जे पर से होती हुई नीचे, घर के आँगन में, जा गिरी। एक पैर छज्जे की मुँडेर पर रखकर मनोहर ने नीचे आँगन में झाँका, और पतंग को आँगन में गिरते देख प्रसन्नता के मारे फूला न समाया। वह नीचे जाने के लिए शीघ्रता से घूमा; परन्तु घूमते समय मुँडेर पर से उसका पैर फिसल गया। वह नीचे की ओर चला। नीचे जाते-जाते उसके दोनों हाथों में मुँडेर आ गई। वह उसे पकड़कर लटक गया, और रामेश्वरी की ओर देख-कर चिल्लाया—"ताई!" रामेश्वरी ने धड़कते हुए हृदय से इस घटना को देखा। उनके मन में आया कि अच्छा है, मरने दो, सदा का पाप कट जायगा। यही सोचकर वह एक क्षण के लिए रुकीं। उधर मनोहर के हाथ मुँडेर पर से फिसलने लगे। वह अत्यन्त भय तथा करुण नेत्रों से रामेश्वरी की ओर देखकर चिल्लाया—"अरी ताई!" रामेश्वरी की आँखें मनोहर की

आँखों से जा मिलीं। मनोहर की वह करुण दृष्टि देखकर रामेश्वरी का कलेजा मुँह को आ गया। उन्होंने व्याकुल होकर मनोहर को पकड़ने के लिये अपना हाथ बढ़ाया। उनका हाथ मनोहर के हाथ तक पहुँचा भी नहीं था कि मनोहर के हाथ से मुँडेर छूट गई। वह नीचे आ गिरा। रामेश्वरी चीख़ मारकर छज्जे पर गिर पड़ीं।

रामेश्वरी एक सप्ताह तक बुख़ार में बेहोश पड़ी रहीं। कभी-कभी वह ज़ोर से चिल्ला उठतीं, और कहतीं—"देखो देखो, वह गिरा जा रहा है—उसे बचाओ—दौड़ो—मेरे मनोहर को बचा लो।" कभी वह कहतीं—"बेटा मनोहर, मैंने तुझे नहीं बचाया। हाँ, हाँ, मैं चाहती, तो बचा सकती थी—मैंने देर कर दी।" इसी प्रकार के प्रलाप वह किया करतीं। मनोहर की टाँग उखड़ गई थी। टाँग बिठा दी गई। वह क्रमशः फिर अपनी असली हालत पर आने लगा।

एक सप्ताह बाद रामेश्वरी का ज्वर कम हुआ। अच्छी तरह होश आने पर उन्होंने पूछा—"मनोहर कैसा है?"

रामजीदास ने उत्तर दिया—"अच्छा है।"

रामेश्वरी—"उसे मेरे पास लाओ।"

मनोहर रामेश्वरी के पास लाया गया। रामेश्वरी ने उसे प्यार से हृदय से लगाया। आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। हिचकियों से गला बँध गया।

रामेश्वरी कुछ दिनों बाद पूर्ण स्वस्थ हो गईं। अब मनोहर की बहन चुन्नी से भी द्वेष और घृणा नहीं करतीं। और मनोहर तो अब उनका प्राणाधार हो गया है। उसके बिना उन्हें एक क्षण भी कल नहीं पड़ती।

श्री राजा राधिकारमण सिंह

जन्मकाल	रचनाकाल
१९४७ वि०	१९१३ ई०

कानों में कंगना

१

"किरण ! तुम्हारे कानों में यह क्या है ?"

उसने कानों से चञ्चल लट को हटाकर कहा —"कङ्गना"

सचमुच दो कङ्गन कानों को घेरकर बैठे थे ।

"अरे कानों में कङ्गना ?"

"हाँ—तब कहाँ पहिनूँ ?"

किरण अभी भोली थी । दुनियाँ में जिसे भोली कहते हैं, वैसी भोली नहीं; उसे वन के फूलों का भोलापन समझो । नवीन चमन के फूलों की भङ्गी नहीं;—विविध खाद या रस से जिनकी जीविका है, निरन्तर काट-छाट से जिनका सौन्दर्य है, जो दो घड़ी चञ्चल, चिकने बालों की भूषा हैं, जो दो घड़ी तुम्हारे फूलदान के गौरव हैं, वैसे, वन के फूल"

ऐसे नहीं। प्रकृति के हाथों से लगी है, मेघों की धारा से बढ़ी है, चतुर दृष्टि उसे पाती नहीं, जगत्-वायु उसे छूती नहीं। वह सरल, सुन्दर, सौरभमय जीवन है। जब जीवित रहे तब चारों तरफ़ अपने प्राण-धन से हरे-भरे रखे; जब समय आया तब अपनी माँ के गोद में झर पड़े।

आकाश स्वच्छ था—नील, उदार, सुन्दर। पत्ते चुप थे, शान्त थे। सन्ध्या होचली थी। सुनहली किरणें सुन्दर पर्वत की चूड़ा से देख रही थीं। वह पतली किरण अपनी मृत्यु-शय्या से इस शून्य, निविड़ कानन में क्या ढूँढ़ रही थी—कौन कहे? किसे एकटक देखती थी—कौन जाने? अपनी लीला-भूमि को सस्नेह करुण चाहती थी या हमारे बाद वहाँ क्या हो रहा है, इसे चाहती थी? मैं क्या बता सकता हूँ? उन आँखों में आकांक्षा अवश्य थी। मैं तो खड़ा-खड़ा उन बड़ी-बड़ी आँखों की किरण चूमता था। आकाश में तारोंको देखा, या उन मनोहर आँखों को देखा, बात एक ही थी। हम दूर से तारों के सुन्दर, शून्य झिकमिक को बार-बार देखते हैं, लेकिन वह निःस्पन्द, निश्चेष्ट ज्योति सचमुच भावहीन है, या आप-ही-आप अपनी अन्तर-लहरी में मस्त है, इसे जानना आसान नहीं। हमारी ऐसी आँखें कहाँ कि, उनके सहारे उस निगूढ़ अन्तर में डूबकर थाह लें?

मैं रसाल की डाली थामकर पास ही खड़ा था। वह बालों को हटा-कर कँगना दिखाने की भंगी भावों में रह-रहकर उठती थी। जब माखन चुरानेवाले ने गोपियों के सर के मटके को तोड़कर उनके भीतरी स्नेह को तोड़ डाला, या नूरजहाँ ने अंचल से कबूतर को उड़ाकर शाहंशाह के कठोर हृदय की धज्जियाँ उड़ा दीं; फिर नदी-किनारे बसन्त-कुसुम

रसाल-पल्लवों की छाया में बैठी किसी अपरूप बालिका की सरल, स्निग्ध लीला एक मानव अन्तर पर क्यों न दौड़े ? किरण इन आँखों के सामने प्रति दिन आती ही जाती थी। कभी आम के टिकोरे से आँचल भर लाती, कभी मौलसरी के फूलों की माला बना लाती, किन्तु कभी भी ऐसी बाल-सुलभ लीला आँखों से होकर हृदय तक नहीं उतरी। आज क्या था ? कौन शुभ या अशुभ क्षण था कि अचानक वह बनैली लता मन्दार माला से भी कहीं मनोरम दीख पड़ी ? कौन जानता था कि खाल से कुचाल जाने में, हाथों के कंगन भूलकर कानों में पहिनने में इतनी माधुरी थी, दो टके के कँगनों में ऐसी शक्ति है ! गोपियों को कभी स्वप्न में भी न झलका था कि बाँस की बाँसुरी में घूँघट खोलकर नचा देने की शक्ति है।

मैंने चटपट उस के कानों से कंगन उतार लिया, फिर धीरे धीरे उसकी उँगलियों पर चढ़ाने लगा। न-जाने उस घड़ी कैसी सनसनी थी, मुँह से अचानक निकल आया—

"किरण ! आज की यह घटना मुझे मरते दम तक न भूलेगी। यह, भीतर तक पैठ गयी।"

उसकी बड़ी-बड़ी आँखें और भी बड़ी हो गयीं। मुझे चोट-सी लगी। मैं तत्काल योगीश्वर की कुटी की ओर चल पड़ा। प्राण भी उसी समय नहीं चल पड़े, यही विस्मय था।

२

एक दिन था कि इस दुनिया में दुनियाँ से दूर रहकर भी लोग दूसरी दुनियाँ का सुख उठाते थे। हरिचन्दन के पल्लवों की छाया

भूलोक पर कहाँ मिले, किन्तु किसी समय हमारे यहाँ भी ऐसे बन थे जिनके वृक्षों की छाया में दो घड़ी घाम निवारने के लिये स्वर्ग से देवता तक उतर आते थे। जिस पञ्चवटी के अनन्त यौवन को देखकर राम की आँखें भी खिल उठी थीं, वहाँ के निवासियों ने अमर-तरु के सुन्दर फूलों की माला नहीं चाही, मन्दाकिनी के छींटों की शीतलता नहीं ढूँढ़ी। वृन्दावन का सानी कहीं तब भी था? कल्प-वृक्ष की छाया में शान्ति अवश्य है; लेकिन कदम्ब की छाँह की शान्ति कहाँ मिल सकती है? हमारी-तुम्हारी आँखों ने कभी नन्दोत्सव की लीला नहीं देखी, लेकिन इसी भूतल पर एक दिन ऐसा उत्सव हो चुका है, जिसको देख-देखकर प्रकृति-रजनी ६ महीने तक ठगी रही, शत-शत देवाङ्गनाओं ने, पारिजात के फूलों की वर्षा से नन्दन कानन को उजाड़ डाला।

समय ने सब-कुछ पलट दिया। अब ऐसे बन नहीं, जहाँ कृष्ण गो-लोक से उतरकर दो घड़ी वंशी टेर दें। ऐसे कुटीर नहीं, जिनके दर्शन से रामचन्द्र का अन्तर भी प्रसन्न हो, या ऐसे मुनीश नहीं, जो धर्मधुरन्धर धर्मराज को भी धर्म में शिक्षा दें।

यदि एक-दो भूले-भटके हैं भी, तब अभी तक उन पर दुनियाँ का पर्दा नहीं पड़ा—जगन्माया की माया नहीं लगी। लेकिन कबतक बचे रहेंगे? लोक अपने यहाँ अलौकिक बातें कब तक होने देगा?

हृषीकेश के पास एक सुन्दर बन है; सुन्दर नहीं अपरूप सुन्दर है। वह प्रमद-बन के विलास-निकुञ्जों से सुन्दर नहीं, वरंच चित्रकूट या पंचवटी की महिमा से मण्डित है। वहाँ चाँदनी

में बैठकर कनक-घुँघरू की इच्छा नहीं होती, रंच प्राणों में ऐसी आवेग-धारा उठती है, जो कभी अनन्त साधना के कूल पर पहुँचाती है, कभी जीव-जगत् के एक-एक तत्व से दौड़ मिलाती है। गङ्गा की अनन्त गरिमा, वन की निविड़ योग-निद्रा नहीं देख पड़ेगी। कौन कहे वहाँ जाकर यह चंचल चित्त क्या चाहता है; गम्भीर अलौकिक आनन्द, या शान्त सुन्दर मरण ?

इसी वन में एक कुटी बनाकर योगीश्वर रहते थे। योगीश्वर, योगीश्वर ही थे।

यद्यपि वह भू-तल ही पर रहते थे, तथापि उन्हें इस लोक का जीव कहना यथार्थ नहीं था। उनकी चित्तवृत्ति सरस्वती के श्रीचरणों में थी या ब्रह्म-लोक की अनन्त शान्ति में लिपटी थी, और वह बालिका स्वर्ग से एक किरण उतरकर उस घने जंगल में उजेला करती फिरती थी। वह लौकिक-माया-बद्ध जीवन नहीं था। उसे बन्धन-रहित, बाधाहीन नाचती किरणों की रेखा कहिये। मानों मत्त, चंचल मलय-वायु फूल-फूल पर, डाली-डाली पर डोलती फिरती हो, या कोई मूर्तिमती अमर संगीत बे रोक-टोक हवा पर या जल के तरंग-भंग पर नाच रही हो। मैं ही वहाँ इस लोक का प्रतिनिधि था, मैं ही उन्हें उनकी अलौकिक स्थिति से इस जटिल मर्त्यराज में खींच लाता था।

कोई साल-भर से मैं योगीश्वर के यहाँ आता-जाता था। पिता की रुचि थी कि उनके यहाँ जाकर अपने धर्म के ग्रन्थ सब पढ़ जाओ। योगीश्वर और बाबा लड़कपन के साथी थे, इसलिये उनकी मुझ पर

कुटी में रहता था। किरण उनकी लड़की थी, उस कुटीर म एक बड़ी दीपक थी। जिस दिन की घटना मैं लिख आया हूँ, उसी दिन सवेरे मेरे अध्ययन की पूर्णाहुति थी, और मैं बाबा के कहने पर एक जोड़ा पीताम्बर, पाँच स्वर्ण-मुद्रा तथा किरण के लिये दो कनक-कङ्कन आचार्य के निकट लेगया था। योगीश्वर ने सब लौटा दिया, केवल कङ्कन को किरण उठा लेगई। मैं नहीं मालूम, क्या समझकर चुप रह गये। समय का अद्भुत चक्र है। जिस दिन मैंने धर्म-ग्रन्थ से मुँह मोड़ा, उसी दिन कामदेव के यहाँ जाकर उनकी किताब का पहला पन्ना उलटा।

दूसरे दिन मैं योगीश्वर से मिलने गया। वह किरण को पास बिठाकर न जाने क्या-क्या पढ़ा रहे थे। उनकी आँखें गम्भीर थीं! मुझको देखते ही वह उठ खड़े और मेरे कन्धे पर हाथ रखकर गद्गद स्वर से बोले—"नरेन्द्र! अब मैं चला, किरण तुम्हारे हवाले है।" यह कहकर उन्होंने उसकी सुकोमल अँगुलियों को मेरे हाथ में रख दिया। लोचनों के कोनों पर दो बूँदें निकलकर झाँक पड़ीं। मैं सहम उठा। क्या उन पर सब बातें विदित थीं? क्या उनकी तीव्र दृष्टि मेरी अन्तर्रेखा तक छू चुकी थी? वे ठहरे नहीं, चल दिये। मैं काँपता रह गया। किरण देखती रह गई।

वन-वायु भी अवाक् हो गई। हम दोनों चल पड़े। किरण मेरे कन्धे पर हाथ रक्खे थी। हठात् अन्तर से कोई कड़ककर कह उठा— "हाय नरेन्द्र, यह क्या? तुम इस वन-फूल को किस उद्यान में ले चले? इस बन्धन-विहीन स्वर्गीय जीवन को किस लोक-जाल में बाँधने ले चले?"

५

कङ्कड़ी जल में जाकर कोई स्थाई विवर नहीं फोड़ सकती। क्षण-भर जल का समतल भले ही उलट-पुलट हो, लेकिन इधर-उधर से जल-तरंग दौड़कर किसी छिद्र का चिन्ह-मात्र भी नहीं रहने देते। जगत् की भी यही चाल है। यदि स्वर्ग से देवेन्द्र भी आकर इस लोक-चला-चल से खड़े हों, फिर संसार देखते ही-देखते उन्हें अपना बना लेगा। इस काली कोठरी में आकर इसकी कालिमा से बचा रहे, ऐसी शक्ति अब आकाश-कुसुम ही समझो। दो दिन में राम 'हाय जानकी' कहकर वन-वन भटकते फिरे। दो क्षण में यही विश्वामित्र को स्वर्ग से घसीट लाया।

किरण की भी यही अवस्था हुई। कहाँ प्रकृति की निर्मुक्त गोद कहाँ जगत् का जटिल बन्धन-पाश!—कहाँ-से-कहाँ आ पड़ी। वह अलौकिक भोलापन, वह निर्मल उच्छ्वास हाथों-हाथ लुट गये। उस वन की मायावी मनोहारिता में परिणत हुई। अब आँखें उठाकर आकाश से नीरव बात-चीत करने का अवसर कहाँ से मिले, मलय-वायु से मिलकर मलयाचल के फूलों की पूछ-ताछ क्योंकर हो?

जब किरण नये साँचे में ढलकर उतरी, उसे पहचानना भी कठिन था। अब वह लाल, पीली, हरी साड़ी पहिनकर सर पर सिन्दूर-रेखा सजती; और हाथों में कङ्कन, कानों में बाली, गले में कंठी तथा कमर में करधनी दिन-दिन उसके चित्त को लुभाये रखती थीं। जब कभी वह सज-धजकर चाँदनी में कोठे पर जाती और वसन्त-वायु उसके आँचल से मोतियों की लपट लाकर मेरे बरामदे में भर देती; उस समय किसी

मतवाली माधुरी या तीव्र मदिरा के नशे से मेरा मस्तिष्क घूम जाता और मैं चटपट अपना प्रेम-चीत्कार फूलदार रंगीन चिट्ठी में भरकर जुही के हाथ ऊपर भिजवाता, या बाज़ार से दौड़कर कटकी गहने या विलायती चूड़ी ख़रीद लाता। लेकिन जो हो, अब भी कभी-कभी उसके प्रफुल्ल बदन पर उस आलोक की छटा पूर्व जन्म की सुख स्मृतिवत् चली आती थी और आँखें उसी जीवन्त सुन्दर झिलमिल का नाच दिखाती थीं। जब अन्तर प्रसन्न था तब, बाहरी चेष्टा पर प्रतिबिम्ब क्यों न पड़े।

योंही साल-दो-साल मुरादाबाद में कट गये। एक दिन मोहन के यहाँ नाच देखने गया। वहीं किन्नरी से आँख मिली; मिली क्या, लीन हो गई। नवीन यौवन, कोकिल-कण्ठ, चतुर चंचल चेष्टा तथा मायावी चकमक—अब चित्त को चलाने के लिए और क्या चाहिये। किन्नरी सचमुच किन्नरी ही थी। नाचनेवाली नहीं नचानेवाली थी। पहली बार देखकर उसे इस लोक की सुन्दरी समझना दुस्तर था—एक लपट-सी लगती—कोई नशा-सा चढ़ जाता। यारों ने मुझे और भी चढ़ा दिया। आँखें मिलती-मिलती मिल गईं। हृदय को भी साथ-साथ घसीट ले गईं।

फिर क्या था—इतने दिनों की धर्म-शिक्षा, शत वत्सर की पूज्या लक्ष्मी, बाप-दादों की कुल-प्रतिष्ठा, पत्नी से पवित्र प्रेम—एक-एक करके ये सब उस प्रदीप्त वासना-कुण्ड में भस्म होने लगे। अग्नि और भी बढ़ती गई। किन्नरी की चिकनी दृष्टि, चिकनी बातें घी बरसाती रहीं। घर-बार सब जल उठा। मैं भी निरन्तर जलने लगा; लेकिन ज्यों-ज्यों जलता गया, जलने की इच्छा जलाती रही।

पाँच महीने कट गये। नशा उतरा नहीं। बनारसी साड़ी, पारसी

जैकेट, मोती का हार, कटकी काम—सब कुछ लाकर उस मायाकरी के अलक-रंजित चरणों पर रक्खा। और किरण? हेमन्त की मालती बनी थी; जिसके घर एक फूल नहीं—एक पल्लव नहीं।

घर की वधू क्या करती? जो अनन्त सूत्र से बँधा था, वही हाथों-हाथ पराये के हाथ बिक गया। किन्तु ये तो दोनों दिन चकमकी खिलौने थे, इन्हें शरीर बदलते क्या देर लगे? दिन-भर बहाना की माला गूँथ-गूँथकर किरण के गले में और रात्रि को मोती की माला उस नाचनेवाली या नचानेवाली के गले में सशङ्क, निर्लज्ज डाल देता। यही मेरा कर्तव्य, धर्म, नियम हो उठा। एक दिन सारी बातें खुल गईं। किरण, पछाड़ खाकर ज़मीन पर जा पड़ी। उसकी आँखों में आँसू न थे, मेरी आँखों में दया न थी।

४

बरसात की रात थी। रिमझिम-रिमझिम बूँदों की झड़ी लगी हुई थी। चाँदनी मेघों से आँख-मिचौली खेल रही थी। बिजली, खोल कपाट से बार-बार झाँकती थी। वह किसे चंचल देखती थी, और बादल किस मसोस से रह-रहकर चिल्लाते थे, इन्हें सोचने का मुझे अवसर ही न था। मैं तो किन्नरी के दरवाज़े से हताश लौटा था, आँखों के ऊपर न चाँदनी थी, न बदली। त्रिशङ्कु ने स्वर्ग जाते-जाते बीच ही से टँगकर किस दुःख को उठाया; और मैं तो अपने स्वर्ग के दरवाज़े पर सर रखकर निराश लौटा था, मेरी वेदना क्यों न बड़ी हो? हाय! एक अँगूठी भी रहती, तो उसे दिखाकर उसके चरणों में चन्दन मारता।

घर पर आते ही जूही को पुकार उठा—"जूही! जूही!! किरण के

पास कुछ भी बचा-बचा हो, लो .फौरन जाकर माँग लाओ।" ऊपर से कोई आवाज़ नहीं आई, केवल सर के ऊपर से एक काला बादल, कालान्त चीत्कार से चिल्ला उठा। मेरा मस्तिष्क घूम गया। मैं तत्क्षण कोठे पर दौड़ा।

बस सन्दूक-झाँपे, जो कुछ मिला सब तोड़ डाला; लेकिन मिला कुछ भी नहीं। अलमारी में केवल मकड़े का जाला था। शृङ्गार-बक्स में एक छिपकली बैठी थी। उसी दम किरण पर झपटा।

पास जाते ही सहम गया। वह एक तकिये के सहारे निःसहाय, निस्पन्द लेटी हुई थी। चाँदनी ने, खिड़की से आकर उसे गोद में ले रक्खा था। और वायु उस शान्त शरीर पर जल-भिगोया पँखा झल रही थी। मुख पर एक अपरूप छटा थी। कौन कहे, कहीं जीवन की शेष रश्मि क्षण-भर वहीं अटकी हो। आँखों में एक नवीन ज्योति थी। शायद प्राण शरीर से निकलकर किसी आसरे से वहीं बैठ रहा था। मैं फिर पुकार उठा—"किरण, तुम्हारे पास कोई और गहना भी बच गया है?"

"हाँ"—क्षीण कण्ठ की काकली थी।

"कहाँ है—अभी देखने दो।"

उसने धीरे-से घूँघट सरकाकर कहा—"यही कानों का कङ्गना।"

सर तकिये से ढल पड़ा। आँखें भी झिप गईं। वह जीवान्त रेखा कहाँ उड़ गई। क्या इतने ही के लिए अब तक ठहरी थी?

मेरी आँखें मुख पर जा पड़ीं—वही कङ्गन थे, वैसे ही कानों को घेरकर बैठे थे।। मेरी स्मृति तड़िद्वेग से चमक उठी। दुष्यन्त ने अँगूठी

को पहचान लिया था—भूली शकुन्तला, तत्क्षण याद आगयी थी। लेकिन दुष्यन्त सौभाग्यशाली थे, चक्रवर्ती राजा थे; अपनी प्राणप्रिया को आकाश-पाताल छानकर ढूँढ़ निकाला। मेरी किरण तो इस भूतल पर नहीं थी, कि किसी तरह प्राण देकर भी पता पाता। परलोक से ढूँढ़ निकालूँ ऐसी शक्ति इस दीन-हीन मानव में कहाँ ?

सारी बातें सूझ गईं। चढ़ा नशा उतर पड़ा, आँखों-पर-की पट्टी खुल गई; लेकिन हाय! खुली भी तो उसी समय जब जीवन में केवल अंधकार ही अंधकार रह गया।

वीर बाला

१

किसी राजपूत-बाला का चित्र नहीं—किसी देव-कन्या की बातें नहीं। एक यवन-रमणी थी, शाही महल की मूर्त्तिमती माया थी—दारा के हृदय की रानी थी। विविध विलासों की गोद में पली थी; अनन्त चन्द्रिका की किरणों में खिली थी, अमृत के छींटों से सींची हुई लता थी; पारिजात-पादप पर चढ़ी हुई कोमल लतिका थी। उसने कभी किसी के आँखों का विस्फारण नहीं देखा—किसी नस्त मस्तक के उरोज को नहीं देखा। दारा के सर की कलँगी उसके पैरों की धूलि झाड़ती—शत-शत स्निग्ध दृष्टि उसकी पदांगुली की अँगूठियाँ बनी रहतीं। और उसका सौन्दर्य! सौन्दर्य क्या था, बिजली की लपट थी—चमककर चोट-सी लगती, देखनेवालों की आँखें पलक में जा छिपतीं, तथापि एक बार देखकर सौ बार देखने की इच्छा होती। जो हो, ऐसे सौन्दर्य को हम सौन्दर्य नहीं मानते। यह फूलों की दो-घड़िया चमक है—पहली रात का क्षणिक पुलक है। ऐसे हिलोरे हैं, जिन्हें उठते भी देर नहीं, मिटते भी देर नहीं।

यह तो बाहरी चाक-चमक है। संसार का राज्य—माया का मन्दिर है। राज-कन्या इसी दुनियाँ में रहती थी, तथापि इससे कहीं दूर थी। इन्हीं रँगरलियों में रहकर भी इस रंग में रँग नहीं गई थी। झुकती ज़बान और गर्दन पर चढ़कर भी नहीं फिसलती थी। चातुरी माया दिन-दिन गले मिलने से बाज़ नहीं आती, तथापि उसके प्राणों की सहचरी बने, ऐसी क्षमता नहीं थी। विलास शत-शत रंगीन रस-भरे प्याले पिला-कर भी उनके चित्त को हिला नहीं सकता था। संसार शरीर पर थप-कियाँ दे-देकर खड़ा रहता था—लाख फुसलाता, लाख चिल्लाता, लाख सर पटकता, लेकिन कपाट खुलते नहीं कि भीतर जा सके। सचमुच उसमें जो-कुछ सौन्दर्य था, वह भीतर ही था। वह ऐसा सौन्दर्य था, जिसके सामने त्रैलोक्य-सुन्दर भी लुटे पड़ते हैं—वह सौन्दर्य, जिसकी किरणों को लेकर स्वर्ग की चाँदनी है। वह सौम्य प्रकाश था, जिसे हम इन आँखों से नहीं देख सकते, वह असीम संगीत, जिसे हम इन कानों से नहीं सुन सकते। एक स्वस्थ सुन्दर हृदय—एक सरल निर्मुक्त जीवन !! कमला अपनी लाख मायाविनी लीलाएँ दिखाकर भी फुसला नहीं सकती थी; काम अपने शत-शत पुष्प-बाण या अग्निबाण की वर्षा से भी वेध नहीं सकते थे। वह हँसती, खेलती, अठिलाती, बल खाती—सभी आँखों में प्राण भरकर इस भंगी को देखते तथा हाथों-हाथ बिक जाते। लेकिन किसी ने कभी देख नहीं पाया कि इस हास-विलास, रस-रास के आड-म्बर के भीतर कौस्तुभ-मणि की ज्योतिली कौन-सी ज्योति छिपी थी ! लोक अपनी माया की चमक के लिये शरीर पर, रोम-रोम पर खड़ा पुकार रहा था, स्वर्ग अपनी तेज संख्या ज्योति लिये, हृदय में, रोम-रोम में, शान्त

निर्विघ्न बैठा था। लेकिन दुनियाँ के लोग इस जगमगाती दुनियाँ ही को देखते हैं—दुनियाँ में अतीत क्या है—इसे देखने की इच्छा नहीं करते। मूर्ति के चकमकी धाम-धूम को देखने के लिए न-जाने कितने आदमी मन्दिर की चौखट पर सिर टकराते हैं, लेकिन उस चकाचौंध के भीतर कोई ज्योति छिपी है या नहीं, यह देखने की भला किसे पड़ी है? फूले-फूले फूलों के भीतर वसन्त को कौन ढूँढ़ता है?

२

चाँदनी के दिन चल बसे। सर पर बदली उमड़ आयी। दारा बिचारा सहोदर के हाथ से पटका खा, घर-बार, सुख-विलास छोड़कर वन में—काल के मुँह में—भग गया। औरङ्गज़ेब ने दिल्ली को अपनी मुट्ठी में किया—बुड्ढे बाप पर अपनी दिल की लगी बुझायी। फिर भाई-बन्धुओं के अलग-अलग रक्त से अपने हाथों में मेंहदी लगायी। इतना ही नहीं—प्यास ऐसी थी कि शाहज़ादियों के विलास-मधुर अन्तरंग पर भी होंठ लपके। एक दिन दारा की दारा पर भी चितवन फिरी। चितवन ही नहीं फिरी—चित्त भी फिर गया।

उसने तत्क्षण बाँदी के हाथ एक पत्र लिखकर भेजा—"प्रिये! मैं तुम्हारी काली-काली ख़ुशबूदार ज़ुल्फ़ों पर मर रहा हूँ।" राजकुमारी क्षण-भर चुप रही। फिर अच्छे लाड़ से पाले, फूलों से गूँथे चक्कन-चिकने बालों को चुपचाप काट डाला और हिना के इत्र से उन्हें भिगोकर शाहंशाह के निकट भेज दिया।

औरङ्ग़ज़ेब ने फिर लिख भेजा, "प्रिये! मैं तुम्हारी इन नर्गिस-नुमा आँखों का शैदा हो रहा हूँ।" जिस समय बाँदी चिट्ठी लेकर आई, उस

समय वह शायद आँखों में सुर्मा लगा रही थी। झट धीरे से सुकुमार सुर्मीली आँखों को निकालकर रँगीन फूलदार लिफ़ाफ़े में भरकर बाँदी के हाथ भेजवा दिया।

औरङ्गज़ेब की आग भभक उठी। फिर लिख भेजा, "प्रिये! मैं तुम्हारे चाँद-से मुँह पर आशिक हूँ।" बाँदी ने चिट्ठी पढ़कर सुना दी। राजकुमारी ने चूँ तक नहीं किया। किसी तरह मायावी गुलाबी गालों को काट-कूटकर भेजवा ही दिया। जो कुछ देने योग्य था, सब दे दिया। प्राणों को भी दे दिया, मगर हृदय नहीं—सत्य नहीं। औरङ्गज़ेब भी हृदय को माँग नहीं सका। हृदय तो वह किसी और को दे चुकी थी।

शाहंशाह ने एक बार निर्जीव लोचनों को देखा, एक बार लद-फद रक्त-मांस के पिण्ड को देखा। कुछ उसी दृष्टि से देखा, जिस दृष्टि से अपने पिता की आँखों से खून टपकते देखा था, बड़े भाई के मुण्ड को भूमि पर लुढ़कते देखा था। उसे ग्लानि हुई या नहीं, सो मैं नहीं कह सकता। हाँ, पर एक बार शायद तमाशा देखने को भीतर दौड़ पड़ा। उस समय शाहज़ादी खून से सराबोर पृथ्वी पर गिर चुकी थी। जो हो—भूमि पर गिरी तो गिरी—अपने धर्म या पातिव्रत्य से नहीं गिरी, हमारी-तुम्हारी आँखों से, दिल से, नहीं गिरी। हा नराधम नरपति! इस वीर हृदय पर ध्वजा उड़ाना बाँयें हाथ का खेल नहीं था। यहाँ तुम्हारे सर की कलगी खस पड़ी। इसे भी क्या इस खोखले हिन्दुस्तान का जीतना समझा था?—भिखारी दारा को क्या आसान समझा था? यदि तुम यहाँ जीतते, तभी हम तुम्हें विजयी मानते।

३

वह उठ गयी, लेकिन नाम नहीं उठा—कीर्ति नहीं मिटी। प्यारे पाठक! वह अनन्त जीवन था, भला मिटता क्योंकर? इसी देश से न-जाने कितने उठ गये। अब ऐसे वीर-रत्न मिलते नहीं, और जो कहीं हैं भी, तो भूले-भटके। सूर्यवंशी, यदुवंशी और न-जाने कितने वंशी बनने की अभिलाषा बहुतों को है, किन्तु यह ध्यान किसी को नहीं कि वे क्या थे, और हम कैसे हैं?—वे क्या कर गये और हम क्या करते हैं? हमने माना कि जननी-जठर में सोये-ही-सोये ब्रह्मज्ञान सीख लेना या रण-कौशल की दीक्षा ले लेना अब सम्भव नहीं। अब तो कोई इसे मरते-दम भी दिखा दे, तो बहुत समझिये। उन पूर्व-पुरुषों की सन्तान बनकर मटकने की चाल अच्छी लगे, आप उनके नाम को लेकर अपना नाम भले ही लम्बा-चौड़ा कर लें—उसे कहने में बड़ी शान हो, सुननेवालों पर बड़ा असर हो। आप उनके जन्म-दिन के उपलक्ष्य में गौहर या जाँदी को भले ही नचा लीजिये, बारूद के खिलौने बनाकर शत-शत बार गोलियाँ पीट लें, आप उनकी कीर्ति-लता को अमृत की छींटें दे-देकर भले ही हरी-भरी रखें, उसे देश-देशान्तरों में भेजकर अपने बाप का मूल्य खूब बढ़ा लें। किन्तु इससे क्या आपकी कुछ करनी देखी गयी? वे बातें भी देखने में आयीं, जिन्हें देखने के लिए आपकी मातृ-भूमि की आँखें कब से तरस रही हैं? विजयादशमी में राम की गद्दी बड़ी धूमधाम से दिखाना कुछ कठिन नहीं; लेकिन इस जीवन-रङ्ग पर भी तो आप मुझे वैसा एक भी दिखा दें। उनकी सन्तान कहलाने योग्य भी तो किसी को बतलावें। घुँघरू पहिनकर मुरली बजाने से कोई देवकी का पुत्र नहीं

बनता—कुक्कुट और बगुले पर गोली मारने से आप गाण्डीवधारी की सन्तान होने योग्य नहीं।

अब किसी के मन में क्षण-भर भी इन भावों का प्रादुर्भाव होना, भारतवर्ष में सब से विस्मयी प्रलय-काण्ड है। क्यों न हो; सभी जातियों ने अपनी-अपनी गर्दन ऊँची की है; लेकिन इतनी नहीं। सभी की कलँगी सिर से खसी है, लेकिन ऐसी नहीं। दामन झाड़कर फिर खड़ा हो उठना कुछ बुरा नहीं, लेकिन पड़े-पड़े धूलि को मींजना और उस पर खिलखिलाकर हँसना करुणा भी दिखलाता है, और उपहास भी। लोटना ही है तो गोकुल की गलियों में बाल-गोपाल के मुख से उगली हुई मिट्टी पर लोटिये। धूलि ही पसन्द है, तो उस धूलि के लिए गली-गली धूलि फाँकिये, जिसको पाकर पत्थर में भी जान पड़ गई थी। किन्तु किसी के दरवाज़े पर फेंके हुए वस्तुरी-कूड़े पर भी लोट-लोट कर दाता की जय मनाना या उसके होंठों पर हँसी ढूँढ़ना कोई अपरूप सुन्दर दृश्य नहीं हो सकता।

पं० ज्वालादत्त शर्मा

जन्मकाल १९४५ वि०

रचनाकाल १९१४ ई०

विधवा

१

राधाचरण की अकाल-मृत्यु से उसके चचा-चची को बहुत शोक हुआ। किन्तु अभागिनी पार्वती के लिये तो यह संसार ही अन्धकारमय होगया। उसके लिये तो संसार में आशा, उत्साह और सुख का सोलहो-आने नाश होगया। उसने इस घोर दुःख को, इस अनभ्र वज्रपात को, दिल का खून करके, किसी तरह सहन किया। वह न रोई, न चिल्लाई। उसने इस असह्य दुःख को मन की पूरी ताक़त से चुपचाप सहन किया। शोक के भारी बोझ से पार्वती का सुकोमल मन निस्सन्देह चूर-चूर हो-गया। किन्तु विधि के इस विपरीत विधान में किसी का क्या वश था!

राधाचरण के चचा, रामप्रसाद, औसत दर्जे के आदमी थे। राधा-चरण के पिता, गुरुप्रसाद का देहान्त, जब उसकी अवस्था पाँच वर्ष की

थी, तभी होगया था। सुनीति माता भी, पति की मृत्यु के एक वर्ष बाद ही, स्वर्ग-लोक-गामिनी होगई थी। इसलिये बालक राधाचरण का पालन-पोषण चचा रामप्रसाद और उनकी पत्नी हरदेवी ने ही किया था। उनके पास कुछ पैतृक मिलकियत थी, जिसकी आमदनी से घर का ख़र्च चलता था। रहने का पक्का मकान था। पर इस पैतृक मिलकियत और रहने के मकान में—जायदाद के क्षय-रोग—क़र्ज़ के कीटाणुओं ने प्रवेश कर लिया था। रामप्रसाद ने अपनी कन्या चमेली के विवाह में शहर के मूर्ख और निठल्ले आदमियों के मुँह से चिकनी-चुपड़ी बातें सुनने के लिये बहुत रुपया बरबाद किया था। विवाह के बाद, कोई एक सप्ताह तक, पकवान की सुगन्धि के साथ-साथ रामप्रसाद की इस मूर्खतापूर्ण उदारता की बू भी महल्ले में सर्वत्र और शहर में यत्र-तत्र, फैल रही थी। ख़स्ता कचौरी, मोतीचूर के लड्डू, गोल बालूशाही, कुरकरी इमरती और मसालेदार तरकारियों के साथ-साथ चमकते हुए 'इन्दु सम-उज्ज्वल' रूपराज की दक्षिणा की बात जहाँ तहाँ होती थी। किन्तु रामप्रसाद के यश की उस स्निग्ध चाँदनी में, उसके विमल यश की सफ़ेद चादर में, कोई कलंक न हो, कोई धब्बा न हो, सो बात नहीं। कुछ समालोचक, जिन्होंने ज्योनार में कई दिनों पहले से अल्पाहार करते रहने के कारण, बुरी तरह ख़स्ता कचौरी और मेवा-मिली मुलायम मिठाइयों का ध्वंस किया था, अपने दुष्ट, पर प्रकृतिदत्त स्वभाव से मजबूर होकर बाल-की-खाल निकालने और रामप्रसाद की दूध की गंगा में विष मिलाने लगे। कोई कहता था—'कचौरियों में मोयन कम डाला गया', और कोई बताता था कि 'शाक में नोन ज़्यादा होगया था।' कोई लड्डुओं के

बूँदी को ठोस, तो कोई बेसन की बरफ़ी को सख़्त क़रार देता था। मतलब यह, कि रामप्रसाद को मूर्खता का श्राद्ध करनेवाले नर-पुङ्गवों की भी कमी न थी। किन्तु घरों की मालकिनें, जिन्होंने अपने बच्चों से रुपये छीनकर बटुओं में भर लिये थे, और इस तरह एक अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव किया था, रामप्रसाद की प्रशंसा अपनी प्रलयङ्करी बुद्धि की सहायता से शत-शत मुख से कर रही थीं। इस प्रशंसा-रूप बीमारी का दौरा भी एक महीने से अधिक न रहा। हलवाइयों के हिसाब के साफ़ होते ही लोगों के बेकार अतएव ख़ाली दिमाग़ भी इस ख़ब्त से ख़ाली होगये। छः मास के बाद, रामप्रसाद के उसकाने पर भी किसी को लड्डुओं की बूँदियों में तरावट न मालूम होती थी—कोई विषय का उत्थान न करता था। इससे रामप्रसाद के श्लाघा सुनने की अभिलाषा पर तुषार-पात हो जाया करता था, किन्तु उसकी आशा-लता को पल्लवित करनेवाला सूदख़ोर छज्जूमल महाजन 'पड़ौस' का हक़, क़रीब-क़रीब रोज़ निभा देता था।

जिस साल रामप्रसाद की लड़की चमेली का विवाह हुआ था, उसी साल राधाचरण बी० ए० में तीसरे नम्बर पर पास हुआ था। राधाचरण को स्कूल से ही, उसकी योग्यता के कारण, छात्र-वृत्ति मिली थी। पर बी० ए० की फ़ीस और किताबों के लिये चचा रामप्रसाद ने १५०) रुपये क़र्ज़ दिये थे। उसी साल 'ग़रीबनवाज़' लाला छज्जूमल ने यथा-नियम अगले-पिछले जोड़कर रामप्रसाद से पाँच हज़ार रुपयों की दस्ता-वेज़ लिखाकर उसकी 'इज़्ज़त' बचाई थी। कोई तीन हज़ार रुपये उसने लड़की के विवाह में स्वाहा किये थे। किन्तु क़र्ज़ का प्रसंग इतने ही

रामप्रसाद भतीजे की पढ़ाई का उल्लेख करते थे। उनके हिसाब से यदि राधाचरण न पढ़ता, तो उन्हें ऋणी न बनना पड़ता। छोटी-छोटी बातों पर रामप्रसाद राधाचरण से कहते—"अभी तूने मेरी क्या सेवा की है? एक साल से पचास रुपये महीना कमाने लगा है। मुझे देख, तेरी पढ़ाई के कारण ही तबाह होगया। इतना देना हो गया।"

सुशील राधाचरण अपने मूर्ख चचा की बात का उत्तर न देता था। नीची गर्दन करके वह सब-कुछ सुन लेता था।

राधाचरण की मृत्यु से चचा और चची को बेशक बहुत दुःख हुआ, पर उस दुःख की तीव्र आग में जलते हुए भी रामप्रसाद ने राधाचरण के कारण कर्ज़दारी का ज़िक्र करने की प्रवृत्ति को बड़े यत्न से सुरक्षित रक्खा।

२

शोक की प्रबल लहरों में बही जानेवाली रामप्रसाद-दम्पत्ति ने अपने धेवते का सहारा पाकर बहुत कुछ शान्ति-लाभ किया। भाद्रपद की वर्षा के बाद जिस तरह सूर्य और अधिक असह्य हो उठता है, उसी तरह शोक-सागर में स्नान करके रामप्रसाद-दम्पत्ति का कठोर हृदय और कठोर हो गया। अब वे बात-बात में कहते थे—"राधे ने हमें मार गया! वह हमारा भतीजा नहीं, शत्रु था। हमें बरबाद करने आया था।"

पार्वती शोक-महानदी की जिस प्रबल लहर में बही जा रही थी, उसमें तिनके का भी सहारा नहीं था। वह थी, और [illegible] लहरें थीं। उसके लिये भाद्रपद के [illegible] सूर्य भी, [illegible] थी—प्रकाश-हीन थीं। [illegible]

चाँदनी उसके लिये सिंह के सूर्य की धूप से भी कहीं अधिक प्रखर थी। उसके मन में शोक की प्रचण्ड अग्नि धू-धू जल रही थी। बाहर रामप्रसाद-दम्पति का कठोर व्यवहार उस अबला को बेदम किये देता था। शोक की अनन्त ज्वाला में, अनन्त विरह के प्रचण्ड प्रवाह में, निराशा के घने अन्धकार में, उपेक्षा के दुर्गन्धिपूर्ण संसार में—सब कहीं—उसे परलोकगत पति का पूत और पवित्र मुख-पद्म दिखाई देता था, मानो वह उससे मौन भाषा में कहता था—"प्रिये पार्वती, धैर्य धारण करो, त्रिताप-दग्ध संसार में जब तक हो, जैसे बने, काल-यापन कर दो। स्वर्ग में मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। मैं तुम्हें अवश्य मिलूँगा; क्योंकि तुम मेरी हो, और मैं तुम्हारा हूँ।"

पार्वती का छलनी की तरह छिदा हुआ हृदय शान्त होजाता था। रामप्रसाद-दम्पति का कठोर व्यवहार उसके लिये सुकोमल होजाता था। संसार भी उसकी दृष्टि में उतनी घृणा का पात्र नहीं रहता था; उस पर से उसकी विरक्ति की मात्रा कम हो जाती थी। संसार के अन्तरिक्ष में ही, इसी संसार के आकाश में ही, उसके परलोकवासी पति के प्रभापूर्ण मुख का प्रतिबिम्ब मध्याकाश में न सही, हृदयाकाश में ही सही—दिखाई पड़ता था। इसलिये संसार उसके लिये उतना हेय नहीं रहता था; कुछ काम की चीज़ होजाता था।

सास के कुलिशसम कठोर वाक्यों और उससे भी बढ़कर पुरुष-तर पार्थिव व्यवहारों को वह अनायास सह लेती थी। मृत्यु-शय्या पर पड़े पति के ज्योतिहीन नेत्रों का कातर भाव उसे कभी न भूलता था। उसके आख़िरी शब्द—'प्रिये पार्वती'—आज भी उसके कानों में गूँज रहे थे।

उस कातर भाव की शब्द-हीन भाषा का मर्म भी उसने ठीक-ठीक समझ लिया था। चचा-चची का कठोर स्वभाव और पार्वती के पीसाक की शोचनीय अवस्था ही उस कातर भाव का प्रधान उपादान थी।

पार्वती हिन्दी-मिडिल-पास थी। राधाचरण ने बड़े आग्रह से उसे अँगरेज़ी भी पढ़ाई थी। उनका विचार था, कि वह उससे प्रवेशिका-परीक्षा दिलायेगा; किन्तु उसकी अकाल-मृत्यु ने, बहुत-सी अन्य बातों के साथ-साथ इस विचार को भी कार्य में परिणत न होने दिया।

पति की मृत्यु के बाद अभागिनी पार्वती को पुस्तक छूने का मौक़ा ही न मिलता था। घर में उसकी कोई सत्ता ही न थी। सास राधाचरण की मृत्यु का कारण उसे ही समझती थी। पार्वती अन्न पीसती है, चौका-बरतन साफ़ करती है, भोजन बनाती है; किन्तु फिर भी सास-ससुर की सहानुभूति का पात्र नहीं बनती। फिर भी उनके मुँह से कभी नहीं सुनती। सुनती है, कर्ज़दारी का कारण, अपने दुर्भाग्य की गाथा, और कभी-कभी गूढ़ प्रेम के परदे में पति की निन्दा।

पार्वती को कुटिलता-पूर्ण संसार में सहानुभूति का चिन्ह कहीं दिखाई न देता था। उसके एक चचेरा भाई था; वह कहीं चपरासी था। पर था विवाहित। इसलिए ग़रीबी का दूना सन्तान की बहुतायत से माला-माल था। अत्यन्त गर्मी पड़ने के बाद वर्षा होती है। बहुत ताप, झुकने पर धराधाम जल की अनन्त धाराओं से प्लावित हो जाता है। पार्वती ने भी निराशा के घोर अन्धकार में, सास-ससुर के कठोर व्यवहार-रूप नरक में, उपेक्षा के समुद्र में, शोक के महासागर में ध्रुव तारे का दर्शन किया, उसे देखकर विपन्ना पार्वती ने कर्त्तव्य-पथ का निश्चय कर लिया।

सामने खड़ी आलमारी में भरी हुई, पुस्तकें उसे मानों अपनी-अपनी भाषा में सान्त्वना देने लगीं। वे कहने लगीं—"पार्वती, तू लिखी-पढ़ी है, हम तेरी साथिन हैं। दुःख में, शोक में, सन्ताप में सदा-सर्वदा—हम तेरी साथिन हैं। हमें घृणा करनी नहीं आती, उपेक्षा करनी नहीं आती। हमसे भले कोई विक़ हो जाय, हम किसी से दिक़ नहीं होतीं।" पुस्तकों की विभिन्न, पर मौन, भाषा को उसने साफ़-साफ़ समझा। उसके भग्न हृदय में शांति की अस्फुट किरण का उदय हुआ। आलमारी की चुनी हुई, किताबों में उसने साक्षात अभयदा सरस्वती के दर्शन किये। बहुत समय के बाद मानों माँ-सरस्वती के इशारे से ही उसने आलमारी में-से एक पुस्तक निकाली। पुस्तक थी, सुप्रसिद्ध ग्रन्थकार स्माइल्स साहब की 'Self Help' या 'आत्मावलम्बन'। चटाई पर बैठकर पार्वती उसे पढ़ने लगी।

पुस्तक के अभी दो—हीचार पृष्ठ पढ़े होंगे, कि रामप्रसाद की स्त्री वहाँ आ पहुँची। पार्वती को पुस्तक पढ़ते देखकर शरीर में आग लग गई। उसने अपने अभ्यस्त अनेक कुवाक्यों का विष उगलकर अन्त में कहा—"पुस्तकें पढ़कर ही तू राधे को चट कर गई। तू नार नहीं, नागन है। भगवान्! भगवान्! मेरे घर में ऐसी डायना कहाँ से आ गई! वह था—तबाह कर गया; तू है—तबाह करने की फ़िक्र में है।"

हिरन के बच्चे पर शेरनी को गुर्राता देखकर जिस तरह उसका जवाबी शेर भी गरजने लगता है, उसी तरह रामप्रसाद भी ग़रीब पार्वती पर टूट पड़ा। उसने भी स्वस्ति-वाचन के बाद कहा—"ठीक तो कहती है, यह नार नहीं, नागन है। कहीं को मुँह काला भी तो नहीं करती।

मैं ऐसी नागिन को पालना नहीं चाहता। उसे खा गई। अब मुझे खायगी क्या ?"

इधर रामप्रसाद बक रहा था, उधर पार्वती के हृदय में अनेक तरंगें उठ रही थीं। उन्हीं तरङ्गों में उसने अपने पति रामचरण के दर्शन किये। इस समय उसकी आँख में कातरता के साथ-साथ दुःख भी था, विषाद भी था और अभागिनी पार्वती के लिए थी—गहरी सहानुभूति। स्माइल्स साहब की आत्मा भी अबला पार्वती को पुस्तक के रूप में खूब बल प्रदान कर रही थी। पार्वती ने पुस्तक को बन्द कर दिया। पुस्तक के आवरण-पृष्ठ पर सोने के अक्षरों में छपे "Self Help" के मनोहर शब्द पार्वती के अश्रुपूर्ण नेत्रों को अपनी ओर खींचने लगे।

३

दूसरे दिन प्रातःकाल पार्वती ने बड़ी शान्ति से अपनी सास को समझा दिया कि वह कुछ दिनों के लिए अपने भाई के पास जाना चाहती है। आप उसे एक चिट्ठी लिखवा दीजिए।

सास को मनचाही बात हाथ लग गई। उसने उसी समय स्त्री-जन-सुलभ नमक-मिर्च लगाकर अपने पति रामप्रसाद से कह दिया। उन्होंने पहले तो 'हाँ' 'हूँ' की। फिर धर्म्म और स्वभाव की साथिनी स्त्री के कहने-सुनने पर सुखदयाल को एक चिट्ठी लिख दी।

चार दिन बाद बहू चली जायगी—इसलिए बहू के साथ अधिक कठोर व्यवहार न करना चाहिये, यह सोचकर रामप्रसाद-दम्पति का व्यवहार पार्वती के साथ अपेक्षाकृत अच्छा होगया है। घर के कामों के साथ अब उसे गालियों का बोझा सहन नहीं करना पड़ता। पर कभी कभी

के कारण का ज़िक्र यथा-नियम प्रति दिन एक-दो बार हो जाता है।

राधाचरण को मरे अभी पूरा एक वर्ष भी नहीं हुआ था। इतने थोड़े समय में ही घर की हर-एक चीज़ पार्वती के लिए बिलकुल बदल गई थी। घर के आदमियों के साथ घर के दरो-दीवार भी उसे काटने दौड़ते थे। मूल्य समाप्त न होने के कारण अभी तक उसके नाम कुछ समाचार-पत्र आते थे। पार्वती समय मिलने पर उन्हें पढ़ लेती थी। आज के 'हितकारी' में उसने 'आवश्यकता' के स्तम्भ को बहुत ग़ौर से पढ़ा।

तीसरे दिन जवाब आ गया कि शनैश्चर की रात को सुखदयाल बहन को लेने के लिए आयेगा। बृहस्पतिवार को पत्र मिला था। पार्वती को सिर्फ़ दो रोज़ का मिहमान समझकर सास और ससुर का कठोर हृदय और ढीला पड़ गया। पार्वती की सेवा और उसके कभी न डिगनेवाले शील में उन्हें अब बहुत कुछ भलाई दिखाई देने लगी। विच्छेद के विचार ने निस्सन्देह उनकी मानसिक कलुषता को बहुत कुछ दूर कर दिया।

काल भगवान् किसी की अपेक्षा नहीं करते। सूर्य के रथ का धुरा कभी नहीं टूटता। काल भगवान् के प्रधान सहचर सूर्यदेव सुखी-दुःखी—सभी—को पीछे छोड़ते हुए रथ बढ़ाये चले ही जाते हैं। शनैश्चर की रात को सुखदयाल—दैन्य और दारिद्र्य की मूर्ति सुखदयाल—आ गया। बहन को गले लगाकर वह बहुत रोया। दूसरे दिन प्रातःकाल की ट्रेन से वह पार्वती को लेकर घर को रवाना हो गया।

पार्वती ने चलते समय सिर्फ़ अपने पति की पुस्तकों का एक ट्रंक

अपने साथ लिया। बाक़ी न कोई ज़ेवर और न दो धोतियों को छोड़कर कोई कपड़ा। भरा हुआ घर, जो उसके लिए पहले ही ख़ाली हो चुका था, उसने भी खाली कर दिया। चलते समय सास ने ऊपरी मन से जल्द आने के लिए कहा और स्त्री-जन-सुलभ अश्रुवर्षा का परिहास भी दिखाया।

पार्वती ने निष्कपट मन से जिस समय सास के चरण छुए, उस समय गरम-गरम आँसुओं की कुछ बूँदों ने भी हरदेवी के चरण छूने में उसके साथ प्रतियोगिता की!

४

पार्वती के आने से सुखदयाल की ग़रीबी का—पर पैतृक, और इसीलिये पक्का—घर स्वर्ग बन गया। उसके बालक, जो निर्धनता के कारण शिक्षा न पा सकते थे, बुआ पार्वती से पढ़ने लगे। सुखदयाल की बड़ी लड़की शान्ति उससे हिन्दी-शिक्षा के साथ-साथ सिलाई का काम भी सीखने लगी। थोड़े ही दिनों में पार्वती और शान्ति को सुई के प्रताप से कुछ कम दो रुपये रोज़ की आमदनी होने लगी। पार्वती के कहने पर सुखदयाल एक अच्छी गाय ख़रीद लाया। अब उसके घर में सब कुछ था। विद्या थी, धन था और गोरस था, सुखदयाल की स्त्री चमेली पार्वती को अपनी समृद्धि का मूल कारण समझती थी। वह उसे साक्षात् देवी समझती थी। प्रातःकाल उठकर उसके चरण छूती थी। घर का हर काम उसकी आज्ञा लेकर करती थी।

एक वर्ष बीत गया। पार्वती हिन्दू-गर्ल्स-स्कूल में हिन्दी पढ़ाती है। इसी वर्ष उसने प्रवेशिका परीक्षा पास कर ली है। २०) मासिक वेतन

मिलता है। अब सुखदयाल के बालक, जो एक वर्ष पहले लावारिस और आवारा घूमते-फिरते थे, साफ़ कपड़े पहनकर भले बालकों की तरह बग़ल में पुस्तकें दबाये स्कूल जाते हैं। लड़की शान्ति भी पार्वती के साथ स्कूल में काम करती है। देवि-स्वरूपिणी बहन पार्वती की बदौलत भाई सुखदयाल ने भी चपरासगिरी के कर्कश हाथों से छुटकारा पाकर सौदागरी की दूकान खोल ली है।

सुखदयाल का घर भी अच्छा ख़ासा बालिका-विद्यालय था। महल्ले-भर की छोटी-बड़ी अनेक लड़कियाँ स्कूल से इतर समय में पढ़ने और सुई का काम सीखने आती थीं। विद्या-दान का द्वार सदा उन्मुक्त रहता था। पार्वती के परोपकार-आदि सद्गुणों की प्रशंसा महल्ले से बढ़कर शहर-भर में फैल गई थी।

* * * *

चार वर्ष और बीत गये। पार्वती ने प्राइवेट तौर पर पहली कक्षा में बी० ए० पास किया। रायपुर के कलेक्टर की पत्नी ने अपने हाथ से पार्वती की सफ़ेद साड़ी पर प्रतिष्ठा-सूचक मेडल पहनाया। हिन्दू-गर्ल्स-स्कूल की प्रधान शिक्षयित्री-(लेडी-प्रिन्सिपल) के पद पर (जिसकी शोभा, उपयुक्त हिन्दू-पण्डिता के न मिलने के कारण, अब तक क्रिश्चियन लेडियाँ बढ़ाती रहीं) पण्डिता पार्वती को आसीन किया गया। शहर-भर में पार्वती का यशोगान होने लगा। वेतन भी एकदम २५०) होगया।

५

रविवार का दिन था। स्कूल के बड़े कमरे में प्रबन्ध-कारिणी समिति के सभ्यों की अन्तरङ्ग सभा हो रही थी। मेम्बर सभी स्त्रियाँ थीं। राय

रामकिशोर बहादुर की पत्नी, जो स्कूल की आनरेरी सेक्रेटरी थीं, प्रबन्ध-सम्बन्धी अनेक विषय पेश कर रही थीं। रायबहादुर की पत्नी ने कहा—अब मैं आज की बैठक का आख़िरी विषय अर्थात् स्कूल के चपरासी के के काम के लिए आई हुई दरख़ास्तें पेश करती हूँ। मेरी सम्मति में जिन लोगों की दरख़ास्तें हैं, उन्हें बिना देखे नौकर रखना ठीक न होगा। चपरासी बूढ़ा तो होगा ही, पर साथ-ही-साथ चिड़चिड़ा या ज़िदादह कमज़ोर भी न होना चाहिये, और यह ऐसी बात है, जो बिना देखे ठीक नहीं हो सकती। अब मैं इस विषय में आपकी या बाईजी की (मतलब था, प्रिन्सिपल पार्वती से) जैसी आज्ञा हो वैसा करूँ?"

उपस्थित अन्य तीन महिलाओं ने एक स्वर से कहा—इस विषय में बाईजी की आज्ञानुसार ही काम होना चाहिए; क्योंकि बाईजी की आज्ञायें वहन करने और दरबानी के लिए ही चपरासी की नियुक्ति होगी।

पार्वती ने अपने शान्त, पर प्रभा-पूर्ण, मुख-कमल को खिलाते हुए कहा—"मैं रायबहादुर की पत्नी से सहमत हूँ। आदमी को देखकर ही रखना अच्छा होगा। मनुष्य के चेहरे से उसके गुण-दोषों का बहुत पता लग जाता है। उस दिन 'रैशनल थॉट' में मिस्टर बरबरस का, आपने, सेक्रेटरी महोदया, इसी विषय पर एक लेख पढ़ा था?"

रायबहादुर की पत्नी ने कहा"—पढ़ा तो था, पर समझा था कम। आजकल आपका पूरा समय और शक्ति 'विधवा-आश्रम' की स्थापना में लग रहे हैं। इस तरह आप देश की बड़ी भारी सेवा कर रही हैं। आपका कुछ भी समय ख़ाली होता, तो मैं आप से अँग्रेज़ी-साहित्य का थोड़ा-बहुत अध्ययन करके अपनी इस कमी को ज़रूर पूरा करती। पर

मेरे मूर्ख रह जाने से देश की विधवाओं की दुःख-भरी शोचनीय अवस्था को सुधार देनेवाले 'विधवा-आश्रम' की स्थापना कहीं बढ़कर आवश्यक और एकान्त कर्तव्य है।"

पार्वती ने मुस्कराते हुए कहा—"धन्यवाद। आपकी सहायता और ईश्वर की कृपा से ही यह काम पूरा हो सकेगा। आप सुनकर प्रसन्न होंगी कि हमारे प्रजा-प्रिय छोटे लाट महोदय ने हिमालय-पार्श्व के उस बड़े भू-खण्ड को विधवा-आश्रम के लिये देने की कृपा की है। चन्दा भी कुछ कम एक लाख हो गया है। ईश्वर की कृपा हुई, तो अब यह कार्य्य शीघ्र ही पूर्ण हो जायगा।"

रायबहादुर की पत्नी ने बड़े हर्ष के साथ कहा—"अब काम के पूरा होने में कुछ सन्देह नहीं। जिस दिन आपने आश्रम के लिये अपना जीवन देने का महा-प्रण किया था, हमें क्या, देश के सभी हितैषियों को, उसी दिन काम के पूरा होने का पक्का भरोसा हो गया था।

पार्वती ने बड़ी सरलता से कहा"—बहन, धन्यवाद। हाँ, तुम्हारी अङ्गरेज़ी-साहित्य पढ़ने की बात रही जाती है। उसके विषय में मेरा निवेदन है कि आप रायबहादुर साहब से पढ़ें। स्त्रियों के लिये पति से बढ़कर शिक्षक और कोई नहीं। लड़कियों को माता-पिता या अन्य कोई शिक्षक पढ़ा सकता है। पर स्त्रियों का, या साहित्य की भाषा में प्रौढ़ाओं का, परम गुरु और शिक्षक पति ही है। आशा है, आप मुझे इस वक्तव्य के लिये क्षमा करेंगी।"

रायबहादुर की पत्नी ने सौजन्य दिखाते हुए लेडी-प्रिंसिपल का धन्यवाद किया और साथ ही सभा का कार्य्य भी समाप्त कर दिया।

६

कङ्गाल भारत की विभूति का कल्पित स्वप्न देखकर आज भी अनेक विदेशी चौंक उठते हैं। किन्तु जिन लोगों ने भारत के गाँव देखे हैं, एक-वस्त्र धारी कृश-काय अस्थि-चर्मावशिष्ट भारत-गौरव किसानों को देखा है, वे भारत की विभूति को खूब समझते हैं।

गर्ल्स-स्कूल में आठ रुपये की चपरास के लिए इतने आदमी आवेंगे, किसी को ख़याल भी न था। अनेक बूढ़े आदमी पाँत बाँधे बैठे थे। रायबहादुर की पत्नी और सेक्रेटरी मिस्ट्रेस सुशीला देवी ने उस भीड़ में से चार आदमियों को चुन लिया। इन्हीं में से एक को बड़ी बाईजी चुनेंगी। हिन्दू-गर्ल्स-स्कूल में परदे और सदाचार का विशेष ध्यान रखा जाता है। इसीलिए किसी नौकर की नियुक्ति के विषय में बहुत सावधानता से काम लेना पड़ता है। स्कूल-भर में चपरासी का काम ही बूढ़े मर्द के सिपुर्द था; बाक़ी सब कामों पर स्त्रियाँ ही नियुक्त थीं।

दस बजते-बजते लेडी-प्रिंसिपल की गाड़ी स्कूल के बरामदे में पहुँच गई। विभिन्न कक्षाओं की विभिन्न पंक्तियों में खड़ी बालिकाओं ने बड़ी श्रद्धा से प्रधानाध्यापिका को प्रणाम किया। गाड़ी से उतरकर वे सीधी ऑफ़िस में पहुँचीं। रायबहादुर की पत्नी वहाँ पहले ही से उपस्थित थीं। प्रिंसिपल के पहुँचने पर दासी ने बारी-बारी से उन चारों आदमियों को बुलाया।

पहले आदमी को देखते ही पार्वती के विस्मय का ठिकाना न रहा। वह बूढ़ा आदमी और कोई न था—अभागा रामप्रसाद था। उसे देख-कर पतिव्रता पार्वती के भावुक हृदय में क्षणभर के लिए करुणा का

उदय हुआ। किन्तु उसने तत्काल ही अपने को सँभाल लिया।

सौ मील की दूरी पर आठ रुपये की नौकरी के लिए वह क्यों आया है? मालूम होता है, उसकी मिलकियत और मकान चाटुकार पड़ोसी सूदख़ोर की विशाल तोंद में जाकर समा गया। रामप्रसाद के मलिन और चिन्तित मुख को देखकर करुण-हृदया पार्वती के मन का अन्तस्थल तक हिल गया। उसने दूसरी तरफ़ को मुँह करके अनमने भाव से सन्देह-निवारण के लिए पूछा—"आपका नाम?";

"रामप्रसाद पाण्डे।"

"मकान?"

"विक्रमपुर।"

"इतनी दूर नौकरी के लिए क्यों आए?"

"माँ, पेट की ख़ातिर!"

"घर पर खेती-बारी न थी?"

"माँ, सब कुछ था; खेती क्या, ज़मींदारी भी थी।"

"वह क्या हुई?"

"क़र्ज़ में बिक गई।"

"क़र्ज़ क्यों लिया था?"

"माँ, दुःख की बातें हैं; उन्हें भूल जाना ही अच्छा है।"

"फिर भी सुनाइये तो?"

"भतीजे की पढ़ाई के लिए।"

"वे क्या?"

"अब नहीं—"

"लड़की की शादी में तो फ़जूलख़र्ची नहीं की थी ?"

बूढ़े का चेहरा उतर गया। उसने पार्वती का चेहरा कभी न देखा था, और अब तो विद्या, मान और अधिकार की दीप्ति ने उसे बिल्कुल बदल दिया था। बूढ़ा मन-ही-मन बाईजी को देवी समझने लगा। रायबहादुर की पत्नी भी इस प्रश्नोत्तरी को एकाग्र मन से सुन रही थीं।

"माँ, तुम देवी हो। सचमुच लड़की की शादी में ही बरबाद हुआ हूँ।"

"तो भतीजे के पढ़ाई में कुछ-न-कुछ रुपया क़र्ज़ लेना पड़ा होगा ?"

"माँ, सिर्फ़ डेढ़ सौ रुपये !"

कहते-कहते बूढ़े के कोटर-लीन नेत्रों में आँसू भर आये।

"अच्छा, आप बाहर बैठिये !"

बाक़ी तीन आदमियों में से एक आदमी चुन लिया गया। बूढ़ा रामप्रसाद उसी समय लेडी-प्रिंसिपल के बँगले पर पहुँचाया गया।

आठ रुपये की नौकरी के लिये आए हुए रामप्रसाद को बँगले के नौकरों ने जब मालिक की तरह ठहराया गया, तब उसे बहुत आश्चर्य हुआ।

शाम को भोजनोपरान्त पार्वती ने कहा—

"आप मुझे पहचानते हैं ?"

"माँ, आप स्कूल की बड़ी बाई हैं।"

"मैं आप के भतीजे की अभागिनी स्त्री हूँ।"

बूढ़े की निद्रा टूट गई। उसे मूर्छा आने लगी, पार्वती और भतीजी शान्ति ने सँभाल लिया।

पार्वती ने बहुत चाहा कि रामप्रसाद यहीं रहे। पर वह राज़ी न हुआ। आत्म-ग्लानि की तीव्र अग्नि से वह अन्दर-ही-अन्दर जल रहा था। चलते समय पार्वती ने कभी-कभी दर्शन देने का वचन ले लिया। फिर एक-एक हज़ार के दो नोटों को लिफ़ाफ़े में बन्द करके ससुर के हाथ में दिया और बड़ी नम्रता से कहा—"यह चिट्ठी माँजी को दे दीजियेगा, और अब की बार उन्हें ज़रूर साथ लाइयेगा।"

दर्शन

१

मैं उन दिनों कलक्टरी में पेशकार था। विमला की मृत्यु से पहले तो मुझे बहुत दुःख हुआ। घर ख़ाली मालूम होता था। वह अपने कानों तक फैले हुए नेत्रों द्वारा घर के कोने-कोने और आले-आले से टकटकी बाँधे हुए मुझे देखती मालूम होती थी। उस समय भी उसके अधरों पर परितृप्ति की हँसी और चेहरे पर नाम को भी विकार न उत्पन्न हुआ था। तीन-चार दिनों की साधारण बीमारी से ही उसने हँसते-हँसते इस लोक से पयान कर दिया। उसकी मृत्यु के ६-७ हफ़्ते बाद तक मेरी तबीयत बड़ी उचाट रही। मन सुस्त रहा। उसके कोमल व्यवहारों का स्मरण करके मेरा कठोर हृदय पिघला जाता था।

उसके सामने ही मैं उच्छृङ्खल होगया था। दवा के तौर पर शराब पीने लगा था। किसी-किसी रात को घर से अनुपस्थित भी रहता था। विमला मेरी दशा पर बहुत कुढ़ती थी। वह कातर होकर कभी-कभी इशारे से मुझे समझाया करती थी। किन्तु बदचलनी की आमदनी से

जिस पाप-बीज को मैं अपने हृदय-क्षेत्र में बो चुका था, उसका मूलोच्छेद विमला की मृदु और मधुर शिकायत से थोड़े ही हो सकता था? यही कारण था कि उसकी मृत्यु का मुझे उतना दुःख नहीं हुआ, जितना होना चाहिये था, या हो सकता था। वह मेरे हृदय की देवी बनने योग्य थी। किन्तु मेरे कुटिल हृदय के और भी हिस्सेदार थे। उसमें विमला के लिये स्थान था, पर वह उसकी एकमात्र अधिकारिणी न थी। इसलिये उसकी मृत्यु के बाद हिन्दुओं के सम्मिलित परिवार की तरह बचे हुए वारिसों ने ही उसके स्थान की प्राप्ति कर ली।

विमला के सामने मद्य-पान की मात्रा बहुत कम थी। किसी-किसी दिन अनध्याय भी होजाता था। विमला के पास पहुँचकर मैं महल्ले के ज़ौकीराम या उल्फ़तराय की शक्ति से बाहर होजाता था। फिर मुक़द्दमेवाला आया है, कोई बुलाता है,—आदि बहाने से मुझे बाहर न निकाल सकते थे। उस दिन मद्य-पान रूप महापाठ का अनध्याय हो जाता था। किन्तु ग्रेड (Grade) अर्थात् दरजे की उन्नति और विमला की मृत्यु ने मुझे अब मद्य-पान के साथ उन धूर्तों का क्रीतदास बना दिया। शाम को सात बजे बाद मेरा स्थान छोटा-सा पानागार बन जाता था। अब मेरे स्वेच्छाचारों में बाधा डालनेवाला कोई न था।

सौभाग्य से मेरे कोई सन्तति न थी। मैं ने दूसरा विवाह भी न किया।

२

उन दिनों मुझे ६०) मासिक मिलते थे। दूसरे दर्जे के डिप्टी साहब के यहाँ पेशकार था। डिप्टी साहब को मिलते थे, कुछ ऊपर तीनसौ

और मुझे—ऊपर की आमदनी मिलाकर कोई ढाई सौ पड़ जाते थे। पर पाप के धन में स्थैर्य कहाँ? बड़ी आसानी से मिला हुआ धन उससे अधिक आसानी से पानी की तरह ख़र्च हो जाता था। अब मेरे यहाँ देशी शराब की डाटें खुलने की बजाय विलायती मद्य की बोतलों के 'काग' खुलते थे।

बुराई के पास बुराई आती है, और आश्चर्य यह है कि बिना बुलाये आती है। हमारी मण्डली में भी दो तीन गुण्डों का प्रवेश होगया था। वे भले-मानस गुण्डे थे। दिन में ऑफ़िसों में मेरी तरह रोबदाब के साथ अपना-अपना काम करते थे, समाज में पढ़े-लिखे और धनोपार्जन के ख़याल से बड़े आदमी समझे जाते थे, पर रात को ताण्डव-नृत्य में सम्मिलित होते थे।

हमारी मण्डली के अन्यतम सदस्य स्टेशन-मास्टर बाबू थे। उन्हें हम लोग मास्टर बाबू कहते थे। उस दिन उनके यहाँ दावत थी। जब कोई नया शिकार फँसता था। तब मास्टर बाबू हम लोगों को भी बुलाते थे।

छत पर एक छोटा-सा कमरा था। हम सब मिलकर तीन थे। मद्यपान के साथ उस अभागी के आने की प्रतीक्षा कर रहे थे, जिसे मास्टर बाबू ने आज ही अपने जाल में फँसाया था।

दरवाज़ा खुला। स्टेशन के यमदूत एक स्त्री को अन्दर लाये। स्त्री की अवस्था २२ वर्ष से अधिक न थी। उसके लावण्यपूर्ण किन्तु कुम्हलाये चेहरे पर भीति के चिन्ह स्पष्ट प्रकट हो रहे थे। चकित हिरनी की तरह अपने लम्बे-लम्बे नेत्रों से उसने चारों ओर देखा। किसी गृहस्थ के संभ्रान्त

पर पहुँचाने का धोखा देकर वह यहाँ लाई गई थी। कमरे की विलास-पूर्ण सामग्री और शराब की आधी से अधिक ख़ाली बोतलें देखकर उसे अपने भाग्य के निर्णय का तत्काल बोध हो गया। मैं उसे देख रहा था। उसके चेहरे से भीति के चिन्ह एक-साथ दूर हो गये। यमदूत उसे अन्दर पहुँचाकर यथा-विधि चले गये। मास्टर बाबू ने उसे कुर्सी पर बैठने के लिये कहा; किन्तु वह शरीर-मात्र से ही वहाँ स्थित थी। उसकी आत्मा मानों किसी ऐसे स्थान में विचरण कर रही थी कि जहाँ भय नहीं, शोक नहीं और दुःख नहीं। उसके चेहरे पर विचार-सम्बन्धी व्यग्रता झलक रही थी। मास्टर बाबू ने नशे की झोंक में कहा—

"देखो, हमने आपका मन बहलाने के लिए कैसा अच्छा प्रबन्ध किया है। आप कुछ खाइये। थोड़ी-सी शराब लीजिये। दिन-भर की थकावट और सुस्ती दूर होकर आपके शरीर में नए जीवन का संचार होगा। प्रातःकाल की ट्रेन से मैं आपको देहरे भेज दूँगा। वहाँ आप अपने पति से—निस्सन्देह भाग्यवान् पति से—मिल जायँगी।"

रमणी स्थिर थी। उसने कुछ न कहा। वह स्थिर दृष्टि से न-मालूम मन में क्या स्थिर कर रही थी।

हैं! रमणी के हाथ से फेंकी हुई शराब की बोतल से मास्टर बाबू का सिर फट गया। शराब के हल्के सुर्ख़ रँग के साथ मास्टर का गाढ़ा रक्त मिलकर उसके शरीर पर गिरने लगा। ग्लास के आघात से मेरे माथे पर भी गहरी चोट आई। किन्तु मुझ में फिर भी शक्ति थी। मैं उसे पकड़ सकता था, रोक सकता था; पर मैंने वैसा नहीं किया। इस-लिए नहीं कि मैं डर गया था, उसके रोषपूर्ण नेत्रों से मुझे डर मालूम

होने लगा था—नहीं। मैंने उसके नेत्रों में, उसके प्रभावपूर्ण कमनीय चेहरे में, विमला का प्रत्यक्ष दर्शन किया। शराब के नशे के कारण, भावुकता के कारण, या मेरी मानसिक अवस्था के कारण मुझे उसके रूप में विमला का सोलहो-आने दर्शन हुआ। यदि वह विमला होती तो मुझे इस नयदखी पर कितना रोष होता?—नीति के इस तत्व को समझकर मुझे उस पर दया ही आई; क्रोध न आया। रक्त-पात ठीक ही हुआ। कृत-कर्म्म का प्रायश्चित्त उचित ही हुआ। रमणी धीरता-पूर्वक किवाड़ खोलकर चली गई। चलते समय उसने मेरी ओर देखा। मैं काँप उठा। उसके नेत्रों में शासन का आतङ्क था। वैसा आतङ्क सभी साध्वी स्त्रियों के नेत्रों में होता है; किन्तु पाठक, आप उस आतङ्क को नहीं जानते। पापी ही उसे अच्छी तरह जानते हैं। वह दृष्टि पुलिस से बढ़कर हमारे लिए भय का कारण होती है। हमारा तीसरा साथी सुरत की मद्य के अधिक पीजाने के कारण कुर्सी पर पहिले से ही चित हो गया था। पाँच मिनट के भीतर ही उस छोटे-से कमरे में जो रक्त-पात हो गया था, उसकी उसे कुछ भी ख़बर न थी।

३

स्टेशन-मास्टर के ज़ख़्म को मैं रोज़ देखता था। रक्त सम्बन्धी विकार के कारण उनका ज़ख़्म भीषण होता जाता था। पीब पड़ जाने के कारण मास्टर बाबू रात-दिन तड़पता था। उसकी विकल अवस्था देखकर मेरा दिल हिल गया। मैंने भी तो उससे कम पाप-संग्रह नहीं किया। मुझ मेरे सिवा उसके पास कोई नहीं आता था। खाने-पीनेवाले मित्र मुझको भी कहीं जाने से रोकते थे, और, भीड़ में रहने की सम्भावना ऐसे

थे। मेरे ज्ञान-चक्षु कुछ-कुछ खुल गये थे। मेरे बिगड़े समय में भी वह लोग भाग जायँगे। मुझे निराशा हुई। खाने-पीनेवाले लोग, काले मुँह भ्रमरों की तरह, एक फूल को छोड़कर दूसरे फूल की तलाश में लग जाते हैं। मेरी वृत्ति बदल गई। मुझे सभी कामों से—भले और बुरे दोनों से—विराग होगया। मन बुझ गया। मद्य की क्षणिक उत्तेजना से तो मुझे बड़ी घिन हो गई। मास्टर बाबू की यातनापूर्ण लम्बी बीमारी, रमणी का रोषपूर्ण कटाक्ष और स्थिर-भाव—आदि अनेक प्रासंगिक बातों ने मेरे मन को एकदम कुछ-का-कुछ कर दिया।

उस दिन शरत्-पूर्णिमा थी। हम लोग मास्टर बाबू की शव-क्रिया करके नदी में स्नान कर रहे थे। ठण्डे जल में बार-बार ग़ोते लगाने पर भी मेरे मन की जलन न बुझती थी। मास्टर बाबू की विधवा स्त्री का आर्त्तनाद सुनकर मेरा कलेजा निकल पड़ता था। मास्टर बाबू की फ़िजूल-ख़र्ची ने उसके पास कुछ न छोड़ा था। किन्तु वह अपनी निराश्रयावस्था के कारण दुःखी न थी—कातर थी पति-वियोग कारण। पारिपार्श्विक अवस्था और मन के परिवर्त्तित भावों के कारण मेरा श्मशान-वैराग्य सच्चे वैराग्य में परिणत हो रहा था। मैं सोच रहा था कि मैं पापी हूँ; मैं भी अनेक रोगों के बीजों को शरीर में पाल रहा हूँ। इन बातों से मेरा मन उतना उचाट न होता था, जितना कि अपने लक्ष्य-हीन जीवन को देखकर। भाद्रपद की मेघाकुल, अर्द्धपूत अन्धकारपूर्ण रजनी में चपला की चंचल रेखा की तरह मेरे तमसाच्छन्न मन में भी आशा-देवी का एक बार—पर क्षण-भर के लिये—उदय हुआ। मेरे हृदय की तन्त्री में आशा का मधुर राग बज उठा। अभी समय है; कुछ कामों

का बहुत-कुछ प्रायश्चित्त हो सकता है; मैले-से-मैला कपड़ा यत्न-पूर्वक धोने से साफ़ हो सकता है; विगत जीवन के गहरे ज़ख़्म भी यत्न-पूर्वक चिकित्सा करने से अच्छे हो सकते हैं। और लोग स्नान करके चल भी दिये; मैं खड़ा-खड़ा इन्हीं बातों को सोच रहा था। चन्द्रदेव भी मेरे मानसिक अभ्युदय के उत्थान पर मुस्करा रहे थे। नदी की लहरें भी उठकर मेरे निश्चय का अनुमोदन करती थीं। वायुदेव भी पीपल के मुलायम पत्तों की मारफ़त मानों मुझसे कह रहे थे—शुभस्य शीघ्रम्।

४

१२ वर्षों से मैं गृह-त्यागी हूँ। गुरु की कृपा से मुझे अब देववाणी संस्कृत का अच्छा अभ्यास हो गया है। विचार-सागर से लेकर वेदान्त-दर्शन तक वेदान्त के सभी प्रसिद्ध और प्रकरण-ग्रन्थ मैंने गुरु-मुख से पढ़े हैं। उपनिषद् और गीता का भी मैंने मनोयोग-पूर्वक अध्ययन किया है। बारह वर्ष पहले के जीवन से मेरा वर्तमान जीवन कितना विभिन्न और उच्च है। अब उसमें आसक्ति नहीं है; काम-द्वेष नहीं है; आनन्द की धारा, कल-कल-नादिनी नदी की तरह, निर्बाध रूप से बही जा रही है। अनेक विद्यार्थियों को मैं वेदान्त पढ़ाता हूँ। अनेक, व्याकरण और तर्क भी मुझसे पढ़ते हैं। मेरे पास कपिल, कणाद और व्यास सदा ही वर्तमान रहते हैं। आत्मानुभव और समदर्शिता की तरङ्ग-विहीन मध्य में मेरा मन सदा ही मस्त रहता है। कैसी शान्ति है! निवृत्ति-जन्य कैसा आनन्द है!

भारत के सभी प्रान्तों में मैं घूम चुका हूँ। अनेक मुमुक्षुओं को आसन लगाने में मैं कृतकार्य हो चुका हूँ। जिस शहर में १५ वर्ष तक

मैं सरकारी कर्म्मचारी रहा था, वहाँ दो बार आया हूँ। किन्तु वहाँ मुझे कोई न पहचान सका। मेरे उपदेशों से वहाँ के अनेक निवासियों ने शान्ति-लाभ किया है। मेरे बढ़े हुए बाल और भरे हुए शरीर के कारण, वे मुझे न पहचान सके। शास्त्रीय अध्ययन और आत्म-चिन्ता के तेज ने भी मेरे विकृत मुख को कुछ-कुछ गम्भीर और उज्ज्वल कर दिया है। मैं सब को वेदान्त का चरम उपदेश नहीं करता। सभी को मैं ब्रह्मजीव की एकता की शिक्षा नहीं देता। मैं साधारण मनुष्यों के मल-विक्षेप-युक्त चित्तों की मलिनता, उन्हीं के आचरित धार्मिक कृत्यों द्वारा, दूर करने की चेष्टा करता हूँ। इसलिए मेरे पास सभी जाति और सभी विचार के मनुष्य आते हैं। उनसे मुझे और मुझसे उन्हें विचार-सम्बन्धी लाभ पहुँचता है।

दस वर्षों तक मैंने यथाशक्ति मनुष्यों का उपकार करके अपने पिछले जीवन में किये गये अपकार का प्रायश्चित्त किया है। पिछले साल से मैंने अखाड़े के पास एकान्त स्थान में कुटी बना ली है। फिर भी यहाँ लगातार कुछ विचारशील सत्सङ्गी मेरे पास पहुँच जाते हैं। उनके आने से मुझे भी खूब हर्ष होता है। जङ्गल में रहता हुआ मनुष्य भी अन्ततः समाज का ही पशु है। गृहस्थ-विद्वानों से मेरा बहुत उपकार हुआ है। वे मेरे गुरु हैं। किन्तु घरेलू झंझटों में फँसे रहने के कारण उनकी साधनावस्था विशेष अच्छी नहीं होती। इसलिए वे लोग मुझसे साधन-सम्बन्धी कोई साधारण बात सुनकर मुझ पर अनुरक्त हो जाते हैं।

उस दिन प्रोफ़ेसर राजकिशोर एम० ए० आये थे। वेदान्त के अच्छे ज्ञाता थे। अँग्रेज़ी में वेदान्त-ग्रन्थ पढ़कर उनके तत्त्व को इतना अच्छी

तरह बहुत कम आदमियों ने समझा होगा। मुझसे बातचीत करके वे बड़े प्रसन्न हुए। जल-वायु-परिवर्त्तन के लिए वे इधर आये हुए थे। 'जब तक पहाड़ पर रहेंगे, मेरे पास आयेंगे,' यह कहकर वे उस दिन चले गये।

दूसरे दिन वे अपनी धर्मपत्नी को भी साथ लाये। वे भी खूब पढ़ि-लिखी हैं। प्रोफेसर की पत्नी कहाने योग्य हैं। किन्तु उन्हें देखकर मुझे मालूम होगया कि चित्त का संयम करने के लिए अभी और भी कड़े साधन की आवश्यकता है। उसमें राग नहीं है, उसमें द्वेष नहीं है—क्षोभ-आदि निचले दर्जे के शत्रु भी नहीं हैं; किन्तु पूर्व-स्मृति से उत्पन्न हुई थोड़ी-सी भीति अभी तक अवशिष्ट है।

प्रोफ़ेसर की पत्नी ने चलते समय विनीत भाव से कहा—"स्वामिन्, आपके दर्शन से हमारी पर्वत-यात्रा सफल हो गई।"

मैंने माथे पर से जटायें हटाकर गिलास की गहरी चोट का निशान दिखाते हुए उत्तर दिया—

"माता, इस कुबुद्धि सन्तान को पहचानती हो? रोषमयी माता के एक बार दर्शन से जिस अधम सन्तान का इतना उपकार हुआ है, अब प्रसन्न-वदना जननी के दर्शन से भविष्यत् में कितना कल्याण होगा—उसकी इयत्ता नहीं?"

मुझे पहचानकर पति-पत्नी चकित हो गये। मुझ में उनकी श्रद्धा कम नहीं हुई। वे दोनों आज-कल मुझसे वेदान्त पढ़ रहे हैं। उन्हीं के विशेष अनुरोध से मैंने अपने तुच्छ जीवन की साधारण, पर उपदेशप्रद, घटनायें लिपिबद्ध की हैं। पाठक क्षमा करें।

श्रीचतुरसेन शास्त्री

जन्मकाल रचनाकाल

१९४८ वि० १९१४ ई०

खूनी

उसका नाम मत पूछिये। आज दस वर्ष से उस नाम को हृदय से और उस सूरत को आँखों से दूर करने को पागल हुआ फिरता हूँ। पर वह नाम और सूरत सदा मेरे साथ है। मैं डरता हूँ, वह निडर है; मैं रोता हूँ, वह हँसता है; मैं मर जाऊँगा, वह अमर है।

मेरी-उसकी कभी की जान-पहिचान न थी। दिल्ली में हमारी गुप्त सभा थी, सब दल के आदमी आये थे, वह भी आया था। मेरा उसकी ओर कुछ ध्यान न था, वह पास ही खड़ा एक कुत्ते-पिल्ले से किलोल कर रहा था। हमारे दल के नायक ने मेरे पास आकर मधुर-गम्भीर स्वर में धीरे-से कहा,—"इस युवक को अच्छी तरह पहचान लो, इससे तुम्हारा काम पड़ेगा।"

नायक चले गये और मैं युवक की तरफ़ झुका। मैंने समझा, शायद नायक हम दोनों को कोई एक काम सुपुर्द करेगा।

मैंने युवक से हँसकर कहा—"कैसा प्यारा जानवर है!" युवक ने अपने दूध के समान स्वच्छ आँखें मेरे मुख पर डालकर कहा,—"काश! मैं इसका सहोदर भाई होता!" मैं ठठाकर हँस पड़ा। वह मुस्कराकर रह गया। कुछ बातें हुई। उसी दिन वह मेरा मित्र बन गया!

दिन-पर-दिन व्यतीत हुए। अछूते प्यार की धाराएँ दोनों हृदयों में उमँडकर एक-धार हो गईं, सरल अकपट व्यवहार पर दोनों मुग्ध हो गए। वह मुझे अपने गाँव में ले गया; किसी तरह न माना। गाँव के एक किनारे स्वच्छ अट्टालिका थी। वह गाँव के ज़मींदार का बेटा था—इकलौता बेटा था, हृदय और सूरत का एक-सा। उसकी माँ ने दो दिन में ही मुझे 'बेटा' कहना शुरू किया। अपने होश के दिनों में मैंने वहाँ सात दिन माता का स्नेह पाया। फिर चला आया। फिर गया और आया। अब तो बिना उसके मन न लगता था। दोनों के प्राण दोनों में अटक रहे थे। एक दिन उन्मत्त प्रेम के आवेश में उसने कहा था,—"किसी अघट घटना से जो हम दोनों में से एक स्त्री बन जाय तो मैं तो तुमसे ब्याह ही करलूँ।"

नायक से कई बार पूछा—"क्यों तुमने मुझे उससे मित्रता करने को कहा था?" वह सदा यही कहते—"समय पर जानोगे।" गुप्त सभा की भयङ्कर गम्भीरता सब लोग नहीं जान सकते। नायक मूर्तिमान भयङ्कर गम्भीर थे।

उस दिन भोजन के बाद उसका पत्र मिला। वह मेरी पॉकेट में आज

भी भरा है। पर किसी को दिखाऊँगा नहीं। उसे देखकर दो साँस सुख से ले लेता हूँ, आँसू बहाकर हलका हो जाता हूँ। किसी पुराने रोगी को जैसे दवा खुराक बन जाती है, मेरी वेदना को भी वह चिट्ठी खुराक बन गई है।

चिट्ठी पढ़ भी न पाया था, नायक ने बुलाया। मैं सामने सरल-स्वभाव खड़ा हो गया। बारहों-प्रधान हाज़िर थे। सन्नाटा भीषण सत्य की तसवीर खींच रहा था। एक-ही मिनट में मैं गम्भीर और दृढ़ हो गया। नायक की मर्म-भेदिनी दृष्टि मेरे नेत्रों में गड़ गई, जैसे सत लोहे के तीर आँख में घुस गए हों। मैं पलक मारना भूल गया, मानों नेत्रों में आग लग गई हो। पाँच मिनट बीत गए। नायक ने गम्भीर वाणी से कहा,—"सावधान! क्या तुम तैयार हो?"

मैं सचमुच तैयार था। मैं चौंका नहीं। आख़िर मैं उसी सभा का परीक्षार्थी सभ्य था। मैंने नियमानुसार सिर झुका दिया। गीता की रक्त-वर्ण रेशमी पोथी धीरे-से मेज़ पर रख दी गई। नियमपूर्वक मैंने दोनों हाथों से उठाकर सिर पर चढ़ा ली।

नायक ने मेरे हाथ से पुस्तक लेली। क्षण-भर सन्नाटा रहा। नायक ने एकाएक उसका नाम लिया और क्षण-भर में छः-नली पिस्तौल मेज़ पर रख दी।

वह छैः नामों का शब्द उस पिस्तौल की छओं गोलियों की तरह मस्तक में घुस गया। पर मैं कम्पित नहीं हुआ। प्रश्न करने और कारण पूछने का निषेध था। नियमपूर्वक मैंने पिस्तौल उठाकर छाती पर रक्खा और ध्यान से देखा।

तत्क्षण मैंने यात्रा की। वह स्टेशन पर हाज़िर था। अपने पत्र —मेरे प्रेम-पत्र पर इतना भरोसा उसे था; देखते ही लिपट गया। घर गये, चार दिन रहे। वह क्या करता है, क्या कहता है, मैं देख, सुन नहीं सकता था। शरीर सुन्न होगया था, आत्मा दृढ़ था। हृदय धड़क रहा था, पर विचार स्थिर थे।

चौथे दिन प्रातःकाल जलपान करके हम स्टेशन चले। ताँगा नहीं लिया, जङ्गल में घूमने जाने का विचार था। काव्यों की बढ़-बढ़कर आलोचना होती चलती थी। उस मस्ती में वह मेरे मन की उद्विग्नता भी न देख सका। धूप और खिली। पसीने बह चले। मैंने कहा, "चलो कहीं छाँह में बैठें।" घना कुञ्ज सामने था, वहीं गये। बैठते ही जेब से दो अमरूद निकालकर उसने कहा,—"सिर्फ़ दो ही पके थे। घर के बग़ीचे के हैं। यहीं बैठकर खाने के लिए लाया हूँ। एक तुम्हारा, एक मेरा।"

मैंने चुपचाप अमरूद लिया और खाया। एकाएक मैं उठ खड़ा हुआ। वह आधा अमरूद खा चुका था, उसका ध्यान उसी के स्वाद में था। मैंने धीरे-से पिस्तौल निकाली, घोड़ा चढ़ाया और अकम्पित स्वर में उसका नाम लेकर कहा,—"अमरूद फेंक दो और भगवान का नाम लो, मैं तुम्हें गोली मारता हूँ।"

उसे विश्वास न हुआ। उसने कहा—"बहुत ठीक, पर इसे खा तो लेने दो!" मेरा धैर्य छूट रहा था। मैंने रूखे कण्ठ से कहा,—"अच्छा, खा लो।" खाकर वह खड़ा होगया, सीधा तनकर। फिर उसने कहा,—"अच्छा मारो गोली!" मैंने कहा, "हँसी मत समझो, मैं तुम्हें गोली

ही मारता हूँ, भगवान का नाम लो।" उसने हँसी में ही भगवान का नाम लिया और फिर वह नक़ली गम्भीरता से खड़ा हो गया। मैंने एक हाथ से अपनी छाती दबाकर कहा,—"ईश्वर की सौगन्ध! हँसी मत समझो, मैं तुम्हें गोली मारता हूँ!"

मेरी आँखों में वही कच्चे दूध के समान स्वच्छ आँखें मिलाकर कहा,—"मारो।"

एक क्षण-भर भी विलम्ब करने से मैं कर्तव्य-विमुख हो जाता। पल-पल में साहस डूब रहा था। दनादन दो शब्द गूँज उठे। वह कटे वृक्ष की तरह गिर पड़ा। दोनों गोलियाँ छाती को पार कर गईं।

मैं भागा नहीं। भय से इधर-उधर मैंने देखा भी नहीं। रोया भी नहीं। मैंने उसे गोद में उठाया। मुँह की धूल पोंछी, रक्त साफ़ किया। आँखों में इतनी ही देर में कुछ का-कुछ हो गया था। देर तक लिये बैठा रहा;—जैसे माँ सोते बच्चे को—जागने के भय से—लिये, निश्चल बैठी रहती है!

मैं उठा। ईंधन चुना, चिता बनाई और जलाई। अन्त तक बैठा रहा।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

बारहों प्रधान हाज़िर थे। उसी स्थान पर जाकर मैं खड़ा हुआ। नायक ने नीरव हाथ बढ़ाकर पिस्तौल माँगी। पिस्तौल दे दी। कार्य-सिद्धि का सङ्केत सम्पूर्ण हुआ। नायक ने खड़े होकर वैसे ही गम्भीर स्वर में कहा,—"तेरहवें प्रधान की कुर्सी हम तुम्हें देते हैं।"

मैंने कहा,—"तेरहवें प्रधान की हैसियत से मैं पूछता हूँ कि उसका अपराध मुझे बताया जाय।"

नायक ने नम्रतापूर्वक जवाब दिया,—"वह हमारे हृदय-सम्बन्धी षड्यन्त्रों का विरोधी था, हमें उस पर सरकारी मुख़बिर होने का सन्देह था।" मैं कुछ कहने योग्य न रहा!

नायक ने वैसे ही गम्भीरता से कहा,—"नवीन प्रधान की हैसियत से तुम यथेच्छ एक पुरस्कार माँग सकते हो।"

अब मैं रो उठा। मैंने कहा,—"मुझे मेरे वचन फेर दो, मुझे मेरी प्रतिज्ञाओं से मुक्त करो, मैं उसी के समुदाय का हूँ। तुम लोगों में नङ्गी छाती पर तलवार के घाव खाने की मर्दानगी न हो, तो तुम अपने को देश-भक्त कहने में संकोच करो। तुम्हारी इन कायर हत्याओं को मैं घृणा करता हूँ। मैं हत्यारों का साथी, सलाही और मित्र नहीं रह सकता, तुम तेरहवीं कुर्सी जला दो।"

नायक को क्रोध न आया। बारहों प्रधान पत्थर की मूर्ति की तरह बैठे रहे। नायक ने उसी गम्भीर स्वर में कहा,—"तुम्हारे इन शब्दों की सजा मौत है, पर नियमानुसार तुम्हें क्षमा पुरस्कार में दी जा सकती है।"

मैं उठकर चला गया।

दश वर्ष व्यतीत होगये। देश-भर में घूमा, कहीं ठहरा नहीं; भूख-प्यास, विश्राम और शान्ति की इच्छा ही मर गई दीखती है। बस, अब यही पत्र मेरे नेत्र और हृदय की रोशनी है। मेरा वारण्ट निकला था। मन में आई, फाँसी पर जा चढ़ूँ; फिर सोचा, मरते ही उस सजन को भूल जाऊँगा, मरने में अब क्या स्वाद है? जीना चाहता हूँ। किसी तरह सदा जीते रहने की लालसा मन में बसी है, जीते-जी ही मैं उसे देख और याद कर सकता हूँ!

जीजाजी

१

क्षणागत बीत रहे थे। अँधेरी रात बादलों से घिर रही थी। रोगिणी ने अर्द्ध-तन्द्रावस्था में पुकारा—"जीजाजी !"

रोगिणी के पिता खाट के पास ही बैठे थे। उन्होंने भरे हुए कण्ठ से दिलासा देते हुये कहा—"बिटिया ! ऐसी अधीर मत हो, ज़रा धीरज धरो। अभी तो गाड़ी का समय है। तार तो ठीक समय पर पहुँच ही गया होगा; वह क्या रुकनेवाले हैं !"

रोगिणी ने मानों कुछ सुना ही नहीं। उसने वैसे ही अधीर और आर्त्तस्वर में पुकारा—"जीजाजी !"

बूढ़ा चुपचाप रोने लगा। द्वार पर शब्द हुआ। अमृतकला दौड़ी हुई आई, और उसने चिल्लाकर कहा—"जीजाजी आगये !"

रोगिणी ने आँख खोली। उसकी अवस्था सर्वथा आशा-हीन थी। छाती का फोड़ा इधर छाती के पार था, उधर कमर के। सात महीने से करवट भी नहीं ले सकती। दोनों पैर मारे गये थे। एक हाथ रह

गया था—दूसरे में हिलने की शक्ति नहीं थी। दस्तों की गिनती न थी। खाट काट दी गई थी। सिर्फ एक सुभीता था, वह सिर को यथेच्छ हिला सकती थी। आँख खोलकर उसने द्वार की ओर सिर फेरा।

एक श्याम-वर्ण के युवक ने घर में प्रवेश किया। उसके एक हाथ में फलों का रूमाल था, और दूसरे में चमड़े का बैग। दोनों वस्तुओं को वह नीचे न रख सका, वज्राहत की तरह मुमूर्षु स्त्री के मुख को देखने लगा।

एकाएक उसी उन्मत्त और विकल स्वर में रोगिणी चिल्ला उठी—"जीजाजी!"

बन्दूक की गोली की तरह यह क्रन्दन युवक के मस्तक में घुस गया। उस ने देखा, रोगिणी के नेत्रों में सदा की लज्जा या संकोच नहीं है। उसकी आँखों से आँसू टपक पड़े। उसने अवरुद्ध कण्ठ से सास की ओर देखकर कहा—"क्या पहिचानती नहीं हैं?" बूढ़ा फूटकर रो पड़ा, और बुढ़िया पछाड़ खाकर खाट पर झुक गई। उसने कहा—"मेरी बच्ची! ज़रा देख लो, ये तेरे पूज्य पतिदेव हैं।"

वैसे ही स्वर में रोगिणी ने फिर नाद किया—"जीजाजी!" इसके बाद उसका सारा शरीर थर-थर काँपने लगा, और दाँत कटकटाने लगे।

युवक ने घबराकर कहा—"दवा, दवा, दवा लाओ—यह क्या हो रहा है!" कुछ ही क्षण में रोगिणी सचेत, सावधान हो गई। युवक खाट के किनारे बैठकर रोने लगा। धीरे-से, किन्तु बड़े कष्ट से, अपना सूखा लकड़ी-सा हाथ युवक के कन्धे पर रखकर उसने कहा—"रोओ मत जीजाजी।"

इस स्वर में वह उन्माद न था, वह विकलता भी न थी। एक

ठण्डा—बहुत ही ठण्डा—धैर्य था। बूढ़ा और बुढ़िया वहाँ खड़े न रह सके। युवक ने देखा, रोगिणी की पथराई हुई आँखें चिर विदा माँग रही हैं। आँखें चार होते ही उनमें अश्रु-धारा बह चली। युवक के मुँह से शब्द नहीं निकला—वह अनन्त रुदन रो रहा था।

फिर वही हाहाकार गूँज उठा—"जीजाजी!" घर का वातावरण कम्पायमान हो गया। युवक ने अधीर होकर कहा—"इस तरह मत पुकारो प्यारी! मैं तो तुम्हारा लुटा हुआ दास हूँ। क्या तुम मुझे पहचानती भी नहीं हो?"

रोगिणी ने क्षीण स्वर में कहा—"बड़ी मुश्किल से पहचाना है; अब भुलावा मत दो जीजाजी!" इतना कहकर उसने अपनी बर्फ के समान ठण्डी और सफ़ेद उँगलियों से युवक का हाथ छू लिया।

उसके हाथ को आदर से अपने हाथ में लेकर युवक ने विकृत स्वर में कहा—"तो क्या धर्म से हम दोनों पति-पत्नी नहीं हैं?"

रोगिणी पर पति की रोती हुई करुणा-पूर्ण बात का कुछ भी असर नहीं पड़ा। न वह रोई, न काँपी। उसने स्थिर स्वर में कहा—"ना"

"ना?"—यह युवक ने चकित होकर पूछा।

इस बार रोगिणी रो उठी। शीघ्र ही उसकी हिचकियाँ बँध गईं। कुछ देर बाद उसने कहा—"हम दोनों का ब्याह कब हुआ था? वह एक भूल थी, जो अब सुधर रही है। तुमने अपूतकन्या की तरह मेरा हाथ पकड़ लिया जीजाजी। अब मैं अपने घर जाती हूँ। तुम्हारी जोड़ी सलामत रहे।"

युवक ने अन्त को अधीर होकर दोनों हाथों से उसका मुँह बन्द

कर दिया, और पागल की तरह कहा "ना ना, बस करो। यह नहीं सुना जाता। कदापि नहीं। इसके सुनने में भी पाप है।"

रोगिणी ने मुँह पर से हाथ हटाकर कहा—"इतनी शक्ति नहीं है कि तुम्हारे इतने ज़ोर-ज़ुल्म सहूँ। अच्छा, तुम्हें क्या ब्याह की बात याद है?"

युवक ने 'हाय' करके कहा—"वह दिन तो बिना याद किये ही याद रहता है—कैसा उत्साह और जीवन का वह दिन था?"

"फिर? वह सुख, उत्साह और जीवन कहाँ गया?"

"यही, मेरे सामने ही पड़ा है।"

युवक मुँह ढाँपकर रोने लगा।

रोगिणी ने गद्गद स्वर में कहा—"यही भूल थी। तुमने भूल से पराई वस्तु ले ली थी; सो तृप्त होकर उसे कैसे भोग सकते थे, जीजाजी? मैं सिर्फ़ एक दफ़े तीन दिन के लिये तुम्हारे घर गई थी। हम लोगों ने परस्पर एक दूसरे को न देखा, न छुआ। हम दोनों पवित्र हैं।"

"मेरा-तुम्हारा इतना ही भोग था।"

"यही तो जीजाजी! सो हमने भोग लिया। अब असली अधिकारी को भोगने दो।"

"असली अधिकारी कौन?"

"अमृतकला।"

"ना, यह नहीं होने का।"

"यह अवश्य होने का है। करो, बहस करो, मुझ मरती हुई से करो बहस।" इतना कहने पर वह एकदम बदहवास होगई। उसकी आँखें पथरा गईं।

युवक चुपचाप दोनों हाथों से मुँह ढाँपकर रोने लगा। पीछे से किसी के हाथ का स्पर्श पाकर जो फिरकर देखा, तो बुढ़िया सास खड़ी थी। उसने कहा—"आज एक सप्ताह से इसने 'जीजाजी' की धुन बाँध रक्खी है। इसी की बात रहे बेटा! अमृतकला को ही पैर धोने दो।" युवक ने देखा, बुढ़िया के पीछे बूढ़े ससुर भी करुणदृष्टि से वही विनय कर रहे हैं।

युवक ने हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाते हुए कहा—"ना माँ! मुझ से यह पाप न होगा।"

बूढ़े ने अपनी दाढ़ी हाथ में ले और आगे बढ़कर युवक के आगे झुककर कहा—"मेरी सफ़ेदी की ओर तो देखो! मुझे अकेला मत छोड़ो—बिटिया की ही बात रक्खो।"

युवक ने बड़े ही दुख के साथ कहा—"ना, ना, मुझसे यह न होगा।"

रोगिणी ने धीमे और उखड़े हुए स्वर में कहा—'तो जाने दो, मैं भी नहीं मरूँगी। इसी अवस्था में पड़ी-पड़ी सदा सड़ती रहूँगी। और, जो कहीं बिना मेरी इच्छा के ही मेरा दम निकल गया, तो भी मेरी आत्मा यहीं मड़राती रहेगी। हम सब में से कोई कभी सुखी नहीं रहेगा जीजाजी!"

उसके सूखे और पीले मुख पर आँसू ढुलकने लगे। पहिले हिचकियाँ आईं, पीछे हुचकी आने लगी, और उन्हीं हुचकियों के साथ उसकी पसलियाँ चलने लगीं। आँखें बाहर निकल आईं। चेहरे पर मुर्दनी छा गई। अमृतकला 'हाय जीजी! हाय जीजी' चिल्ला उठी।

तीनों विमूढ़ होगये। युवक ने देखा, बूढ़ा और बुढ़िया, दोनों टूटे

दिल से उनकी ओर देख रहे हैं। उसने लज्जा से मुँह ढाँपकर कहा—"वह जो कहेगी, वही करूँगा—पर, हाय! ईश्वर!"—कहता हुआ युवक धरती पर बैठ गया।

रोगिणी ने धीरे-धीरे आँखें खोलकर जल माँगा। फिर उसने कहा—"कहाँ है अमृत, उसे मेरे पास लाओ।"

घर-भर छान डाला गया। अमृतकला गई कहाँ? वह छत पर बूँदों से भीगती हुई, पड़ी, मुँह छिपाए सिसक-सिसककर रो रही थी। बाप को देखते ही वह धाड़ मारकर रो उठी।

वृद्ध ने बड़े दुलार से उसे गोद में उठा लिया, और रोगिणी के पास लाया। वह रो रही थी, सिकुड़ रही थी, और मरी-सी जाती थी। सब ने देखा, इतने ही समय में वह बालिका पीली पड़ गई है। कमरे में घुसते ही उसने कहा—"ना, ना, जीजी! मैं मर जाऊँगी, ना ना-ना!"

यों कहकर अपने को छुड़ाकर वह भाग जाने के लिए छटपटाने और हाथ-पैर मारने लगी।

माँ ने कहा—"बेटी, जीजी की ओर तो देख। फिर वह कहाँ देखने को मिलेगी? कब कुछ कहने आवेगी?"

रोगिणी ने क्लेश स्वर में—"बहन! इधर आ।" इतना कहकर बालिका का हाथ पकड़ लिया। एक नवीन बल उसके शरीर में जैसे आ गया। बालिका ने रोते-रोते बदहवास होकर कहा—"मैं नहीं, मैं नहीं, जीजी!"

रोगिणी ने उधर न देखकर युवक से कहा—"यहाँ आओ जीजाजी!"

पत्थर की मूर्ति की तरह युवक वहीं खड़ा रहा। उसके सारे शरीर से

पसीना बह चला। एक बार उसने कातर दृष्टि से स्त्री की ओर देखा। उस समय रोगिणी की दृष्टि निस्पन्द धारा में असंख्य अनुनय-विनय बरसा रही थी। वह कैसी विनय थी, जो उठती जवानी की सब कामनाओं के अन्तिम छोर से प्रारम्भ होती थी। वह कैसा कटाक्ष था, जिसमें निराशा के सूखे बादलों के बीच केवल एक अनुनय की कालिमा थी। युवक न देख सका। वह वध-स्थान पर बकरे की तरह रोगिणी के पास जा खड़ा हुआ। रोगिणी चन्द्रकला ने झट अमृतकला का हाथ उसके हाथ में देकर कहा—"तुम दोनों आदमी सुख से रहना।"

इसके बाद वह थकावट से शिथिल हो गई; किन्तु क्षण-भर के बाद ही उसके मुख पर मुसकराहट आई। उसने उत्साह से पुकारा "जीजाजी!"

इस बार इस ध्वनि में न वह उन्माद था, न हाहाकार! उस मध्य-रात्रि में वह मानों विहाग रागिनी का एक स्वर था। पर वह स्त्री-हृदय का अन्तिम उच्छ्वास था। उस हर्ष के उद्वेग में एकाएक उसके हृदय का स्पन्दन बन्द हो गया। मुसकराने को जो दाँत निकले थे, वे निकले ही रह गए। मस्तानी रागिनी का जो स्वर था, वह बीच ही में टूट गया। पक्षी उड़ गया, पींजरा पड़ा रह गया।

जी!' 'हटो बाछा!'*—कहते हुए सफ़ेद फेंटों, खच्चरों और बत्तकों, गन्ने और खोमचे और भारेवालों के जङ्गल में राह खेते हैं। क्या मजाल है, कि 'जी' और 'साहब' बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं; चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती, तो उनकी बचनावली के ये नमूने हैं—हट जा, जीणे जोगिए; हट जा, करमा वालिए; हट जा, पुत्ताँ प्यारिए; बच जा, लम्बी वालिए। समष्टि में इनके अर्थ हैं, कि तू जीने योग्य है, तू भाग्योंवाली है, पुत्रों को प्यारी है, लम्बी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहिये के नीचे आना चाहती है?—बच जा।

ऐसे बम्बूकार्टवालों के बीच में होकर एक लड़का और एक लड़की, चौक की इक दूकान पर आ मिले। उसके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था, कि दोनों सिक्ख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिये दही लेने आया था, और यह रसोई के लिये बड़ियाँ। दूकानदार एक परदेशी से गुथ रहा था, जो सेर-भर गीले पापड़ों की गड्डी को गिने बिना हटता न था।

"तेरे घर कहाँ है?"

"मगरे में;—और तेरे?"

"माँझे में;—यहाँ कहाँ रहती है?"

"अतरसिंह की बैठक में; वे मेरे मामा होते हैं।"

"मैं भी मामा के यहाँ आया हूँ, उनका घर गुरु बाज़ार में है।"

---

* बादशाह

इतने में दुकानदार निबटा, और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ-साथ चले। कुछ दूर जाकर लड़के ने मुसकराकर पूछा—"तेरी कुड़माई* हो गई?"

इस पर लड़की कुछ आँखें चढ़ाकर 'धत्' कहकर दौड़ गई, और लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे-तीसरे दिन सब्ज़ीवाले के यहाँ, दूधवाले के यहाँ, अकस्मात् दोनों मिल जाते। महीना-भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिये पूछा, तो लड़की, लड़के की सम्भावना के बोली—"हाँ होगई।"

"कब?"

"कल; देखते नहीं, यह रेशम से कढ़ा हुआ 'सालू' †।"

लड़की भाग गई। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छाबड़ीवाले की दिन-भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा, और एक गोभीवाले के ठेले में दूध उड़ेल दिया। सामने नहाकर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अन्धे की उपाधि पाई। तब कहीं घर पहुँचा।

५

"राम-राम, यह भी कोई लड़ाई है! दिन-रात खन्दकों में बैठे हड्डियाँ अकड़ गईं। लुधियाना से दस-गुना जाड़ा और मेंह, और बरफ़ ऊपर से। पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं। ग़नीम कहीं दिखाता नहीं;—घंटे-दो घंटे में कान के परदे फाड़नेवाले धमाके के साथ सारी

* सगाई। † ओढ़नी।

ख़न्दक हिल जाती है, और सौ-सौ गज़ धरती उछल पड़ती है। इस गैबी गोले से बचे तो कोई लड़े। नगरकोट का ज़लज़ला सुना था, यहाँ दिन में पचीस ज़लज़ले होते हैं। जो कहीं ख़न्दक से बाहर साफ़ा या कुहनी निकल गई, तो चटाक से गोली लगती है। न-मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुए या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।"

"लहनासिंह, और तीन दिन हैं। चार तो ख़न्दक में बिता ही दिये। परसों 'रिलीफ़' आजायगी, और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका* करेंगे, और पेट-भर खा सो रहेंगे। उसी फिरंगी† मेम के बाग़ में—मख़मल का-सा हरा घास है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं, दाम नहीं लेती। कहती है—'तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आये हो।'

"चार दिन तक पलक नहीं झँपी। बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है, और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ाकर मार्च का हुक्म मिल जाय। फिर सात जरमनों को अकेला मारकर न लौटूँ, तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े—संगीन देखते ही मुँह फाड़ देते हैं, और पैर पकड़ने लगते हैं। यों अँधेरे में तीस-तीस मन का गोला फेंकते हैं। उस दिन धावा किया था—चार मील तक एक जर्मन नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल साहब ने हट आने का कमान दिया, नहीं तो—"

"नहीं तो सीधे बर्लिन पहुँच जाते। क्यों?" सूबेदार हज़ारासिंह ने मुसकराकर कहा—"लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाये नहीं

---

* बकरा मारना। † फ्रेंच।

चलते। बड़े अफ़सर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ़ बढ़ गये तो क्या होगा?"

"सूबेदारजी, सच है," लहनासिंह बोला—"पर करें क्या? हड्डियों-हड्डियों में तो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं, और खाई में दोनों तरफ़ से चम्बे की बावलियों के-से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाय, तो गरमी आजाय।"

"उदमी*, उठ, सिगड़ी में कोले डाल। वज़ीरा, तुम चार जने बालटियाँ लेकर खाई का पानी बाहर फेंको। महासिंह, शाम होगई है, खाई के दरवाज़े का पहरा बदला दे।" यह कहते हुए सूबेदार सारी ख़न्दक में चक्कर लगाने लगे।

वज़ीरसिंह पलटन का विदूषक था। बालटी में गदला पानी भरकर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला—"मैं पाधा बन गया हूँ। करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण!" इस पर सब खिलखिला पड़े, और उदासी के बादल फट गये।

लहनासिंह ने दूसरी बालटी भरकर उसके हाथ में देकर कहा—"अपनी बाड़ी के ख़रबूज़ों में पानी दो। ऐसा खाद का पानी पंजाब-भर में नहीं मिलेगा।"

"हाँ, देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस घुमा‡ ज़मीन यहाँ माँग लूँगा, और फलों के बूटे लगाऊँगा।"

"लाड़ी होराँ को भी यहाँ बुला लोगे? या वही दूध पिलानेवाली फरंगी मेम—"

---

* उद्यमी। ‡ ज़मीन की माप। † पैक।

"चुपकर। यहाँवालों को शरम नहीं।"

"देस-देस की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका, सिख तम्बाखू नहीं पीते। वह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है, और मैं पीछे हटता हूँ, तो समझती है, कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुलक के लिये लड़ेगा नहीं।"

"अच्छा, अब बोधसिंह कैसा है?"

"अच्छा है।"

"जैसे मैं जानता ही न होऊँ! रात-भर तुम अपने दोनों कम्बल उसे उढ़ाते हो, और आप सिगड़ी के सहारे गुज़र करते हो। उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे लकड़ी के तख़्तों पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो। कहीं तुम न माँदे पड़ जाना। जाड़ा क्या है, मौत है, और 'निमोनिया' से मरनेवालों को मुरब्बे (नई नहरों के पास वर्ग-भूमि) नहीं मिला करते।"

"मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूँगा। भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा, और मेरे हाथ के लगाये हुए आम के पेड़ की छाया होगी।"

वज़ीरसिंह ने त्यौरी चढ़ाकर कहा—"क्या मरने-मराने की बात लगाई है? मरे जर्मनी और तुरक! हाँ भाइयो, कैसे—"

दिल्ली शहर तें पिशौर नुँ जांदिए,
कर लेणा लौंगाँ दा बपार मडिये;
कर लेणा नाडेदा सौदा अड़िए—
(ओय) लाणा चटाका कदुए नुँ।

कदू बणाया वे मजेदार गोरिये

हुण खाणा चटका कदुए नुं ॥ *

कौन जानता था कि दाढ़ियोंवाले, घरबारी सिख ऐसा लुच्चों का गीत गायेंगे, पर सारी खन्दक इस गीत से गूँज उठी और सिपाही फिर ताज़े होगये, मानों चार दिन से सोते और मौज़ ही करते रहे हों।

३

दो पहर रात गई है। अन्धेरा है। सन्नाटा छाया हुआ है। बोधसिंह खाली बिसकुटों के तीन टिनों पर अपने दोनों कम्बल बिछाकर और लहनासिंह के दो कम्बल और एक बरानकोट † ओढ़कर सो रहा है। लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आँख खाई के मुख पर है और एक बोधसिंह के दुबले शरीर पर। बोधसिंह कराहा।

'क्यों बोधसिंह भाई, क्या है?'

'पानी पिला दो।'

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुँह से लगाकर पूछा—'कहो कैसे हो?' पानी पीकर बोधा बोला—'कँपनी ‡ छुट रही है। रोम-रोम में तार दौड़ रहे हैं। दाँत बज रहे हैं।'

'अच्छा, मेरी जरसी पहन लो?'

'और तुम?'

---

* अरी दिल्ली शहर से पेशावर को जानेवाली, लौंगों का व्यापार कर ले और इज़ारबन्द का सौदा करले। जीभ चटचटाकर कद्दू खाना है। गोरी! कद्दू मज़ेदार बना है। अब चटचटाकर इसे खाना है।

† ओवर कोट ‡ कँपकपी।

'मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गर्मी लगती है; पसीना आ रहा है।'

'ना, मैं नहीं पहनता; चार दिन से तुम मेरे लिये—'हाँ, याद आई। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज सवेरे ही आई है। बिला-यत में बुन-बुनकर भेज रही हैं। गुरु उनका भला करे।' यों कहकर लहना अपना कोट उतारकर जरसी उतारने लगा।

'सच कहते हो?'

'और नहीं झूठ?' यों कहकर नाहीं करते बोधा को उसने ज़बरदस्ती जरसी पहना दी और आप ख़ाकी कोट और जीन का कुरता भर पहन-कर पहरे पर आ खड़ा हुआ। मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी।

आधा घण्टा बीता। इतने में खाई के मुँह से आवाज़ आई 'सूबे-दार हज़ारासिंह!'

'कौन लपटन साहब? हुकुम हुज़ूर' कहकर सूबेदार तनकर फौजी सलाम करके सामने हुआ।

'देखो, इसी समय धावा करना होगा। मीलभर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से ज़ियादह जर्मन नहीं हैं। इन पेड़ों के नीचे-नीचे दो खेत काटकर रास्ता है। तीन-चार घुमाव हैं। जहाँ मोड़ है वहाँ पन्द्रह जवान खड़े कर आया हूँ। तुम यहाँ दस आदमी छोड़कर सब को साथ ले उनसे जा मिलो। खन्दक छीनकर वहीं, जबतक दूसरा हुक्म न मिले, डटे रहो। हम यहाँ रहेगा।'

'जो हुक्म।'

चुपचाप सब तैयार हो गये। बोधा भी कम्बल उतारकर चलने लगा। तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ तो बोधा

के बाप सूबेदार ने उँगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझकर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा-बुझाकर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुँह फेरकर खड़े हो गये और जेब से सिगरेट निकालकर सुलगाने लगे। दस मिनट बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ाकर कहा—

'लो तुम भी पियो'

आँख मारते-मारते लहनासिंह सब समझ गया। मुँह का भाव छिपाकर बोला—'लाओ, साहब।' हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा। बाल देखे। तब उसका माथा ठनका। लपटन साहब के पट्टियोंवाले बाल एक दिन में कहाँ उड़ गये और उनकी जगह क़ैदियों-से कटे हुए बाल कहाँ से आये?

शायद साहब शराब पिये हुए हैं और उन्हें बाल कटवाने का मौक़ा मिल गया है? लहनासिंह ने जाँचना चाहा। लपटन साहब पाँच वर्ष से उसकी रेजिमेंट में थे।

'क्यों साहब हमलोग हिन्दुस्तान कब जायँगे?'

'लड़ाई ख़तम होने पर। क्यों क्या यह देश पसन्द नहीं?'

'नहीं साहब, शिकार के वे मज़े यहाँ कहाँ? याद है, पारसाल नकली लड़ाई के पीछे हम आप जगाधरी के ज़िले में शिकार करने गये थे—'हाँ, हाँ'—वहीं जब आप खोते* पर सवार थे और आपका ख़ानसामा अब्दुल्ला रास्ते के एक मन्दिर में जल चढ़ाने को रह गया था?

* गधे।

'बेशक, पाजी कहीं का'—सामने से वह नीलगाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी थी। और आप की एक गोली कन्धे में लगी और पुट्ठे में निकली। ऐसे अफ़सर के साथ शिकार खेलने में मज़ा है! क्यों साहब, शिमले से तैयार होकर उस नीलगाय का सिर आ गया था न? आपने कहा था कि रजमैंट की मैस में लगायेंगे। 'हाँ, पर मैंने वह विलायत भेज दिया'—ऐसे बड़े-बड़े सींग! दो-दो फुट के तो होंगे?'

"हाँ, लहनासिंह, दो फुट चार इञ्च के थे। तुमने सिगरेट नहीं पिया?"

"पीता हूँ साहब, दियासलाई ले आता हूँ"—कहकर लहनासिंह खन्दक में घुसा। अब उसे सन्देह नहीं रहा था। उसने झटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिए।

अँधेरे में किसी सोनेवाले से वह टकराया।

'कौन? वज़ीरासिंह?'

'हाँ, क्यों लहना? क्या, क़यामत आ गई? ज़रा तो आँख लगने दी होती?'

४

'होश में आओ। क़यामत आई और लपटन साहब की वर्दी पहनकर आई है।'

'लपटन साहब या तो मारे गये या क़ैद हो गये हैं। उनकी वर्दी पहनकर यह कोई जर्मन आया है। सूबेदार ने इसका मुँह नहीं देखा। मैंने देखा और बातें की हैं। सोहरा* साफ़ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू। और मुझे पीने को सिगरेट दिया है?

* ससुरा (गाली)

'तो अब ?'

'अब मारे गये। धोखा है। सूबेदार होरां कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहाँ खाई पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो। पल्टन के पैरों के निशान देखते-देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत न गये होंगे। सूबेदार से कहो कि एकदम लौट आवें। ख़न्दक की बात झूठ है। चले जाओ, ख़न्दक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खुड़के। देर मत करो।

'हुकुम तो यह है कि यहीं—'

'ऐसी तैसी हुकुम की! मेरा हुकुम—जमादार लहनासिंह जो इस वक्त यहाँ सब से बड़ा अफ़सर है उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की ख़बर लेता हूँ।' 'पर यहाँ तो तुम आठ ही हो।'

'आठ नहीं, दस लाख। एक-एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।'

लौटकर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले। तीनों को जगह-जगह ख़न्दक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार-सा बाँध दिया। तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रखा। बाहर की तरफ़ जाकर एक दियासलाई जलाकर गुत्थी पर रखने—

बिजली की तरह दोनों हाथों से उलटी बन्दूक को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तानकर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहना सिंह ने एक कुन्दा साहब की गर्दन

पर मारा और साहब "आँख! * मीन गौट्" कहते हुए चित्त हो गये। लहनासिंह ने तीनों गोले बीनकर खन्दक के बाहर फेंके और साहब को घसीटकर सिगड़ी के पास लिटाया। जेबों की तलाशी की। तीन-चार लिफ़ाफ़े और एक डायरी निकालकर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्छा हटी। लहनासिंह हँसकर बोला—'क्यों लपटन साहब? मिज़ाज कैसा है? आज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के ज़िले में नीलगायें होती हैं और उनके दो फुट चार इञ्च के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं। पर यह तो कहो, ऐसी साफ़ उर्दू कहाँ से सीख आये? हमारे लपटन साहब तो बिना 'डैम' के पाँच लफ़्ज़ भी नहीं बोला करते थे।'

लहना ने पतलून के जेबों की तलाशी नहीं की थी। साहब ने, मानों जाड़े से बचाने के लिए, दोनों हाथ जेबों में डाले।

लहनासिंह कहता गया—चालाक तो बड़े हो पर माँझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिए चार आँखें चाहिए। तीन महीने हुए एक तुरकी मौलवी मेरे गाँव में आया था। औरतों को बच्चे होने के ताबीज़ बाँटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा † बिछाकर हुक्का पीता रहता था और कहता था जर्मनीवाले बड़े पण्डित हैं। वेद पढ़कर उसमें

* हाय! मेरे राम (जर्मन)　† खटिया

से विमान चलाने की विद्या जान गये हैं। गौ को नहीं मारते। हिन्दुस्तान में आ जायँगे तो गौ हत्या बन्द कर देंगे। मण्डी के बनियों को बहकाता था कि डाकखाने से रुपया निकाल लो; सरकार का राज्य जानेवाला है। डाक-बाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्लाजी की दाढ़ी मूड़ दी थी। और गाँव से बाहर निकालकर कहा था कि जो मेरे गाँव में अब पैर रक्खा तो—

साहब की जेब में से पिस्तौल चला और लहना की जाँघ में गोली लगी। इधर लहना की हैनरी मार्टिनी के दो फायरों ने साहब की कपाल-क्रिया कर दी। धड़ाका सुनकर सब दौड़ आये।

बोधा चिल्लाया "क्या है ?"

लहनासिंह ने उसे यह कहकर सुला दिया कि 'एक हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया' और, औरों से सब हाल कह दिया। सब बन्दूकें लेकर तैयार हो गये। लहना ने साफा फाड़कर घाव के दोनों तरफ पट्टियाँ कसकर बाँधी। घाव मांस में ही था। पट्टियों के कसने से लहू निकलना बन्द हो गया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्लाकर खाई में घुस पड़े। सिक्खों की बन्दूकों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। पर यहाँ थे आठ (लहनासिंह तक-तककर मार रहा था—वह खड़ा था, और, और लेटे हुए थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़कर जर्मन आगे घुसे आते थे। थोड़े से मिनटों में वे—

अचानक आवाज़ आई "वाह गुरुजी की फतह! वाह गुरुजी का ख़ालसा!!" और धड़ाधड़ बन्दूकों के फ़ायर जर्मनों की पीठ पर पड़ने

लगे। ऐन मौक़े पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आ गये। पीछे से सूबेदार हज़ारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछे वालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया।

एक किलकारी और—"अकाल सिक्खाँ दी फौज आई! वाह गुरुजी दी फतह! वाह गुरुजी दा खालसा! सत श्री अकालपुरख !!!" और लड़ाई ख़तम हो गई। तिरेसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिक्खों में पन्द्रह के प्राण गये। सूबेदार के दाहने कन्धे में से गोली आर-पार निकल गई। लहनासिंह की पसली में एक गोली लगी। उसने घाव को खन्दक की गीली मट्टी से पूर लिया और बाकी का साफ़ा कसकर कमर बन्द की तरह लपेट लिया। किसी को खबर न हुई कि लहना को दूसरा घाव—भारी घाव—लगा है।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था, ऐसा चाँद, जिसके प्रकाश से संस्कृत-कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है। और हवा ऐसी चल रही थी जैसी कि बाणभट्ट की भाषा में 'दन्तवीणोपदेशाचार्य्य' कहलाती। वज़ीरासिंह कह रहा था कि कैसे मन-मन भर फ्रांस की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी जब मैं दौड़ा-दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार लहनासिंह से सारा हाल सुन और कागज़ात पाकर उसकी तुरत-बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता तो आज सब मारे जाते।

इस लड़ाई की आवाज़ तीन मील दाहनी ओर की खाईवालों ने सुन ली थी। उन्होंने पीछे टेलीफोन कर दिया था। वहाँ से झटपट दो

डाक्टर और दो बीमार ढोने की गाड़ियाँ चलीं, जो कोई डेढ़ घण्टे के अन्दर अन्दर आ पहुँचीं। फील्ड अस्पताल नज़दीक था। सुबह होते-होते वहाँ पहुँच जायेंगे, इसलिए मामूली पट्टी बाँधकर एक गाड़ी में घायल लिटाये गये और दूसरी में लाशें रक्खी गईं। सूबेदार ने लहनासिंह की जाँघ में पट्टी बँधवानी चाही। पर उसने यह कहकर टाल दिया कि थोड़ा घाव है सवेरे देखा जायगा। बोधसिंह ज्वर में बर्रा रहा था। वह गाड़ी में लिटाया गया। लहना को छोड़कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देख लहना ने कहा—"तुम्हें बोधा की कसम है, और सूबेदारनीजी की सौगन्ध है जो इस गाड़ी में न चले जाओ।"

"और तुम?"

"मेरे लिये वहाँ पहुँचकर गाड़ी भेज देना, और जर्मनी मुर्दों के लिये भी तो गाड़ियाँ आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं मैं खड़ा हूँ? वज़ीरसिंह मेरे पास है ही।"

"अच्छा, पर—"

"बोधा गाड़ी पर लेट गया? भला। आप भी चढ़ जाओ। सुनिए तो, सूबेदारनी होराँ को चिट्ठी लिखो, तो मेरा मत्था टेकना लिख देना। और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उसने कहा था वह मैंने कर दिया।"

गाड़ियाँ चल पड़ी थीं। सूबेदार ने चढ़ते-चढ़ते लहना का हाथ पकड़कर कहा—"तैंने मेरे और बोधा के प्राण बचाये हैं। लिखना कैसा? साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना। उसने क्या कहा था?"

"अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ। मैंने जो कहा, वह लिख देना, और कह भी देना।"

गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया। "वज़ीरा पानी पिला दे, और मेरा कमरबन्द खोल दे। तर होरहा है।"

५

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ़ होजाती है। जन्म-भर की घटनायें एक-एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ़ होते हैं; समय की धुन्ध बिल्कुल उन पर से हट जाती है।

* * * *

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहाँ आया हुआ है। दहीवाले के यहाँ, सब्ज़ीवाले के यहाँ, हर कहीं, उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब वह पूछता है, तेरी कुड़माई होगई? तब 'धत्' कहकर वह भाग जाती है। एक दिन उसने वैसे ही पूछा, तो उसने कहा—"हाँ, कल होगई, देखते नहीं यह रेशम के फूलोंवाला सालू?" सुनते ही लहनासिंह को दुःख हुआ। क्रोध हुआ। क्यों हुआ?

"वज़ीरासिंह, पानी पिला दे।"

* * * *

पचीस वर्ष बीत गये। अब लहनासिंह नं० ७७ रैफल्स में जमादार होगया है। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न-मालूम वह कभी मिली थी, या नहीं। सात दिन की छुट्टी लेकर ज़मीन के मुक़दमे की पैरवी करने वह अपने घर गया। वहाँ रेजिमेंट के अफ़सर की चिट्ठी मिली, कि फ़ौज लाम पर जाती है, फ़ौरन चले आओ। साथ ही

सूबेदार हज़ारासिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधासिंह भी लाम पर जाते हैं। लौटते हुए हमारे घर होते जाना। साथ ही चलेंगे। सूबेदार का गाँव रास्ते में पड़ता था, और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिंह सूबेदार के यहाँ पहुँचा।

जब चलने लगे, तब सूबेदार बेढ़े* में से निकलकर आया। बोला—'लहना, सूबेदारनी तुमको जानती हैं, बुलाती हैं। जा मिल आ।' लहनासिंह भीतर पहुँचा। सूबेदारनी मुझे जानती है? कब से? रेजिमेंट के क्वार्टरों में तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं। दरवाज़े पर जाकर 'मत्था टेकना' कहा। असीस सुनी। लहनासिंह चुप।

"मुझे पहचाना?"

"नहीं।"

"तेरी कुड़माई होगई?—धत्—कल होगई—देखते नहीं, रेशमी बूटोंवाला सालू—अमृतसर में—"

भावों की टकराहट से मूर्छा खुली। करवट बदली। पसली का घाव बह निकला।

"वज़ीरा, पानी पिला"—'उसने कहा था'।

*   *   *   *

स्वप्न चल रहा है। सूबेदारनी कह रही है—"मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ। मेरे तो भाग फूट गये। सरकार ने बहादुरी का ख़िताब दिया है, लायलपुर में ज़मीन दी है, आज नमक-हलाली का मौक़ा आया है। पर सरकार ने हम तीमियों† की एक

---

* ज़नाने।   † स्त्रियों

सँवरिया पल्टन क्यों न बना दी, जो मैं भी सूबेदारजी के साथ चली आती? एक बेटा है। फ़ौज में भर्ती हुए उसे एक ही बरस हुआ। उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया।" सूबेदारनी रोने लगी। "अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग! तुम्हें याद है, एक दिन टाँगेवाले का घोड़ा दहीवाले की दूकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे। आप घोड़े की लातों में चले गये थे, और मुझे उठाकर दूकान के तख़्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूँ।"

रोती रोती सूबेदारनी ओबरी* में चली गई। लहना भी आँसू पोंछता हुआ बाहर आया।

"वज़ीरसिंह, पानी पिला"—'उसने कहा था'।

* * * *

लहना का सिर अपनी गोद में रक्खे वज़ीरसिंह बैठा है। जब माँगता है, तब पानी पिला देता है। आध घण्टे तक लहना चुप रहा, फिर बोला—"कौन? कीरतसिंह?"

वज़ीरे ने कुछ समझकर कहा—"हाँ।"

"भइया, मुझे और ऊँचा करले। अपने पट्ट† पर मेरा सिर रख ले।"

वज़ीरा ने वैसा ही किया।

"हाँ, अब ठीक है। पानी पिला दे। बस, अब के हाड़‡ में यह आम खूब फलेगा। चाचा-भतीजा दोनों यहीं बैठकर आम खाना।

* अन्दर का घर † जाँघ ‡ आषाढ़

जितना बड़ा तेरा भतीजा है, उतना ही यह आम है। जिस महीने उस-का जन्म हुआ था, उसी महीने में मैंने इसे लगाया था।"

वज़ीरासिंह के आँसू टप-टप टपक रहे थे।

* * * *

कुछ दिन पीछे लोगों ने अख़बारों में पढ़ा—फ्रान्स और बेलजियम—६८ वीं सूची—मैदान में घावों से मरा—नं० ७७ सिक्ख राइफ़ल्स जमादार लहनासिंह।

श्री प्रेमचन्द

जन्मकाल रचनाकाल
१९३७ वि० १९१९ ई०

अग्नि-समाधि

१

साधु-सन्तों के सत्सङ्ग से बुरे भी अच्छे हो जाते हैं किन्तु पयाग का दुर्भाग्य था कि उस पर उलटा ही असर हुआ। उसे गाँजे, चरस और भङ्ग का चस्का पड़ गया, जिसका फल यह हुआ कि एक मेहनती, उद्यमशील युवक आलस्य का उपासक बन बैठा। जीवन-संग्राम में यह आनन्द कहाँ। किसी वट-वृक्ष के नीचे धूँई जल रही है, एक जटाधारी महात्मा विराज रहे हैं, भक्तजन उन्हें घेरे बैठे हुए हैं और तिल-तिल पर चरस के दम लग रहे हैं। बीच-बीच में भजन भी हो जाते हैं। मजूरी-धतूरी में यह स्वर्ग-सुख कहाँ। चिलम भरना पयाग का काम था। भक्तों को परलोक में पुण्य-फल की आशा थी, पयाग को तत्काल फल मिलता था—चिलमों पर पहला हक उसी का होता था। महात्माओं के श्री

मुख से भगवत्-चर्चा सुनते हुए वह आनन्द से विह्वल हो उठता था, उस पर आत्मविस्मृति-सी छा जाती थी, वह सौरभ, सङ्गीत और प्रकाश से भरे हुए एक दूसरे ही संसार में पहुँच जाता था। इसलिये जब उसकी स्त्री रुक्मिन रात के दस ग्यारह बज जाने पर उसे बुलाने आती तो पयाग को प्रत्यक्ष का क्रूर अनुभव होता, संसार इसे काँटों से भरा हुआ जंगल सा दीखता, विशेषतः जब घर आने पर उसे मालूम होता कि अभी चूल्हा नहीं जला और चने-चबेने की कुछ फ़िक्र करनी है। वह जाति का भर था, गाँव की चौकीदारी उसकी मीरास थी, दो रुपये और कुछ आने वेतन मिलता था, वरदी और साफ़ा मुफ़्त। काम था सप्ताह में एक दिन थाने जाना, वहाँ अफ़सरों के द्वार पर झाड़ू लगाना, अस्त-बल साफ़ करना, लकड़ी चीरना। पयाग रक्त के घूँट पी पीकर ये काम करता, क्योंकि अवज्ञा शारीरिक और आर्थिक दोनों ही दृष्टि से मँहगी पड़ती थी। आँसू यों पुछते थे कि चौकीदारी में यदि कोई काम था तो इतना ही और महीने में चार दिन के लिये दो रुपये और कुछ आने कम न थे। फिर गाँव में भी अगर बड़े आदमियों पर नहीं तो नीचों पर रोब था। वेतन पेंशन थी और जब से महात्माओं का सम्पर्क हुआ वह पयाग के जेबखर्च के मद में आ गयी। अतएव जीविका का प्रश्न दिन-दिन चिन्तोत्पादक रूप धारण करने लगा। इन सत्संगों के पहले यह दम्पति गाँव में मजूरी करता था। रुक्मिन लकड़ियाँ तोड़कर बाज़ार ले जाती, पयाग कभी आरा चलाता, कभी हल जोतता, कभी पुर हाँकता। जो काम सामने आ जाय उस में जुट जाता था। हँस-मुख, श्रमशील, विनोदी, निर्द्वन्द्व आदमी था और ऐसा आदमी कभी भूखों नहीं मरता।

उस पर मन इतना कि किसी काम के लिये नहीं न करता। किसी ने कुछ कहा और अच्छा भैया कहकर दौड़ा। इसलिये गाँव में उसका मान था। इसकी बदौलत निरुद्यम हो जाने पर भी दो-तीन साल तक उसे अधिक कष्ट न हुआ। दोनों जन की तो बात ही क्या। जब महतों को ऋद्धि न प्राप्त थी, जिसके द्वार पर बैलों की तीन-तीन जोड़ियाँ बन्धी थीं, तो पयाग किस गिनती में था। हाँ जून की दाल रोटी में सन्देह न था। परन्तु अब यह समस्या दिन-दिन विषमतर होती जाती थी। उस पर विपत्ति यह थी कि रुक्मिन भी अब किसी कारण से उतनी पति-परायणा, सेवाशील, उतनी तत्पर न थी। नहीं, उसकी प्रगल्भता और वाचालता में आश्चर्य-जनक विकास होता जाता था। अतएव पयाग को किसी ऐसी सिद्धि की आवश्यकता थी जो उसे जीविका की चिन्ता से मुक्त कर दे और वह निश्चिन्त होकर भगवत्-भजन और साधु-सेवा में प्रवृत्त हो जाय।

एक दिन रुक्मिन बाज़ार से लकड़ियाँ बेचकर लौटी तो पयाग ने कहा—ला कुछ पैसे मुझे दे दे, दम लगा आऊँ।

रुक्मिन ने मुँह फेरकर कहा—दम लगाने की ऐसी चाट है तो काम क्यों नहीं करते? क्या आजकल कोई बाबा नहीं है, जाकर चिलम भरो।

पयाग ने त्योरी चढ़ाकर कहा—भला चाहती है तो पैसे दे दे, नहीं इस तरह तंग करेगी तो एक दिन कहीं निकल जाऊँगा, तब रोवेगी।

रुक्मिन अँगूठा दिखाकर बोली—रोए मेरी बला। तुम रहते ही हो तो कौन सोने का कौर खिला देते हो। अब भी छाती फाड़ती हूँ, तब भी छाती फाड़ूँगी।

"तो अब यही फैसला है ?"

"हाँ, हाँ, कह तो दिया मेरे पास पैसे नहीं हैं।"

"गहने बनवाने के लिए पैसे हैं और चार पैसे माँगता हूँ तो यह जवाब देती है।"

रुक्मिन तिनककर बोली—"गहने बनवाती हूँ तो तुम्हारी छाती क्यों फटती है। तुमने तो पीतल का छल्ला भी नहीं बनवाया, क्या इतना भी नहीं देखा जाता।"

पयाग उस दिन घर नहीं आया। रात को भी न आया तब रुक्मिन ने किवाड़ बन्द कर लिये। समझी गाँव में कहीं छिपा बैठा होगा, समझता होगा मुझे मनाने आवेगी, मेरी बला जाती है।

जब दूसरे दिन भी पयाग न आया तो रुक्मिन को चिन्ता हुई। गाँव भर छान आई। चिड़िया किसी अड्डे पर न मिली। उस दिन उसने रसोई नहीं बनाई। रात को सोई भी तो आँख न लगी। शंका हो रही थी, पयाग सचमुच तो विरक्त नहीं होगया। उसने सोचा प्रातःकाल पत्ता-पत्ता छान डालूँगी, किसी साधु-सन्त के साथ होगा। जाकर थाने में रपट कर दूँगी।

अभी तड़का ही था कि रुक्मिन थाने चलने को तैयार होगई। किवाड़ बन्द करके निकली ही थी कि पयाग आता हुआ दिखाई दिया। पर वह अकेला न था उसके पीछे-पीछे एक स्त्री भी थी। उसकी छींट की साड़ी, रँगी हुई चादर, लम्बा घूँघट और शर्मीली चाल देखकर रुक्मिन का कलेजा धक से हो गया। वह एक क्षण हतबुद्धि-सी खड़ी रही, तब बढ़कर नई सौत को दोनों हाथों के बीच में ले लिया और

इस भाँति धीरे धीरे घर के अन्दर ले चली जैसे कोई रोगी जीवन से निराश होकर विष पान कर रहा हो।

जब पड़ोसियों की भीड़ छँट गई तो रुक्मिन ने पयाग से पूछा—इसे कहाँ से लाये?

पयाग ने हँसकर कहा—घर से भागी जाती थी, मुझे रास्ते में मिल गई। घर का काम-धन्धा करेगी, पड़ी रहेगी।

"मालूम होता है मुझ से तुम्हारा जी भर गया।"

पयाग ने तिरछी चितवनों से देखकर कहा—दुत् पगली इसे तेरी सेवा-टहल करने को लाया हूँ।"

"नई के आगे पुरानी को कौन पूछता है।"

"चल, मन जिससे मिले वही नई है, मन जिस से न मिले वही पुरानी है। ला कुछ पैसे हों तो दे दे, तीन दिन से दम नहीं लगाया, पैर सीधे नहीं पड़ते। हाँ, देख दो-चार दिन इस बिचारी को खिला-पिला दे, फिर तो आप ही काम करने लगेगी।"

रुक्मिन ने पूरा रुपया लाकर पयाग के हाथ पर रख दिया। दूसरी बार कहने की जरूरत ही नहीं पड़ी।

२

पयाग में और चाहे कोई गुण हो या न हो, यह मानना पड़ेगा कि वह शासन के मूल सिद्धान्तों से परिचित था। उसने भेद नीति को अपना आश्रय बना लिया था।

एक मास तक किसी प्रकार की विघ्न-बाधा न पड़ी। रुक्मिन अपनी सारी चौकड़ियाँ भूल गई थी। बड़े तड़के उठती, कभी लकड़ियाँ

खोदकर, कभी चारा काटकर, कभी उपले पाथकर बाजार ले जाती। वहाँ जो कुछ मिलता उसका आधा तो पयाग के हत्थे चढ़ता और आधे में घर का काम चलता। वह सौत को कोई काम न करने देती। पड़ोसिनों से कहती, बहन सौत है तो क्या, है तो अभी कल की बहुरिया। दो-चार महीने भी आराम से न रहेगी तो क्या याद करेगी। मैं तो काम करने को हूँ ही।

गाँव भर में रुक्मिन के शील-स्वभाव का बखान होता था, पर सत्संगी घाघ पयाग सब कुछ समझता था और अपनी नीति की सफलता पर प्रसन्न होता था।

एक दिन बहू ने कहा—दीदी, अब तो घर में बैठे-बैठे जी ऊबता है। मुझे भी कोई काम दिला दो।

रुक्मिन ने स्नेह-सिंचित स्वर में कहा—क्या मेरे मुख में कालिख पुतवाने पर लगी है। भीतर का काम किये जा, बाहर के लिये तो मैं हूँ ही।

बहू का नाम कौशिल्या था जो बिगड़कर सिलिया हो गया था। इस वक्त तो सिलिया ने कुछ जवाब न दिया। लेकिन यह लौंडियों की दशा अब उसके लिये असह्य हो गई थी। वह दिन-भर घर का काम करते-करते मरे, कोई नहीं पूछता। रुक्मिन बाहर से चार पैसे लाती है तो घर की मालकिन बनी हुई है। अब सिलिया भी मजूरी करेगी और मालकिन का घमण्ड तोड़ देगी। पयाग पैसों का यार है, यह बात उससे अब छिपी न थी। जब रुक्मिन चारा लेकर बाजार चली गई तो उसने घर की टट्टी लगाई और गाँव का रंग-ढंग देखने के लिये निकल पड़ी।

गाँव में ब्राह्मण, ठाकुर, कायस्थ बनिए सभी थे। सिलिया ने शील और संकोच का कुछ ऐसा स्वांग रचा कि सभी स्त्रियाँ उस पर मुग्ध हो गईं। किसी ने चावल दिया, किसी ने दाल, किसी ने कुछ। नई बहू की आव-भगत कौन नहीं करता? पहले ही दौर में सिलिया को मालूम हो गया कि गाँव में पिसनहारी का स्थान खाली है और वह उस कमी को पूरा कर सकती है। वह वहाँ से घर लौटी तो उसके सिर पर गेहूँ से भरी हुई एक टोकरी थी।

पयाग ने पहर रात-ही से चक्की की आवाज़ सुनी तो रुक्मिन से पूछा—'आज तो सिलिया अभी से पीसने लगी।'

रुक्मिन बाजार से आटा लाया करती थी। अनाज और आटे के भाव में विशेष अन्तर न था। उसे आश्चर्य हुआ कि सिलिया इतने सवेरे क्या पीस रही है। उठकर चक्कीशाली कोठरी में गई तो देखा सिलिया अन्धेरे में बैठी कुछ पीस रही है। उसने जाकर उसका हाथ पकड़ लिया और टोकरी को उठाकर बोली—"तुमसे किसने पीसने को कहा है? किसका अनाज पीस रही है?"

सिलिया ने निश्शंक होकर कहा—तुम जाकर आराम से सोती क्यों नहीं। मैं पीसती हूँ तो तुम्हारा क्या बिगड़ता है! चक्की की घुमुर-घुमुर भी नहीं सही जाती? लाओ टोकरी दे-दो। बैठे बैठे कब-तक खाऊँगी, दो महीने तो हो गए।

"मैंने तो तुम से कुछ नहीं कहा।"

"तुम कहो चाहे न कहो, अपना धरम भी तो कुछ है।"

"तू अभी तक यहाँ के आदमियों को नहीं जानती। आटा पिसाते

तो सबको अच्छा लगता है। पैसे देते रोते हैं। किसका गेहूँ है? मैं सवेरे उनके सिर पटक आऊँगी।"

सिलिया ने रुक्मिन के हाथ से टोकरी छीन ली और बोली—पैसे क्यों न देंगे। कुछ बेगार करती हूँ।

"तू न मानेगी?"

"तुम्हारी लौंडी बनकर न रहूँगी।"

यह तकरार सुनकर पयाग भी आ पहुँचा और रुक्मिन से बोला—काम करती है तो करने क्यों नहीं देती। अब क्या जनम भर बहुरिया ही बनी रहेगी। हो तो गए दो महीने।

"तुम क्या जानों नाक तो मेरी न कटेगी।"

सिलिया बोल उठी—तो क्या कोई बैठे खिलाता है। चौका-बरतन, झाड़ू-बुहारू, रोटी-पानी, पीसना-कूटना, यह कौन करता है। पानी खींचते खींचते मेरे हाथों में घट्टे पड़ गये। मुझसे अब यह सारा काम न होगा।

पयाग ने कहा—तो तू ही बाजार जाया कर। घर का काम रहने दे। रुक्मिन कर लेगी। रुक्मिन ने आपत्ति की—ऐसी बात मुँह से निकालते लाज नहीं आती। तीन दिन की बहुरिया बाजार में घूमेगी तो संसार क्या कहेगा?

सिलिया ने आग्रह करके कहा—संसार क्या कहेगा, क्या कोई ऐब करने जाती हूँ।

सिलिया की डिग्री हो गई। आधिपत्य रुक्मिन के हाथ से निकल गया। सिलिया की अमलदारी हो गई। जवान औरत थी। गेहूँ पीस-

कर उठी तो औरों के साथ घास छीलने चली गई और इतनी घास छीली कि सब दंग रह गए! गट्ठा उठाए न उठता था। जिन पुरुषों को घास छीलने का बड़ा अभ्यास था उनसे भी उसने बाजी मार ली! वह गट्ठा बारह आने को बिका। सिलिया ने आटा, चावल, दाल, तेल, नमक, तरकारी, मसाला सब कुछ लिया, और चार आने बचा लिये। रुक्मिन ने समझ रक्खा था कि सिलिया बाजार से दो-चार आने पैसे लेकर लौटेगी तो उसे डाँटूँगी और दूसरे दिन से फिर बाजार जाने लगूँगी। फिर मेरा राज्य हो जायगा। पर यह सामान देखे तो आँखें खुल गई। पयाग खाने लगा तो मसालेदार तरकारी का बखान करने लगा। महीनों से ऐसी स्वादिष्ट वस्तु मयस्सर न हुई थी। बहुत प्रसन्न हुआ। भोजन करके वह बाहर जाने लगा तो सिलिया बरोठे में खड़ी मिल गई।

बोला—आज कितने पैसे मिले?

"बारह आने मिले थे।"

"सब खर्च कर डाले? कुछ बचे हों तो मुझे दे-दो।"

सिलिया ने बचे हुए चार आने पैसे दे-दिये। पयाग पैसे खन-खनाता हुआ बोला—तूने तो आज माला-माल कर दिया। रुक्मिन तो दो-चार पैसों ही में टाल देती थी।

"मुझे गाड़कर रखना थोड़े ही है। पैसा खाने-पीने के लिए है कि गाड़ने के लिए।"

३

रुक्मिन और सिलिया में संग्राम छिड़ गया। सिलिया पयाग पर

अपना आधिपत्य जमाये रखने के लिये जान तोड़कर परिश्रम करती। पहर रात ही से उसकी चक्की की आवाज़ कानों में आने लगती, दिन निकलते ही घास छाने चली जाती और ज़रा देर सुस्ताकर फिर बाज़ार की राह लेती। वहाँ से लौटकर भी वह बेकार न बैठती, कभी सन कातती, कभी लकड़ियाँ तोड़ती। रुक्मिन उसके प्रबन्धों में बराबर ऐब निकालती और जब अवसर मिलता तो गोबर बटोरकर उपले पाथती और गाँव में बेचती। पयाग के दोनों हाथ में लड्डू थे। दोनों स्त्रियाँ उससे अधिक-से-अधिक पैसे देने और उसके स्नेह का अधिकांश अपने अधिकार में लगाने का प्रयत्न करती रहतीं, पर सिलिया ने कुछ ऐसी दृढ़ता से आसन जमा लिया था कि किसी तरह हिलाये न हिलती थी। यहाँ तक कि एक दिन दोनों प्रतियोगियों में खुल्लम-खुल्ला ठन गई। एक दिन सिलिया घास लेकर लौटी तो पसीने में तर थी। फागुन का महीना था, धूप तेज़ थी, उसने सोचा नहा कर तब बाज़ार जाऊँ। घास द्वार पर ही रखकर वह तालाब नहाने चली गई। रुक्मिन ने थोड़ी सी घास निकालकर पड़ोसिन के घर छिपा दी और गट्ठे को ढीलाकर के बराबर कर दिया। सिलिया नहाकर लौटी तो घास कम मालूम हुई। रुक्मिन से पूछा। उसने कहा—मैं नहीं जानती। सिलिया ने गालियाँ देनी शुरू कीं—जिसने मेरी घास छुई हो उसकी देह में कीड़े पड़ें, उसके बाप और भाई मर जायँ। रुक्मिन कुछ देर तक तो ज़ब्त किये बैठी रही, आख़िर ख़ून में उबाल आ ही गया। झल्लाकर उठी और सिलिया के दो-तीन तमाचे लगा दिये। सिलिया छाती पीट-पीटकर रोने लगी। सारा मुहल्ला जमा होगया। सिलिया की सुबुद्धि और

कार्यशीलता सभी की आँखों में खटकती थी—वह सब से अधिक घास क्यों छीलती है, सब से अधिक लकड़ियाँ क्यों लाती है, इतने सवेरे क्यों उठती है, इतने पैसे क्यों लाती है, इन कारणों ने उसे पड़ोसियों की सहानुभूति से वंचित कर दिया था। सब उसी को बुरा भला कहने लगीं। मुट्ठी-भर घास के लिये इतना ऊधम मचा डाला, इतनी घास तो आदमी झाड़कर फेंक देता है, घास न हुई सोना हुआ। तुझे तो सोचना चाहिये था कि अगर किसी ने ले ही लिया तो है तो गाँव घर ही का। बाहर का कोई चोर तो आया नहीं। तूने इतनी गालियाँ दीं सो किस को दीं? पड़ोसियों ही को तो।

संयोग से उस दिन पयाग थाने गया हुआ था। शाम को थका-माँदा लौटा तो सिलिया से बोला—ला कुछ पैसे दे-दे तो दम लगा आऊँ। थककर चूर हो गया हूँ।

सिलिया उसे देखते ही हाय हाय करके रोने लगी। पयाग ने घबराकर पूछा—क्या क्या? तुझा क्यों रोती है? कहीं गमी तो नहीं हो गई? नैहर से कोई आदमी तो नहीं आया?

"अब इस घर में मेरा रहना न होगा। अपने घर जाऊँगी।"

"अरे कछ मुँह से तो बोल, क्या हुआ? गाँव में किसी ने गाली दी है, किस ने गाली दी है? घर फूँक दूँ, उसका खालान करवा दूँ।"

सिलिया ने रो-रो कर सारी कथा कह सुनाई। पयाग पर आज थाने में खूब मार पड़ी थी। झल्लाया हुआ था। यह कथा सुनी तो देह में आग लग गई। रुक्मिन पानी भरने गई थी। वह अभी घड़ा भीतर रखने पाई थी कि पयाग उसपर टूट पड़ा और मारते मारते बेदम

कर दिया। वह मार का जवाब गालियों से देती थी। और पयाग हर-एक गाली पर और भी झल्ला-झल्लाकर मारता था यहाँ तक कि रुक्मिन के घुटने फूट गये, चूड़ियाँ फूट गईं। सिलिया बीच-बीच में कहती जाती थी—वाहरे तेरा दीदा, वाहरे तेरी ज़ुबान। ऐसी तो औरत ही नहीं देखी। औरत काहे को डाइन है, ज़रा भी मुँह में लगाम नहीं। किन्तु रुक्मिन उसकी बातों को मानों सुनती ही न थी। उसकी सारी शक्ति पयाग को कोसने में लगी हुई थी। पयाग मारते मारते थक गया पर रुक्मिन की ज़बान न थकी। बस यही रट लगी हुई थी—तू मर जा, तेरी मिट्टी निकले, तुझे भवानी खाय, तुझे मिरगी आवे। पयाग रह-रहकर क्रोध से तिलमिला उठता और आकर दो-चार लातें जमा देता। पर रुक्मिन को अब शायद चोट ही न लगती थी। वह जगह से हिलती भी न थी। सिर के बाल खोले, ज़मीन पर बैठी इन्हीं मन्त्रों का पाठ कर रही थी। उसके स्वर में अब क्रोध न था, केवल एक उन्मादमय प्रवाह था। उसकी समस्त आत्मा हिंसा-कामना की अग्नि में प्रज्वलित हो रही थी।

अन्धेरा हुआ तो रुक्मिन एक ओर निकल गई, जैसे आँखों से आँसू की धार निकल जाती है। सिलिया भोजन बना रही थी। उसने उसे जाते देखा भी, पर कुछ पूछी नहीं। द्वार पर पयाग बैठा चिलम पी रहा था। उसने भी कुछ न कहा—

४

जब फ़सल पकने लगी थी तो डेढ़ दो महीने तक पयाग को हार की देख भाल करनी पड़ती थी। उसे किसानों से दोनों फ़सलों को हक

पीछे कुछ अनाज बँधा हुआ था। माघ ही में वह हार के बीच में थोड़ी सी ज़मीन साफ़ करके एक मँड़ैया डाल लेता था और रात को खा-पीकर आग, चिलम, तम्बाकू चरस लिये हुए इसी मँड़ैया में पड़ रहता था। चैत के अन्त तक उसका यही नियम रहता था। आजकल वही दिन थे। फ़सल पकी हुई तैयार खड़ी थी। दो-चार दिन में कटाई शुरू होने वाली थी। पयाग ने दस बजे रात तक रुक्मिन की राह देखी। फिर यह समझकर कि शायद किसी पड़ोसिन के घर सो रही होगी, उसने खा-पीकर अपनी लाठी उठाई और सिलिया से बोला—किवाड़ बन्द कर ले, अगर रुक्मिन आवे तो खोल देना और मना जुना कर थोड़ा-बहुत खिला देना। तेरे पीछे आज इतना तूफ़ान हो गया। मुझे न जाने इतना गुस्सा कैसे आ गया। मैंने उसे कभी फूल की छड़ी से भी न छुआ था। कहीं डूब-धँस न मरी हो, तो कल आफ़त आ जाय।

सिलिया बोली—"न-जाने वह आवेगी कि नहीं। मैं अकेली कैसे रहूँगी। मुझे डर लगता है।"

"तो घर में कौन रहेगा। सूना घर पाकर कोई लोटा-थाली उठा ले जाय तो? डर किस बात का है? फिर रुक्मिन तो आती ही होगी।"

सिलिया ने अन्दर से टट्टी बन्द कर ली। पयाग हार की ओर चला। चरस की तरंग में यह भजन गाता जाता था—

ठगिनी क्या नैना झमकावे।
कद्दू काट मृदङ्ग बनाए, नीबू काट मजीरा।
पाँच तरोई मङ्गल गावें, नाचे बालम खीरा॥

रूपा पहिरके रूप दिखावे, सोना पहिर रिझावे।
गले डाल तुलसी की माला, तीन लोक भरमावे॥
ठगिनी० ॥

सहसा सिवाने पर पहुँचते ही उसने देखा, कि सामने हार में किसी ने आग जलाई। एक क्षण में एक ज्वाला-सी दहक उठी। उसने चिल्ला-कर पुकारा— "कौन है वहाँ? अरे यह कौन आग जलाता है?"

ऊपर उठती हुई ज्वालाओं ने अपनी आग्नेय जिह्वा से उत्तर दिया।

अब पयाग को मालूम हुआ कि उसकी मँड़ैया में आग लगी हुई है। उसकी छाती धड़कने लगी। इस मँड़ैया में आग लगाना रुई के ढेर में आग लगाना था। हवा चल रही थी। मँड़ैया की चारों ओर एक हाथ हटकर पकी हुई फ़सल की चादरें-सी बिछी हुई थीं। रास्ते में भी उनका सुनहला रङ्ग झलक रहा था। आग की एक लपट, केवल ज़रा-सी एक चिनगारी सारे हार को भस्म कर देगी। सारा गाँव तबाह हो जायगा। इसी हार से मिले हुए दूसरे गाँव के हार भी थे। वे भी जल उठेंगे। ओह! लपटें बढ़ती आ रही हैं! अब विलम्ब करने का समय न था। पयाग ने अपना उपला और चिलम वहीं पटक दिया, और कन्धे पर लोहबन्द लाठी रखकर बेतहाशा मँड़ैया की तरफ़ दौड़ा। मेड़ों से जाने में चक्कर था, इसलिये वह खेतों में से होकर भागा चला जा रहा था। प्रति क्षण ज्वाला प्रचण्डतर होती जाती थी, और पयाग के पाँव और भी तेज़ी से उठ रहे थे। कोई तेज़ घोड़ा भी इस वक़्त उसे पा न सकता। अपनी तेज़ी पर उसे स्वयं आश्चर्य हो रहा था। जान पड़ता था, पाँव भूमि पर पड़ते ही नहीं। उसकी आँखें मँड़ैया पर लगी थीं—दाहिने-बायें उसे

और कुछ न सूझता था। इसी एकाग्रता ने उसके पैरों में पर लगा दिये थे। न दम फूलता था, न पाँव थकते थे। तीन-चार फ़रलांग उसने दो मिनट में तय कर लिये, और मँड़ैया के पास जा पहुँचा।

मँड़ैया के आस-पास कोई न था। किसने यह कर्म किया है, यह सोचने का मौक़ा न था। उसे सोचने की तो बात ही और थी। पयाग का सन्देह रुक्मिन पर हुआ। पर यह क्रोध का समय न था। ज्वालाएँ कुचाली बालकों की भाँति ठट्ठा मारतीं, धक्कम-धक्का करती, कभी दाहनी ओर लपकतीं और कभी बाईं तरफ़। बस, ऐसा मालूम होता था कि लपट अब खेत तक पहुँची, अब पहुँची, मानो ज्वालाएँ आग्रहपूर्वक क्यारियों की ओर बढ़तीं, और असफल होकर दूसरी बार फिर दूने वेग से लपकती थीं। आग कैसे बुझे! लाठी से पीटकर बुझाने का गौ था। यह तो निरी मूर्खता थी। पर क्या हो! फ़सल जल गई तो? फिर वह किसी को मुँह न दिखा सकेगा। आह! गाँव में कोहराम मच जायगा, सर्वनाश हो जायगा! उसने ज़्यादा नहीं सोचा। गँवारों को सोचना नहीं आता। पयाग ने लाठी सँभाली, ज़ोर से एक छलाँग मारकर आग के अन्दर मँड़ैया के द्वार पर जा पहुँचा, जलती हुई मँड़ैया को अपनी लाठी पर उठाया और उसे सिर लिये हुए सब से चौड़ी मेड़ पर गाँव की तरफ़ भागा। ऐसा जान पड़ा, मानो कोई अग्नियान हवा में उड़ता चला आ रहा है। फूस की जलती हुई धज्जियाँ उसके ऊपर गिर रही थीं, पर उसे इसका ज्ञान तक न होता था। एक बार एक मूठा जलता होकर उसके हाथ पर गिर पड़ा। सारा हाथ भुन गया। पर उसके पाँव पल-भर भी न रुके, हाथों में ज़रा भी झिझक न हुई। हाथों का हिलना,

खेतों का तमाशा होता था। पयाग की ओर से अब कोई शंका न थी। अगर भय था, तो यही कि मँडैया का वह केन्द्र-भाग, जहाँ लाठी का कुन्दा डालकर पयाग ने उसे उठाया था, न जल जाय, क्योंकि छेद के जलते ही मँडैया उसके ऊपर आ गिरेगी, और उसे अग्नि-समाधि में मग्न कर देगी। पयाग यह जानता था, और हवा की चाल से उड़ा जाता था। चार फ़रलांग की दौड़ है। मृत्यु अग्नि का रूप धारण किये हुए पयाग के सिर पर खेल रही है, और गाँव की फ़स्ल पर। उसकी दौड़ में इतना वेग है, कि ज्वालाओं का मुँह पीछे को फिर गया है, और उनकी दाहक शक्ति का अधिकांश वायु से लड़ने में लग रहा है, नहीं तो अब तक बीच में आग पहुँच गई होती, और हाहाकार मच गया होता। एक फ़रलांग तो निकल गया, पयाग की हिम्मत ने हार नहीं मानी। वह दूसरा फ़रलांग भी पूरा होगया। देखना पयाग दो फ़रलांग की और कसर है। पाँव ज़रा भी सुस्त न हों। ज्वाला लाठी के कुन्दे पर पहुँची, और तुम्हारे जीवन का अन्त है। मरने के बाद भी तुम्हें गालियाँ मिलेंगी। तुम अनन्तकाल तक आहों की आग में जलते रहोगे। बस, एक मिनट और! अब केवल दो खेत और रह गये हैं। सर्वनाश! लाठी का कुन्दा ऊपर निकल गया। मँडैया नीचे खिसक रही है—अब कोई आशा नहीं। पयाग प्राण छोड़-कर दौड़ रहा है, वह किनारे का खेत आ पहुँचा। अब केवल दो सेकेण्ड का और मामला है। विजय का द्वार सामने बीस हाथ पर खड़ा स्वागत कर रहा है। उधर स्वर्ग है, इधर नरक……मगर वह मँडैया खिसकती हुई उसके सिर पर आ पहुँची। वह अब भी उसे फेंककर जान बचा सकता है। पर उसे प्राणों का मोह नहीं। वह उस जलती हुई मँडैया को

सिर पर लिये भागा जा रहा है। वह उसके पाँव लड़खड़ाए! हाय! अब यह क्रूर अग्नि लीला नहीं देखी जाती।

एकाएक एक स्त्री सामने के वृक्ष के नीचे से दौड़ती हुई पयाग के पास पहुँची। वह रुक्मिन थी। उसने तुरन्त पयाग के सामने आकर गरदन झुकाई, और जलती हुई मँड़ैया के नीचे पहुँचकर उसे दोनों हाथों पर ले लिया। उसी दम पयाग मूर्च्छित होकर गिर गया। उसका सारा मुँह झुलस गया था।

रुक्मिन उस अलाव को लिये हुए एक सेकेण्ड में खेत के डाँड़े पर आ पहुँची, मगर इतनी दूर में उसके हाथ जल गये, मुँह जल गया, और कपड़ों में आग लग गई। उसे अब इतनी सुधि न थी, कि मँड़ैया के बाहर निकल आवे। वह मँड़ैया लिये हुए गिर पड़ी। इसके बाद कुछ देर तक मँड़ैया हिलती रही, रुक्मिन हाथ-पाँव फेंकती रही। फिर अग्नि ने उसे निगल लिया! रुक्मिन ने अग्नि-समाधि ले ली।

कुछ देर बाद पयाग को होश आया। सारी देह जल रही थी। उसने देखा, वृक्ष के नीचे फूस की लाल आग चमक रही थी। उठकर दौड़ा, और पैर से आग को हटा दिया—नीचे रुक्मिन की अधजली लाश पड़ी हुई थी। उसने बैठकर दोनों हाथों से अपना मुँह ढाँप लिया, और रोने लगा।

प्रातःकाल गाँव के लोग उसको उठाकर उसके घर ले गये। एक सप्ताह तक उसका इलाज होता रहा, पर बचा नहीं। कुछ तो आग ने जलाया था, जो कसर थी, वह शोकाग्नि ने पूरी कर दी।

* * *

श्रीरायकृष्ण दास
जन्मकाल रचनाकाल
१९४९ सं० १९३७ ई०

गहूला

१

उत्तरी भारत के हूण अधिपति तोरमाण के राज्य में मन्दसोर एक प्रधान प्रान्त था। हेमनाभ वहाँ का क्षत्रप था। वह साल में दो बार अधिपति की सेवा में कर देने उपस्थित होता। हूण साम्राज्य की राजधानी उस समय मथुरा थी।

हेमनाभ वहाँ एक महीना बिताकर घर लौटता। मन्दसोर में मथुरा जैसी चहल-पहल थोड़ी ही थी। फिर वहाँ के बाजार में देश-देशान्तर की चीज़ें आतीं—चीन के कौशेय, सिंहल के छपे कपड़े और मोती, फ़ारस के घोड़े, यवन-दासियाँ—जो चाहें एक ही स्थान पर ले लो। मथुरा उन दिनों की कलकत्ता, बम्बई समझिये। क्षत्रप अपने लिए, मित्रों के लिए और व्यवसाय के लिए हजारों माल लेते। उस समय के हजार, यों आजकल के लाख के बराबर है।

राजधानी के सभी उच्चपदस्थ अधिकारियों से उसका खूब मेल-जोल था। कुछ पद के कारण नहीं, अपने स्वभाव के कारण भी। वह बड़ा ही मिलनसार था। अक्सर अपने इन मित्रों के संग वह अपानकों, गोष्ठियों और यात्राओं के सुख लूटता। किन्तु कदम्ब और तमाल के झुरमुटों में जब शराब का बाज़ार गर्म हो उठता, तब न-जाने क्यों उसका हृदय उदास हो उठता। नशे से उत्तेजित मस्तिष्क उसके सामने उन कुंजों में कृष्ण-लीला के दृश्य उपस्थित करता और साथ ही उसकी नशीली मनोवृत्ति उसे थपेड़े लगाने लगती, कि आज उन्हीं कुंजों में ये हूण आनन्द कर रहे हैं, और तुम,—चन्द्रवंश की सन्तान,—भी उन्हीं के पीछे लगे-लगे मुर्दे की तरह यह दृश्य देख रहे हो।

फिर मन्दिरों की चहल-पहल; हीनयान, महायान-आदि अनेक सम्प्रदाय के बौद्ध और हिन्दू दोनों ही धर्मों के मन्दिरों में उसे भिन्न भिन्न दृश्य दिखलाई पड़ते। जैन-मन्दिरों का वायु-मण्डल इन दोनों से भिन्न था। देवकुलों की चहल पहल कुछ निराली ही थी। अजातशत्रु से लेकर उस समय तक के सम्राटों की प्रतिमाओं को देख-देखकर उसके हृदय में विलक्षण-विलक्षण भाव जाग्रत होते।

मठों और विहारों में जाना भी वह न भूलता। और फिर एकान्त में बैठकर वह सद्धर्म से लेकर आज के महायान और उसके अवान्तर यानों तक क्रम-विकास पर विचार करता। भगवान् तथा धर्म का यह नया उग्र रूप उसे न जँचता। स्थविरों की करतूतों से उसे बौद्धधर्म के ह्रास का निश्चय था। फिर वह यह भी देखता कि किस प्रकार एक ओर इन बौद्ध सिद्धान्तों को हिन्दू लोग अपना रहे हैं, दूसरी ओर सद्धर्म की

सभी अच्छी बातें छूट-छूटकर भागवत धर्म में विलीन हो रही हैं।

प्रबन्ध के झंझटों से साल में दो बार अलग होकर, इन सब बातों के निरीक्षण और समझने में उसे बड़ा आनन्द मिलता है। उसकी कुण्ठित वृत्तियाँ पुनः जीवित हो उठतीं और अपनी नगरी में लौटकर वह नये उत्साह से कार्य-भार वहन करता।

इन सब से बढ़कर उस राजधानी में एक और आकर्षण था—राज-कुमारी गहुला विशेष आग्रह से हेमनाभ को राजधानी में रुकने कहती।

एकोनविंशति-वर्षीया राजकन्या अक्सर उसे अपने उपवन में बुलाती और माधवी-निकुञ्ज में उसे अपने सामने बिठाकर मन्दसोर के बारे में अनेक बातें पूछती—

"सुनती हूँ, वहाँ सौन्दर्य की खान है। अतएव, तुम एक बार तो मुझे वहाँ की सुन्दरियों से मिलाओ, मैं उनसे मैत्री करूँगी;—राजकन्या-जैसा बर्ताव न करूँगी। बोलो, मुझे कब वहाँ की यात्रा कराओगे?"

"देवि, जब आपकी आज्ञा हो।" प्रति बार हेमनाभ का यही उत्तर होता। और, राजकुमारी कभी कोई समय नियत न करती। साथ ही उससे उक्त बात कहना भी न भूलती। अक्सर इसके साथ उलाहना भी सम्मिलित होता—

"उस बार तो भूल ही गये! देखना है, इस बार ले चलते हो कि नहीं। क्या तुम्हें वहाँ की सुन्दरता पर इतना ममत्व है, कि संसार को उससे वंचित रखना चाहते हो? मुझे तो इसी का अचरज है कि जब उस पर तुम्हें इतना मोह है, तब भी तुम कोरे क्यों बने हो?"

"मालति, मोह ले क्या, प्रेम जो चाहिये।" इस उत्तर के संग उसके मुँह से एक ठण्डी साँस भी निकल पड़ती।

घड़ियाँ बीत होतीं। मोतिया और पराग के पेड़ मर्मर किया करते और राजकुमारी अपने एकटक धवल नयनों से हेमनाभ को सींचती हुई उसकी बातें सुना करती। अपने हाथों स्फटिक-पात्र से द्राक्षासव डालकर रत्न-चषक से उसे पिलाती और उसकी आँखों में राग दौड़ते देखती।

कभी उसे अपने मयूरों का नृत्य भी दिखलाती और पूछती कि कहीं ऐसे सुन्दर मयूर तुमने देखे हैं?

"श्रीमती, चाहे आप मेरा विश्वास करें या नहीं, ब्रज-जैसी सुन्दरता मैंने कहीं नहीं देखी; एक मयूरों पर ही क्या?"

"किन्तु एक नाम तुम भूलते हो। एक मुझे छोड़कर!!" राजकुमारी की बड़ी-बड़ी आँखें हेमनाभ का मन टटोलने लगतीं और बिना उसके मुँह से कुछ कहलाए हुए भी अभिलषित, साथ ही सच्चा, उत्तर पाकर धन्य बन जातीं। इस बीच हेमनाभ सिर नीचा ही किये रहता। जब राजकुमारी के नेत्र हट जाते, तब एक ही निमेष में, आँख भर के, उसका मुँह देखकर वह राजकुमारी से आज्ञा लेता।

क्या-जाने क्यों, पीठ फेरते ही उसके मुँह से एक दीर्घ निश्वास निकल जाती। इसी के संग उसे किसी और के निश्वास की आहट मिलती।

जब विदा का समय आता, गहूला उसे अपना बीड़ा-कासा देती और कहेगी—"देखो, अपने कार्य में प्रमत्त न होना।" हेमनाभ उस कमल सदा आदेश को सिर चढ़ाकर विदा होता। किन्तु, एकान्त पाते

ही उस कमल को छाती से लगाता। सम्भवतः इसके साथ ही वह आदेश भी उसके हृदय पर अंकित हो जाता रहा हो।

उस शीशा-कमल को वह फेंक न देता। एक सुगन्धित रेशमी टुकड़े में लपेटकर उसे सौवर्ण सूत्र से बाँधकर एक सुन्दर मञ्जूषा में रखता जाता। प्रत्येक पर स्वर्ण की एक मुद्रा भी बनवाकर अंकित कर देता। इन मुद्राओं पर पाने की तिथि और सम्वत् अंकित होते। अकसर उन्हें देखकर वह अतीत के स्वप्न देखता।

२

एक साल मन्दसोर में वर्षा न हुई। भयानक काल उपस्थित हुआ। उस समय रेल न थी कि अन्न कहीं बाहर जाता। पर वहाँ तो अन्न जाने का कोई प्रश्न ही न था। एक दाना भी तो न उपजा था। चारों ओर हाहाकार मच गया। लोग देश छोड़-छोड़कर भागने लगे। हेमनाभ ने पीड़ितों की सहायता के लिये कई सागर आदि बनवाने आरम्भ किये, पर यह सब ताड़ में तिल बराबर था।

राजस्व वसूल होने की कोई सम्भावना न थी। हेमनाभ के लाख सिर मारने पर भी कोई फल न हुआ। जब कर लेकर मथुरा में उपस्थित होने का समय बीत गया, तब उसने सब हाल सम्राट् तोमारण के पास लिख भेजा, और अपने प्रान्त को उस वर्ष के लिए कर-मुक्त करने की सम्मति दी। किन्तु हूण-शासन विचार-मूलक न था। उसका मूल-मन्त्र था, तलवार का ज़ोर, भयङ्कर रक्तपात, प्रलयङ्कर उत्पात, निर्दयता की पराकाष्ठा।

आदेश हुआ, तलवार से कर वसूल करो। जो गाँव भूखे मर रहे हैं

उन्हें जला दो। प्रेमों के मरने में ही उन्हें और साम्राज्य दोनों को सुख है। सहायता का काम बन्द कर दो, रिक्त राज्य-कोष को और रिक्त न करो। नगर में मुनादी करा दो कि तीन दिन में लोग प्रान्त-भर के लिए कर चुका दें, नहीं तो तलवार के ज़ोर से कर वसूल करो। महीपति की आज्ञा शिरोधार्य न करनेवालों के रक्त से उत्तप्त मही को सींचो।

हेमनाभ काँप उठा। इससे जघन्य और क्या आज्ञा हो सकती थी? वह अपने पद और अपने-को कोसने लगा। किन्तु राजाज्ञा माननीय थी। क्या इसी दिन के लिए गहूला उसे प्रति बार अपने कार्यों से प्रमत्त न होने के लिए चिताया करती? गहूला! राजकुमारी! क्या वास्तव में तुम हूण-रमणी हो?

चाहे आज हम लोगों को इस बात का आश्चर्य हो कि एक आदमी का, जिसके किसी पूर्वज ने अपने बाहुबल से राज्य-स्थापना की हो, लोग क्योंकर मन्त्र-मुग्ध सर्प की भाँति—बीसवीं सदी के यन्त्रों की भाँति—बिना कुछ कहे-सुने, आदेश, चाहे वह कैसा-ही क्यों न हो, पालन कर सकते थे! लेकिन जिस ज़माने में बुद्धि की परतन्त्रता थी, और आज भी जहाँ बुद्धि की परतन्त्रता है, वहाँ के लोगों को अपनी इस हीनता का ज्ञान नहीं रहता। बुद्धि, तुझे परतन्त्र बनाने में जन्म ही से धर्म-शिक्षा का कितना हाथ है, इसका उत्तर तू ही दे।

हेमनाभ के लिए कोई मार्ग न था। उसने स्वयं राजमहल में जाकर सब बातें तै क्यों न कीं? सम्भव था कि वह मन्दसोर को इस कठोर आज्ञा से बचा लेता। वह अपने-को धिक्कारने लगा। अब परिवर्तन असम्भव था। भला हूण-राज्य के मुँह से जो बात निकल गई, वह अपूर्व

सहकर मरने से एक बार ही तलवार से कट जाना अच्छा समझा। कितनों ने प्रतिष्ठा के विचार से विष खा लिया। कितने डर के मारे, मरने से दुःसह कष्ट भोगने लगे। कामुक अपने इन्द्रिय सुख और कृपण अपने धन से विलग होने के शोच से विकल हुए जाते हैं। माता अपने पुत्रों के लिये और पत्नियाँ पतियों की चिन्ता से मरी जाती हैं। कुछ धूर्तों ने नगर से भागकर जान बचाने की सोची। पर हूण मूर्ख न थे। नगर चारों ओर से घिरा हुआ था।

तीन दिन बीतने पर हैं, पर कोष में कर का षष्ठांश भी नहीं पहुँचा। आज 'नव-पत्रिका' का उत्सव-दिन है। जहाँ नगर पर आनन्द की घटा छाई रहती, आज वहीं आपत्ति के काल-मेघ घिर आए हैं। ऐसे समय में कुछ ज़िन्दादिल लोगों ने विचार किया कि जब मरना ही है, तब उत्सव-भूमि में एकत्र होकर उसी का स्मरण करते-करते प्राण देंगे। अशोक-वनिका में भीड़ होने लगी। धीरे-धीरे बहुत-से लोग जुट गए। तीन दिन पूरे हुए। विपत्ति-मेघ जनता पर खड्ग की बिजली गिराने लगे।

स्वयं, खरहुन ने वनिका घेर ली। ज्यों-ही वह शस्त्र-पात की आज्ञा देने को था, कि हेमनाभ घोड़ा फेंकता हुआ आ पहुँचा। उसने ज़ोर-से पुकारकर कहा—"सुनो खरहुन, मैंने सेवक-धर्म का पालन कर दिया। अब नागरिक-धर्म का पालन करने आया हूँ। तुम सम्हल जाओ।"

सारी भीड़ और सेना एक बार निस्तब्ध होगई। हेमनाभ ने भीड़ को उत्तेजित करने के लिए दो-ही-चार वाक्य कहे, किन्तु उनका असर मन्त्र-जैसा हुआ। उसका यही कहना था कि जब मृत्यु सन्मुख ही है, तब प्रेत-लोक क्यों जाते हो?—वीरगति से स्वर्ग-लाभ करो।

भीड़ में क्या-जाने कहाँ की शक्ति आई। हेमनाभ खरूतुन पर टूट पड़ा, और भीड़ सैनिकों से गुथ उठी। जिनके पास शस्त्र न थे, उन्हें भी सैनिकों से—हूण सैनिकों से— शस्त्र छीनने का बल आ गया।

खरूतुन मन्द पड़ता जाता था। किन्तु ज्यों-ही हेमनाभ उस पर अन्तिम वार करे, पीछे से एक हूण ने उछलकर उसकी गरदन उतार ली। फिर क्या होना था? जिस लकड़ी के सहारे उस समूह का जर्जरित गात खड़ा था, जब वही टूट गई, तब वह कैसे सम्हलता? थोड़ी देर में यज्ञ में मारे गये पशु की भाँति, जिसके मुँह से शब्द तक नहीं निकलने दिया जाता, वह भीड़ वहीं ढेर हो गई। कोई भी वनिका के बाहर न जाने पाया। रक्ता-शोक रक्त से तर हो उठे। हूणों की तलवार, जो बरसों से प्यासी थीं, और मारे क्रोध के आप ही अपने को—जङ्ग लगाकर—खाये जाती थीं, आज निरीहों का रक्त आकण्ठ पान करके तृप्त हुईं। किसी बड़े भारी यज्ञ के लिए इतनी बलियाँ चढ़ गईं।

विशाल पट मण्डप में उपहार की सभी वस्तुयें एकत्र हैं। सेनापति खरूतुन मन्दसोर से जो लूट का माल लाया है, उसे सजाकर रक्खा रहा है। हूण-सम्राट् के आने की देर है। बड़े गर्व से वह अपनी भोंडी मूछों को ओठों से चबाता हुआ, अपनी चौड़ी और चिपटी तलवार के सहारे खड़ा है।

भारतीय प्रथा से, बन्दी-गणों ने हूणेश के आगमन की सूचना दी। दर्शकों पर उसका विलक्षण प्रभाव पड़ा। भीषण विजय के ओज में भयानक हूण शरीर, सज्जित भद्रासन के सहारे टिक रहा। वह रुधिर-

दिग्भ उपहारों को लोलुप दृष्टि से देखने लगा। खरतुन ने अपनी नृशंसता की वर्णना बड़े आतङ्क से की, और हूण-सम्राट् ने अपना मुंडा सिर हिलाकर उस कुकाण्ड का समर्थन किया। यह भयानक प्रसङ्ग हूणों की विलास-वस्तु है—वे फिर आनन्द से चीत्कार कर उठे। इसी समय युवती राजकुमारी गहूला मन्द गति से उस मण्डप में पहुँची। पुनर्वार चीत्कार हुआ। वह उसका स्वागत था। संस्कृत-कवियों ने सम्भवतः उसे ही देखकर कहा है—"हूण-रमणी चिबुक प्रतिस्पर्धिनारंगकम्।"

वही स्वाभाविक लाली उपहारों को देखकर हँसने में और भी बढ़ी जाती थी। उसने स्नेह दिखाते हुए पिता की बाँह पकड़ ली और बगल के मञ्च पर बैठ गई। उन वस्तुओं से भारतीय कला का एक उच्च आदर्श सुन्दर सोने के पुष्पों से सजी, चन्दन की एक मंजूषा, जिसमें रत्न भी लगे हुए थे, निकालकर खरतुन, गहूला के सामने ले गया। राजकन्या के लिए ऐसा ही सुन्दर उपहार उपयुक्त था। सम्राट् भी प्रसन्न हुए। गहूला ने सम्राट् पर कृतज्ञता की दृष्टि डाली, किन्तु खरतुन उससे पुलकित हो उठा।

उपहार-वितरण अभी बाकी था। तोमारज और सामन्तगण उसी में लग गए। गहूला ने धीरे-धीरे वह मंजूषा खोली। देखा—कई सूखे हुए कमल स्वर्ण-मुद्रा-ग्रथित रेशमी कपड़े में लिपटे हैं। उसने मुद्राओं पर के लेख पढ़े। एक क्षण में अतीत के अनेक दृश्य उसके नेत्रों के आगे घूम गये। वह पीली पड़ गई, मंच के सहारे टिक गई। उसके हूण-रक्त ने ही उसे मूर्छित होने से बचा लिया।

तोमारज ने अकारण उस ओर देखा। किसी चाटु-लोभी का ध्यान

करके उसका उपचार होने लगा। क्षण-भर में बड़े-बड़े गुणी आ-जुड़े। उपहार-वितरण की सभा यहीं भङ्ग हुई।

४

❁ ❁ ❁ ❁

गहूला की आँखों का वह रस न जाने कहाँ चला गया। उसका मुख निष्प्रभ हो उठा है। उसके हृदय में उच्छ्वास लेने की शक्ति नहीं रह गई है। अब उसका हाथ लीला-कमल बिना सूना रहता है।

आज वह स्फटिक का आराध-पात्र टूटा पड़ा है। उसके आसव-घट कब के सूख गये हैं, और उसका रत्न-चषक यमुना में डुबा दिया गया है, उसका माधवी-कुञ्ज अब उजड़ा पड़ा है, और उसके मयूर ताल पर नाचना भूल गए हैं।

कल्पना

१

मैं कल्पना करने लगा—

कोई डेढ़ सौ वर्ष पहिले एक झंझनाता इक्का शिवपुर के आगेवाले तालाब पर रुका। मेरे वर्तमान जन्म से चार जन्म पहिले की बात है—उस पर एक मित्र के संग मैं सवार था। उस समय शिवपुर एक गाँव था। आजकल-जैसी चहल-पहल की कहीं पर परछांई भी नसीब न थी। तो भी वह कोई जङ्गल न था। गाँव के चारों ओर दूर-दूर तक अमराइयाँ फैली हुई थीं। कई पक्के तालाब भी थे। पर काशी के लोगों को यही तालाब बहुत प्रिय था। हम दोनों वहाँ हवा खाने गए थे, और भी कितने ही इक्के खुले हुए थे।

सड़क से कोई सौ क़दम पर वह सुन्दर पक्का तालाब था, जिसकी प्रेतात्मा के दर्शन आज भी आप वहाँ कर सकते हैं। उसके चारों ओर सौ-दो-सौ क़दम तक मैदान था। वहाँ गायें चरा करतीं। बालू टीलों पर सुन्दर अमराइयाँ थीं। तालाब के पूर्व किनारे पर, जहाँ से सीढ़ियों की लम्बी पाँत पानी की ओर चलती थी, एक सुन्दर शिव-मन्दिर था। वह

अब भूमिसात् होकर अपना अस्तित्व पृथ्वी के आँचल में चढ़ा रहा है। और इस पर का वह सुन्दर वट-वृक्ष, जिसकी शोभा देखने में मैं घण्टों बिता देता था, और जो उस मन्दिर के मुकुट पर नीलात पत्र का काम देता था, आज सिर पर हाथ रक्खे रोते हुए बूढ़े जैसा दीख रहा है।

पास ही एक कुँआ था। अब वह भँवार हो गया है। काल के विकराल दाढ़ों के अनेक चिन्ह उस पर लगे हुए हैं। वहीं हम लोगों की भंग घुटने लगी। निवृत्त होकर हम लोग तालाब के किनारे पहुँचे। वहाँ अच्छा जमघट था। कोई नहा रहा था, कोई वस्त्रों को पछाड़ता हुआ बार-बार उठाकर उसकी सफ़ाई देख रहा था, कोई-कोई स्नानादि से निश्चिन्त होकर बैठे थे। किसी के स्नान की तैयारी थी, पर चुप कोई न था; सब गप्पाष्टक कर रहे थे। प्रधान चर्चा अन्न की गिरानी की थी। काशी में पहिली बार २७ सेर का गेहूँ बिका था। भाव में एकदम १२ सेर की कमी कोई साधारण बात न थी। इसी प्रसङ्ग में अनेक कथा, उपकथा, क्षेपक, परिशिष्ट लग रहे थे। उन दिनों साहु नवलदास काशी के नगर-सेठ और परम दाता थे। बीच-बीच में उनकी उदारता की प्रशंसा और किसी-किसी के मुँह से निन्दा भी सुनी जाती थी। काशी का यह बुढ़िया-पुराण समय के बदल जाने पर भी, आज भी, ज्यों-का-त्यों बना है; बल्कि कुछ विकसित ही हुआ है।

हम लोगों का उस मण्डली ने आनन्दपूर्वक स्वागत किया। सभी ग्राम-पड़ग्राम के थे। तालाब का पन्ने जैसा पानी अपने तटस्थ वट की हरियाली से होड़ कर रहा था। हृदय में आनन्द से होनेवाली गुदगुदी की तरह उसमें मन्द लहरियाँ उठ रही थीं।

हम लोग अपनी धोतियों पर 'साफा' देने लगे। सन्ध्या के प्रवेश के साथ पानी की नीलिमा बढ़ने लगी। सामने के गऊघाट पर पानी पीने को उतरती गायों के खुरों की खट-खट से तालाब प्रतिध्वनित होने लगा। किन्तु जब तक सन्ध्या की उदासी फैले-फैले, तब तक पूर्व से निशानाथ निकल आए। शारदीय पूर्णिमा थी। आज की चन्द्र-श्री अपूर्व होती है।

थोड़ी देर में, तालाब में चाँदी लहराने लगी। हम लोगों की धोती सूख चली थी। अब नहाने की बारी आई। मैं पास के खुले बुर्ज से धड़ाम-से पानी में कूद पड़ा। मेरे मित्र सीढ़ियों से उतरते थे। वे भी तैरकर मेरे पास आ गए। हम दोनों देर तक जल-क्रीड़ा करते रहे, फिर बाहर निकलने की तैयारी हुई। मैं पानी में की एक सीढ़ी पर चढ़ा था कि मेरे बाएँ पैर की नली में ज़ोर से ठोकर लगी; सीढ़ी पर कोई चीज़ पड़ी थी। वहाँ कन्धे तक पानी था। ठोकर ज़ोर की लगी थी; क्योंकि मैं तेज़ी से ऊपर आ रहा था। मैंने कहा—"अरे! यहाँ बड़े-बड़े 'साफ़ेबाज़' (१) आते हैं; किन्तु कोई यह ठोकर नहीं हटाता, क्या अहदी लोग हैं!"

अपने मित्र से मैंने ठोकर का हाल बतलाया।

घाट पर एक साहब बोल उठे—"का साहेब, साफ़ाबाजन में तू नाहीं हौ? काहे अउरन के बदनाम करथौ।"

---

(१) धोती या अँगौछे को किसी साफ़ चिकने पत्थर पर, सफ़ाई के लिए देर तक पछाड़ने को साफ़ा देना या 'पुट्ट लगाना' कहते हैं। जो ऐसा करे, वह पुट्टबाज़ या साफ़ेबाज़।

"बदनाम ए वास्ते करीथै कि सब एके निकसतें काहे नाहीं। आज एके निकासना है।"

मैंने पैर से टटोलकर देखा कि वह एक पत्थर का चिकना ढोका था। तब मैंने उपस्थित मण्डली से कहा—"ज़रा आप लोग मदत करो तो एके निकासा जाय। बड़ा चिकना पत्थर है, पुट देवे काबिल है। तीन-चार ठो रस्सी मिलायके एमें बाँधी जाय तो सहज में ऊपर खिंच आवे।"

उस पत्थर को 'पुट देवे काबिल' जान, सब अपने-अपने लोटों की रस्सियाँ जुटाने लगे। वे एक में बटी गईं और मैंने गोता लगाकर उस काम चलाऊ रस्से को पत्थर में बाँधा। कई जन ऊपर से खींचने लगे और हम दोनों डुबकी लगाकर उसे ठेलने। पाँच मिनट के भीतर-ही वह कमर-भर पानी में आ गया। तब हम दोनों सहज ही में उसे उठाकर ऊपर लाए। उस समय नगर में बहुत ही कम लोग ऐसे थे, जो कसरत-कुश्ती न करते रहे हों। बाहर देखने पर मालूम हुआ कि वह शिला कोई मूर्ति है, जो पानी में उल्टी पड़ी थी। हम लोगों ने उसे सीधा रखकर धोना आरम्भ किया।

थोड़ी देर में उसका मिट्टी-कीचड़ सब साफ़ हो गया और जब पानी से धुली हुई और तर मूर्ति के मुख पर चन्द्र-ज्योत्स्ना खेलने लगी तब उसकी शोभा देखकर सारी मण्डली अवाक रह गई।

शारदा की क्या दिव्य मूर्ति थी! सब मुग्ध हो गये। कई ने कहा कि उसे वट के नीचे रख देना चाहिये।

मैंने कहा—पागल तो नहीं हो गये हो! भला उन खण्डित मूर्तियों

और टूटे-फूटे पत्थरों में माता की जगह है ? आज शरद् के दिन शारदाजी ने स्वयं दर्शन दिया है, उस मौलसरी के नीचे इनकी प्रतिष्ठा होगी।

तालाब के पश्चिमी घाट पर बकुल के जोड़े लगे थे।

मन्दिर बन गया और प्रतिष्ठा भी हो गई। मेरा वहाँ रोज़ तीसरे पहर जाना भी हो गया। घर के लोग भी वहाँ प्रति पूर्णिमा जाया करते। श्रद्धा से पूजा होती। जब से यह मन्दिर बना था, मेरी सब प्रकार उन्नति थी।

मेरी पत्नी सुभद्रा, घण्टों तक भगवती का मुँह निहारा करतीं और बार-बार यही उलहना देती कि उन्हें घर क्यों न पधराया।

❀ ❀ ❀ ❀

मैं अपने बारामदे में आराम-कुर्सी पर लेटा था। मेरे सामने ही खम्भों के सहारे वह मूर्ति धरी थी। अभी कल ही वह मुझे प्राप्त हुई थी।

कल मेरे मित्र······पहुँचे और कहने लगे—चलो ज़रा आज गहरे-बाज़ी का ❀ मज़ा तो देख लो। उनके अनुरोध से मैं रबर टायरवाले बक-झक किराये के एक्के पर सवार हुआ। काशी-निवासी होते हुए भी यह मेरे लिये नया अनुभव था। अतः मैं बड़े कुतूहल से उस तेज़ घोड़े की चाल देखता हुआ शिवपुर पहुँचा। एक पुराने कुँए पर दरी बिछ गई—ठण्डाई बनने लगी और मैं योंही इधर-उधर टहलने लगा। हरी-हरी बरसाती दूब अंकुरित हो रही थी। सूर्यास्त का समय था, आकाश में रंगीन बादलों का जमघट देखते-देखते मेरा पैर ठुकराया—देखता हूँ,

❀ होड़ में छोड़े हुए इक्कों की दौड़ को बनारस में 'गहरेबाज़ी करना' कहते हैं।

एक शिला-खण्ड। अरे! वह तो एक प्राचीन मूर्ति थी। मैंने अपने मित्र को आवाज़ दी। उन्होंने आकर हँसते-हँसते कहा—लो, भगवान् ने यहाँ भी तुम्हारे ख़ब्त का मसाला जुटा दिया। मूर्ति जमा करने की हालत में कई बार वे मेरे सहायक हो चुके हैं। आज भी उनकी मदद से मैंने उसे सीधा किया। वह क्या सुन्दर चीज़ थी! ख़ुशी-ख़ुशी मैं उसे घर ले आया। गुलदाऊदी के फूल उसे चारों ओर से घेरे हुए थे। मैं बिना रुके हुए कहता गया—

"अब डेढ़ सौ वर्ष बाद मैंने उस मन्दिर को खँडहर पाया। तुमने फिर पृथ्वी में अपना मुँह छिपा लिया था, हरी घास तुम्हारे लिए चादर बनी हुई थी। मैंने एक बार फिर तुम्हारा उद्धार किया। इस बार मेरी पत्नी को घर से दूर रखने का उलहना न देना पड़ेगा। उस बार तुमने मन्दिर में बैठकर मेरा कल्याण किया था, इस बार इन सुन्दर फूलों के तले से......"

मैंने एक बार साभिलाप नयन से उस मुख की ओर देखा। हृदय हरा हो उठा। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि उस मूर्ति का सहज सस्मित मुख और भी मुस्करा रहा है। उससे एक दिव्य प्रभा आलोकित हो रही है। और यद्यपि उसने मुँह नहीं खोला था, तो भी वह मुझ से कह रही थी—

"यह सब तुम्हारी कल्पना नहीं, सच्ची बात है। किन्तु तुम इस दो बार के पहिले एक बार और मुझे रक्षित कर चुके हो। यही नहीं, तुम्हीं तो मेरे निर्माता भी थे। क्या यह सब भी तुम्हें याद नहीं?"

पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

जन्मकाल १८९७ ई० रचनाकाल १९१८ ई०

गोई जीजी

"अपने छोटे-से जीवन में मैं न-जाने कहाँ-कहाँ घूमा हूँ। न-जाने कितने सान्ध्य-प्रकाश में मैंने मानसिक परिस्थितियों का विश्लेषण किया है; किन्तु........."

मेरे मित्र गोपालकृष्ण कहते-कहते रुक गये। शनिवार की रात, कॉलेज के होस्टलों में आनन्द-रात्रि (Golden Night) के नाम से पुकारी जाती है। रात के कोई आठ बज चुके होंगे। हम सब लोग व्यालू कर चुके थे। आज भी आनन्द-रात्रि थी। मैंने सोचा, चलो, आज गप्पें उड़ावें। इसी ख्याल से मैं अपने मित्र के कमरे में आया। गोपालकृष्ण हम सबों के प्यारे हैं। वे विचारशील हैं, हँसमुख हैं, क्लास के अच्छे विद्यार्थियों में-से हैं। मेरी और गोपाल की ज्यादा पटती है। कमरे में घुसते-ही मैंने देखा—कि वे खिन्नमना बैठे हुए कुछ सोच रहे हैं। मैंने

अपने स्वभाव-चापल्य के वशीभूत होकर पूछा—"क्या सोच रहे हो क्याँ ?" उत्तर में उपर्युक्त वाक्य उन्होंने बड़ी गम्भीरता से कहे। मैंने देखा कि मामला कुछ बेढब है। मैं चुपचाप उनके पास बैठ गया। बिजली की बत्ती से कमरा अब आलोकित हो रहा था। गोपाल 'किन्तु' कहकर रुक गये। मैंने धीरे-से कहा—"किन्तु, किन्तु क्या गोपाल ?"

"कुछ नहीं हरि, जाने दो।"

"आख़िर कुछ कहो भी तो।"

"क्या करोगे सुनकर ?"

"नहीं, ज़रूर कहो।"

"हरिशरण, सुनोगे ?"

"ज़रूर सुनूँगा।"

"देखो, सोच लो।"

"सोचने का इसमें क्या है भाई, तुम कहो, मैं सुनूँगा।"

"हरि, एक कथा है। और सुनो।"

मैंने अपनी आँखों से जता दिया कि सुनाओ। गोपाल बोले—"तो पहले कमरे का दरवाज़ा बन्द कर लो।" मैंने चटकनी लगा दी। गोपाल ने कुर्सी के हत्थे पर अपने बायें हाथ की कोहनी रखकर अपने सिर को अपनी हथेली पर रख लिया। फिर वे धीरे-से कहने लगे—"हरि, मसूरी पहाड़ से मैंने सूर्यास्त का दृश्य देखा; समुद्र के तट पर खड़े-खड़े मैंने अंशुमाली को समुद्र में डुबकी लगाते देखा, और भी न-जाने कहाँ-कहाँ की सन्ध्याओं को आँख भरकर देखा। किन्तु वह मज़ा नहीं। वह सूर्यास्त मैंने फिर कभी नहीं देखा—जो मैंने अपने बाल्यकाल में

क्रीड़ा-स्थल से देखा था। हम लोग पहले एक गाँव में रहा करते थे। एक दिन की घटना मेरे अन्तरतम-पटल पर अङ्कित है।

"सूर्य ढल चला था। मेरी फूस की टपरिया ख़ूब साफ़-सुथरी थी। आँगन लिपा-पुता नहीं था। किन्तु पानी बरस जाने से साफ़ होगया था। सावन का महीना था। मेरी माँ, सूप में कुछ अन्न—याद नहीं आता कौन-सा—लिये हुए फटक रही थीं। मैं उसके पास ही खेल रहा था। मैं उस समय कोई छः-सात वर्ष का था। मेरे सब कपड़े—केवल एक अँगरखी—धूल में सनी हुई थी। हाथ-पैर सूखे हुए कीचड़ से लथ-पथ थे। माँ मुझे 'भैया' कहकर बुलाया करती थीं—उसका नाम लक्ष्मी था; किन्तु हम लोग उसे 'लच्छी' कहकर पुकारा करते थे। मैं लच्छी का दूध पीता था; माँ का केवल मुझ ही में केन्द्रित पुत्र-स्नेह पीता था। ख़ूब पुष्ट शरीर था। गाँव के पास एक आम का बग़ीचा था। गाय जब जङ्गल से आती, तो वहीं उस बग़ीचे में खड़ी-खड़ी रँभाया करती—"ओ म्हा म्हा!" जब तक माँ न बुलाती, तब तक वह वहाँ से रँभाया करती थी। माँ घर से चिल्लाकर कहती थी—"लच्छी, आजा, आ बेटी!" तब गाय दौड़ती हुई आती। हरि, बड़ा सुख था। बड़ी सुखद सन्ध्या थी।

"आकाश में बादल के टुकड़े दौड़ रहे थे। तब तक मैंने जन्म में कभी नाव या जहाज़ की तस्वीरें नहीं देखी थीं। बादल जब तरह-तरह की शक्लें बनाकर इधर-से-उधर दौड़ रहे थे, तब मैं किलक-किलककर माँ से कहता था—"माँ, देख वह एक बड़ा-सा बैल बन गया। अब देख री माँ, लच्छी की सूरत बन गई। माँ! जो ये बादल भी लच्छी का-सा दूध बरसायें तो!"

माँ ने कहा—'और जो पत्थर बरसाये तो?' 'तो फिर हमारा घर टूट जाय।' मेरी बात सुनकर माँ हँस पड़ी।

"गाँव में सावन के महीने में बड़ा सुहावना लगता है। हरि, छोटा-सा गाँव मानो आनन्द से नहा रहा था। दूर-दूर तक हरियाली दिखाई पड़ती थी। घास के बिछौने पर वीरबहूटियाँ चलती थीं, और घरों में बहिनें मेंहदी लगाये घूमती थीं। नीम और आम के झाड़ों पर गाँव में जगह-जगह झूले बँधे हुए थे। गाँव की लड़कियाँ झूलों में झूलती थीं। झूल-झूलकर मधुर गीत गाती थीं—

'अरे रामा हरी-हरी चुरियाँ बाँह गहे पहिरावत गिरधारी।' क्या अच्छा समय था। वर्षा ख़ासी हुई थी। अकाल का भय नाम-मात्र को न था। गाँव के वृद्ध लोग लड़कियों का गाना सुनकर मग्न हो रहे थे। उनकी वृद्ध सतेज आँखों में निर्मलता थी, और हृदय में प्यार के पुनीत भाव। इस लोकोत्तर आनन्द के लिये वे एक अज्ञेय तथा अज्ञात शक्ति के कृतज्ञ नहीं थे। कभी-कभी वे मौन होकर, शान्त, स्थिर नेत्रों को, कृपा के भार से दबी हुई पलकों से, मूँदकर ऊपर की ओर बादलों को देखकर चुप रह जाते थे। मैं तब इन बातों को कुछ समझ नहीं सकता था।

"हाँ, तो मैंने कहा—'भैया, अब राखी आई। तेरी गोई जीजी आयेगी।'

"मेरी बड़ी बहिन का नाम गोदावरी था। मैं उसे गोई जीजी कहा करता था। जीजी आयेगी,—यह सुनकर मैं बड़ा खुश था। माँ को बहुत-सी कथाएँ याद थीं। मुझे कथा सुनना बहुत भाता था। माँ बोली—'भैया, राखी की कथा सुनेगा?'

"मैंने चाव-भरी आँखों से देखते हुए गर्दन हिला दी। पिताजी घर पर नहीं थे। वे जीजी को लेने उसकी ससुराल गये थे।

"माँ ने कहना शुरू किया—'सुन, कृष्ण थे,'

"मैं झट-से बोल उठा—'अच्छा!! फिर?'

"माँ बोली—'उनके एक बहिन थी, जिसका नाम सुभद्रा था,'

"मैंने फिर बात काट दी। चट-से पूछा—'माँ, क्या वे अपनी बहिन को मलाई देते थे?' बात यह थी कि मैं बड़ा पेटू था। मैं लच्छी के दूध की मलाई जीजी को नहीं लेने देता था; लड़-झगड़कर मैं सब खा जाता था। माँ ने कहा—'दुत् पागल, नहीं क्या तेरे-ऐसे खाऊ सभी होते हैं? वे दोनों बहिन-भाई आपस में बाँटकर खाते थे।'

"इतना कहकर माँ घर में अन्न रखने चली गईं। माँ आकर फिर बैठ गईं। मैं उसकी गोद में लेट गया। प्यार से माँ के स्तन को हिलाकर बोला—'हाँ फिर?'

"इतने में ही एक बैलगाड़ी आती हुई दिखाई दी। पिताजी की सफ़ेद पगड़ी को माँ ने दूर से पहचानकर कहा—'गोदावरी आगई।' सुनते ही मैं उठकर खड़ा होगया। मैं बड़ा प्रसन्न था। जीजी आई। कुछ बाल-हृदयों में एक प्रकार का संकोच का भाव होता है। कभी-कभी अपनों के प्रति भी यही भाव प्रस्फुटित होजाता है। इसीलिये जब दीदी आई, तब मैं दूर खड़ा रहा। उसने मुझे दौड़कर गोद में उठा लिया। मैंने कहा—'गोई जीजी'—शब्दों में आह्लाद-मिश्रित एक अद्भुत तरल-किलक थी।

"बहिन बोली—'भैया मेरा'—शब्दों में थरावट थी! वत्सलता के आवेग ने कण्ठ-स्वर को भर लिया था।

"हरि, अब भी याद है;—वही मुख, अहा! वत्सलता आँखों से टपक पड़ती है। अब भी याद है, चूड़ियों से भरी हुई लम्बी-लम्बी बाहें, अब भी फैलाकर बुलाती हैं—'आ!' हरिशरण! अब भी अपने कमरे को बन्द कर, रात्रि की निस्तब्धता में बुलाता हूँ—'गोई जीजी!' मेरी वह पुकार शून्य हृदयाकाश में विलीन होजाती है। हे आनन्द के क्षण, हे अमिट स्मृति, दीदी के माँग के सेन्दुर की हे पवित्र सुगन्धि, मेरे कपोलों को सिक्त करनेवाले हे वत्सलताश्रु, तुम न-जाने किस वायु के झकोरे के साथ आ-जाते हो?

"याद—किसी क्षण की क्यों न हो, चाहे दुःखों के क्षण की हो अथवा सुखों के—किन्तु इसके बिना जीवन उजाड़ होजाता है।

"हाँ, तो हरि, सुनो, दीदी की कथा सुनो। वर्षों गुज़र गये, हम लोग शहर में आकर बसे। बहिन की ससुराल पास ही के गाँव में थी। पिता ने मेरे शिक्षण-क्रम को ठीक किया। दीदी के दर्शन अब भी हो-जाया करते थे। ससुराल से समय-समय पर आजाती थीं—मुझे खिलाती थीं, मेरा दुलार करती थीं। कायर जीजा आलस्य की मूर्त्ति था। जीजी ही उसका और अपना पेट पालती थीं। मज़दूरी करके लाती थीं। खेतों में जाकर काम करती थीं, सावन-भादों के दिन; पानी कहता था आज ही बरस लूँगा। खेतों में घुटनों तक जल भर जाता था। तो भी पेट की ज्वाला न बुझती थी। इतना पानी, तो भी आग धधका करती थी। इसको बुझाने के लिये जीजी अपने वेदना-जन्य आँसू, कठोर परिश्रम-जनित स्वेद की बूँदें, और बचा-खुचा हृदय का लहू देती थीं, तब कहीं जाकर भूख की लपकती हुई लपटें बुझती थीं। दुष्ट जीजा खा-पीकर

अथाई में जा बैठता था। जब तक वह वहाँ पड़ाप-ड़ा सोया करता था, तब तक दीदी हँसिया लेकर कीचड़ गूँधा करती थीं। गाँव के लोग देखते थे; कहते थे—'गोदावरी सती है।' कुछ वृद्ध लोग जीजा से कहते थे—'भलेमानुस, ज़रा तो शरम खा। उसका ख़ून क्यों चूस रहा है?'

"पुरुषार्थ-हीन प्राणियों में मनुष्यता का अभाव होता है। कभी-कभी आरम्भ में शूरता आजाती है; किन्तु टिकती नहीं। भर्त्सना सुनते-सुनते जीजा निर्लज्ज होगया था। स्वाभाविक आलस्य ने, और निर्लज्जतापूर्ण बेपर्वाही तथा मस्ती ने जीजा के मान के चित्त से दयार्द्र भाव नष्ट कर दिया था;—जीजी के कठोर श्रम तथा हृदय-विदारक स्थिति की ओर से जीजा की सहानुभूति बिल्कुल जाती रही थी।

"जीजी के शरीर पर एक ही साड़ी थी। नहाते समय उसी को पहने नहा लेती थीं। बाद को आड़ में छिपकर आधी साड़ी सुखाकर उसे पहिन लेती थीं; फिर वह भीगी आधी साड़ी सुखा पाती थीं। माता-पिता यह सब सुनते थे। कलेजा मसोसकर रह जाते थे। क्या करते? फिर भी यथा-सामर्थ्य सहायता करते ही थे; लेकिन कहाँ तक करते?

"इसीलिये कहता हूँ हरि, संसार में अधिकतर मनुष्य नहीं, शैतान बसते हैं।" गोपाल की यह कथा सुनकर मेरी आँखें छलछला आईं।

गोपाल बोले—"हरिशरण, रोते हो? रोओ—मैं न रोऊँगा। न-जाने क्या हुआ—मेरी आँखों का पानी सूख गया है।"

मैं अपने को न सम्हाल सका। मैंने कुर्सी पर से उठते हुए कहा—"गोपाल! अब तुम अपनी इस करुण कथा को बस करो। मैं नहीं सुन सकता।"

गोपालकृष्ण का चेहरा तमतमा उठा। उसकी यह उत्तेजना देखकर मेरा बाँध और भी टूट गया। बेचारा गोपाल—गोपाल, तुमने इस उत्तेजना का क्या मूल्य दिया है—जानते हो?

यह उत्तेजना क्या थी? आन्तरिक यंत्रणा ने निर्दयतापूर्वक तारों को बजा दिया। स्वर नहीं निकले;—एक विकृत तान उठी; वही यह उत्तेजना थी। गोपाल ने उत्तेजित होकर कहा—"हरि! तुम्हें सुनना होगा।" मैंने हृदय पर पत्थर रखकर कहा—"कहो।"

गोपाल टूटे हुए स्वर में कहने लगा—"आपत्ति सहन करते-करते जीजी क्षीण हो चलीं। एक दिन, रात को नौ बजे हम लोगों को ख़बर लगी कि जीजी बहुत बीमार हैं। उसी समय हम चल खड़े हुए। रात के एक बजे गाँव में पहुँच गये। जङ्गल में सियार बोल उठे और गाँव में कुत्ते। जीजी को सन्निपात हो गया था। हम सब किंकर्तव्यविमूढ़ थे। प्रकृति का सौरभ, आकाश की निर्मलता तथा गाँव की अभग्न शान्ति, ये सब चिन्ता और विषाद की ज्वाला को न बुझा सके। दीपक का तेज कुछ अवशिष्ट था। अन्त होने में कोई विलम्ब नहीं था।

"हम सब के देखते-देखते जीजी अपनी माँ, अपने 'काकाजी,' और सब से अधिक अपने इस भैया को छोड़कर चल दी। हरि! हृदय फट जायगा—हरि, हृदय न जाने क्यों नहीं फटता!"

इतना कहकर गोपाल पागलों के ऐसा, सन्दूक के पास गया। उसमें से कुछ निकालकर ले आया। देखा कि एक सादे कपड़े में सूत का डोरा लिपटा हुआ रखा है। और उसमें एक दुअन्नी रखी है। गोपाल भर्राई हुई आवाज़ से कहने लगा—

"हरिशरण, ये ही दो स्मरण की चीज़ें रह गई हैं। उसका तैल-चित्र नहीं है। उससे सतत बरसनेवाले आशीर्वाद और उसकी निर्मल सदिच्छा की चिन्ह-स्वरूपा यह राखी है, और यह एक दुअन्नी है। पेट काटकर—न-जाने कितना खून देकर—उसने अपने भैया की मिठाई के लिए यह दुअन्नी बचाई थी, वही यह दुअन्नी है। हरि! मेरी गोई जीजी—मेरी प्रति जननी, गोई जीजी की यही कहानी है। जिसकी उत्सङ्ग में पला, जिससे इतना लड़ा, जिससे मलाई छीनकर खाई, जिससे सदा-सर्वदा 'गोई-जीजी' कहता रहा, हँसिया और खुर्पी थामने से ठाठ पड़े हुए जिसके पुनीत हाथों के फटने में अवर्णनीय वात्सल्य-दान का रस चखा, उस सतत-स्मरणीया, अवहेलिता, आपत्ति-प्रताड़िता गोई जीजी की यही स्मृति है। श्मशान का, उस रात्रि का और उस प्रातःकाल का अन्तिम दृश्य मेरे सामने आ जाता है। एक बार फिर एकान्त में उस स्थान के दर्शन करने की उत्कण्ठा होती है। वह स्थान मेरे लिये भयङ्कर है, रोमांचकारी है, दुःख की स्मृतियों को जाग्रत करनेवाला है, पर पवित्र है!! हरि, मेरा मृतक शरीर भी उसी स्थान पर अग्नि को समर्पण किया जाय और रात्रि से प्रातःकाल तक जलता रहे—ऐसी भावना मुझको अनेकों बार हो चुकी है!!!"

इतना कहकर गोपालकृष्ण का व्यथित हृदय न-जाने किस वेदना के रसास्वादन में लवलीन हो गया। मैंने देखा कि उनके मुख पर एक अमिट विषाद-रेखा खिंची हुई है!

घड़ी ने बारह बजा दिये। इस पुनीत गाथा को सोचता हुआ मैं अपने कमरे में चला गया।

श्री चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'

जन्मकाल रचनाकाल
१९५६ वि० १९१९ ई०

उन्मादिनी

१

संसार स्वार्थ की रङ्गभूमि है, और इसी स्वार्थ के वशीभूत होकर पण्डित रविशङ्कर ने अपनी अनाथिनी भानजी का विवाह एक ऐसे नर-पिशाच के साथ कर दिया था, जिसने उसका जीवन अग्निमय बना दिया। इतने पर भी सारे गाँव ने एक स्वर से पण्डित रविशङ्कर की उदारता और मृतभगिनी के प्रति उनके असीम स्नेह की परम प्रशंसा की थी। पण्डित रविशङ्कर ने अपनी मातृ-पितृ-हीन भानजी सौदामिनी के लिए जो पति निश्चित किया था, वह लखनऊ के एक कारख़ाने में २०) मासिक पाता था। पर, उन्होंने इस बात पर रत्ती-भर भी ध्यान नहीं दिया कि, जिसके साथ सौदामिनी को अपना समस्त जीवन व्यतीत करना है, उसका आचरण कैसा है? उसका स्वभाव, उसका शील एवं

उसका व्यवहार ऐसा तो नहीं है, जिससे सौदामिनी को क्लेश और दुःख पहुँचे। इन बातों की ओर पण्डित रविशङ्कर का ध्यान नहीं था, वे तो यह चाहते थे कि कम-से-कम धन में कन्यादान का महाफल प्राप्त करलें। इसीलिए उन्होंने सस्ता वर ढूँढ़कर सौदामिनी को उसके हाथों में सौंप दिया। गाँववालों ने जब सुना कि सौदामिनी का पति ३०) मासिक उपार्जन करता है, तब तो वे सौदामिनी के भाग्य को सराहने लगे, और राजराजेश्वर-जैसे वर के साथ सौदामिनी का विवाह करने के लिए पण्डित रविशङ्कर की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे।

सौदामिनी भी मन-ही-मन प्रसन्न हुई। बाल्यकाल ही में वह माता-पिता के मधुर वात्सल्य से वञ्चित हो गई थी, और यद्यपि लोक-लाज के कारण मामा रविशङ्कर ने उसे अपने घर में आश्रय दिया था, पर, मामी और मामा का व्यवहार उसके प्रति इतना कठोर था कि वह उस आश्रय को छोड़कर दूसरे आश्रय में जाने के लिए रत्ती-भर भी दुःखी नहीं हुई; प्रत्युत उसे कुछ-न-कुछ प्रसन्नता ही हुई। अनाथिनी होने के कारण सौदामिनी का विवाह कुछ अधिक वयस में हुआ था; अर्थात् उस समय सौदामिनी ने अपने १६ वें वसन्त में पदार्पण किया था, इसी लिए वह विवाह के रहस्य और अर्थ को कुछ-कुछ जान गई थी। यद्यपि विदा के समय विलाप करते हुए मामा और हा-हाकार करती हुई मामी के गलों से मिलकर उसने भी अजस्र अश्रु-वर्षा की थी; परन्तु बार-बार यह सोचकर कि अब वह दासी के पद को छोड़कर स्वामिनी के पद को अभिकृत करने जा रही है, उसका हृदय उल्लासमय हो उठता था और उस अविरल विलाप के बीच में भी उसका शरीर पुलकित हो जाता

था। सौदामिनी के अन्तर में बार-बार यही विचार उठते थे कि अब वह मामा और मामी के दुर्व्यवहारों से छूटकर अपने देवता का पूजन करेगी और उनके हृदय पर अपना शिर रखकर इसी स्थूल संसार में स्वर्ग के सुखों का अनुभव करेगी। उस समय स्वभावतः उसके मन में एक प्रकार के गौरव का भाव उदय हो गया था और उसके सुन्दर मुख-मण्डल पर आनन्द की उज्ज्वल आभा क्रीड़ा कर रही थी। जिस प्रकार पण्डित रविशङ्कर सस्ते में कन्यादान का महाफल पाकर मन-ही-मन प्रसन्न हो रहे थे, उसी प्रकार सौदामिनी भी उस बन्दीगृह से छूटने पर अन्दर-ही-अन्दर उल्लासमयी हो रही थी। दोनों अपनी-अपनी प्रसन्नता को विलाप और आँसुओं के आवरण में छिपाये हुए थे। यदि परम्परा से यह न चला आया होता कि विदा के समय कन्या और उसके संरक्षक विलाप करें तो उस दिन न तो सौदामिनी ही अश्रु-वर्षा करती, और न पण्डित रविशङ्कर और उनकी स्थूलकाया धर्मपत्नी ही हा-हाकार से समस्त घर को मुखरित करतीं। तीनों ही आनन्द में हँसते रहते। पं० रविशङ्कर और उनकी धर्मपत्नी सौदामिनी मुस्कुराती हुई अपने परमेश्वर के साथ चली जाती; सम्भवतः फिर एक बार भी पीछे फिरकर न देखती। पर, बलिहारी है परम्परा की! इसकी प्रतिष्ठा के लिए एक नहीं, अनेक बार कपट तथा आडम्बर का अभिनय करना पड़ता है। और फिर भी हम परम्परा की पूजा के लिए कितने प्रयत्नशील हैं!

विश्व-वन में प्रस्फुटित होनेवाले पुष्प के कोष में हलाहल का अंश अधिक है। अथवा सुधा का—यह जानना सीमाबद्ध बुद्धि के लिए एकान्त कठिन है।

२

सौदामिनी के पति का नाम था, कालीशङ्कर। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, वह लखनऊ के एक कारख़ाने में ३०) मासिक पर काम करता था। गाँववालों की दृष्टि में ३०) रु० मासिक की वृत्ति का मूल्य बहुत हो सकता है। परन्तु जो बड़े-बड़े नगरों में रहते हैं, वे जानते हैं कि ३०) में अच्छी तरह भोजन और लाज ढकने को वस्त्र मिलना भी दुष्कर होता है। पर, कालीशङ्कर के लिए यह बात नहीं थी। कारण, वह एकाकी था। न उसके माता थी, न पिता, न भाई, न बहन, न कुटुम्ब, न परिवार। एक गन्दे और बुरे मोहल्ले में उसने एक टूटा-फूटा मकान ले रखा था। उसी में आकर सौदामिनी ने अपने दाम्पत्य-जीवन का श्रीगणेश किया। सौदामिनी सदा से परिश्रमशील थी, आते-ही-आते उसने घर को परिष्कृत किया। जो-कुछ थोड़ा-बहुत सामान घर में था, उसे यथा-रीति स्थापन किया, और जो-कुछ दहेज में आया था, उसे भी उसने यथास्थान स्थापित किया। थोड़े ही दिनों पहले जो घर नरक का एक कक्ष-सा प्रतीत होता था, अब वह स्वर्ग की एक परिष्कृत कुटी-सा प्रतीत होने लगा। परन्तु जिस देवता की पूजा के लिए उसने गृह-मन्दिर को परिष्कृत एवं सुसज्जित किया था, वह उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता था। जिस हृदयेश के लिए उसने समस्त गृह को एक अपूर्व माधुरी से मण्डित किया था, वह उसके अतुल निर्मल प्रेम की उपेक्षा ही करता रहा।

कालीशङ्कर की शिक्षा केवल नाम लिख लेने तक ही परिमित थी। हाथ का कारीगर होने के कारण यद्यपि उसे ३०) मिलते थे; परन्तु इन

रुपयों का अधिकांश भाग दुर्व्यसनों की बलिवेदी पर स्वाहा हो जाता था। विवाह के उपरान्त कुछ दिनों तक तो वह रात को घर में रहा भी; परन्तु, फिर तो वह कई-कई दिनों तक घर ही न आता। केवल सायङ्काल को कारख़ाने से लौटता और भोजन करके चला जाता। इस बीच में सौदामिनी नित्य उसके काले कपड़ों को धो रखती, उसके लिए स्वादिष्ट भोजन बनाती, उसके लिए सब प्रकार से सुख पहुँचानेवाली सामग्री की आयोजना करती। परन्तु, वह स्नेहमयी सौदामिनी की इस प्रेममयी परिचर्या की ओर रत्ती-भर भी ध्यान न देता, और दो-दो, तीन-तीन दिनों तक घर से अनुपस्थित रहता।

इतना ही नहीं, धीरे-धीरे उसके सौदामिनी के आभूषणों को भी लेकर दुर्व्यसनों की अग्नि में भस्म कर दिया। होते-होते यहाँ तक स्थिति बिगड़ गई कि घर के बर्तन भी बिकने लगे और अन्त में यह गति हुई कि सौदामिनी के आने पर जो घर भरा-पूरा दिखाई देने लगा था, वह एक बार ही खाली हो गया। केवल मात्र २-४ आवश्यकीय चीज़ें रह गईं। पर, इतने पर भी कालीशङ्कर की मति ठीक नहीं हुई। वह दुर्व्यसन के पङ्क में आकण्ठ निमग्न हो गया!

सौदामिनी ने यह सब सहा; मौन होकर, मन-ही-मन अशेष यातना का अनुभव करके, उसने पति के इन सब अत्याचारों को सहन किया। परन्तु जब कालीशङ्कर ने छोटी-से-छोटी बात पर उसे और दुःख देना आरम्भ किया। जब तीन-तीन दिनों तक उसके मुख में अन्न का एक दाना तक नहीं पड़ा और जब लज्जा-निवारण के लिए भी उसे वस्त्र मिलना कठिन हो गया, तब सौदामिनी की सहन-शक्ति भी समाप्त हो गई। वह

भी अब उत्तर प्रत्युत्तर देने लगी और उसका परिणाम यह हुआ कि अब उसके ऊपर आघातों की निरन्तर आवृत्ति होने लगी। सौदामिनी बड़ी तेजस्विनी प्रकृति की रमणी थी। वह बहुत-कुछ सह सकती थी, पर जब उसका हृदय पति के निरन्तर अत्याचार से एक बार व्यथित एवं व्याकुल हो गया, तब उसकी वह तेजस्विता सहसा प्रचण्ड रूप से प्रकट हो गई। वह स्पष्ट शब्दों में कालीशङ्कर की उसके दुर्गुणों और दुर्व्यसनों के लिए भर्त्सना करने लगी।

कालीशङ्कर ने जहाँ मकान ले रक्खा था, वहाँ पर एक भी भले आदमी की बस्ती नहीं थी। चारों ओर गुण्डे और बदमाशों के मकान थे और उनके बीच में ही रात्रि को सौदामिनी एकाकी अपने शून्य गृह में पड़ी रहती थी। इसलिए उसे बहुत ही भय लगता था। एक दिन की बात है। कालीशङ्कर कारखाने से आ चुका था; भोजन-इत्यादि करके वह बाहर जाने को समुद्यत था। उसी समय सौदामिनी ने धीरे-धीरे कहा—"यह घर अच्छा नहीं है! कोई दूसरी जगह अच्छा घर क्यों नहीं ले लेते हो?"

कालीशङ्कर—"मामाजी के घर से बड़ी सम्पत्ति लेकर आई हो, जिससे इस टूटे घर में रहना अच्छा नहीं लगता।"

सौदामिनी—"सो बात नहीं है। यहाँ पर चारों ओर बदमाश रहते हैं, जब तुम नहीं होते हो, तब मुझे बड़ा भय लगता है।"

कालीशङ्कर—"क्यों? क्या किसी से आँख लड़ गई है। बदमाश हैं तो क्या—तुम्हारे घर में तो नहीं घुसते हैं!"

सौदामिनी—"घर में तो नहीं घुसते हैं; पर तुम रात-रात-भर

बाहर रहते हो, तब यदि वे घर में भी घुसे, तो मुझे कौन बचावेगा ?"

कालीशङ्कर—"तब मैं क्या तुम्हारा नौकर हूँ, जो तुम्हारे पैरों के पास रात-दिन बैठा रहूँ ? चलो हटो ! मैं यह कुछ नहीं जानता। जो अच्छी स्त्रियाँ हैं उनका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता।"

इतना कहकर कालीशङ्कर जल्दी-से बाहर चला गया। सौदामिनी उसी स्थान पर खड़ी रोती रही। थोड़ी देर के उपरान्त उसने ठण्डी साँस ली और बाहर का द्वार बन्द करके अपनी शून्य-शय्या पर पड़ रही। उस समय उसके कोमल हृदय में किस प्रकार के विचार उठ रहे थे यह सहृदय पाठक-पाठिकायें स्वयं जान सकते हैं।

इस विश्व में कोई-कोई प्राणी ऐसे भी हैं, जिन्हें आजन्म दुःख की अग्नि में जलना होता है। वे सुख की प्राप्ति के लिए जितनी ही चेष्टा करते हैं, उतना ही वह उनसे दूर होता जाता है।

❀ ❀ ❀ ❀

तीन दिन तक कालीशङ्कर नहीं लौटा।

दूसरे दिन सौदामिनी पास ही के नल से पानी लेकर अपने घर की ओर चली ही थी कि सामने से एक युवक आता हुआ दिखाई दिया। सौदामिनी और उसकी आँखें चार हुईं। लज्जा से सौदामिनी ने तो अपनी आँखें नीची करलीं; पर, वह निर्लज्ज युवक बराबर उसकी ओर देखता रहा। इतने में ही सौदामिनी अपने द्वार पर आ पहुँची और उसी समय उस युवक ने उर्दू की श्रृङ्गारमयी कवितायें पढ़नी आरम्भ कीं। सौदामिनी अपने घर में चली गई। परन्तु उसी दिन से उसका मन और भी खिन्न रहने लगा। रात-रात-भर वह निद्राविहीन पड़ी रहती।

इधर यह गति हो गई कि वह भ्रष्ट युवक दिन और रात में दस-बीस बार उसके द्वार पर आकर उर्दू की कविताएँ पढ़ता; उसको लक्ष्य करके व्यङ्ग-वचन कहता और रात होते ही अपने पास ही के मकान से उसी को उद्देश्य करके, अश्लील गाने गाया करता। सौदामिनी सब-कुछ सहती। सहने के अतिरिक्त और उसके पास उपाय ही क्या था? पर, उसी दिन से, उसी घटना के समय से, उसे अपने पति के प्रति घोर घृणा होगई। एक दिन वह जिसकी पूजा करने के लिये आकुल हो उठी थी, जिसकी प्रसन्नता और प्रेम को प्राप्त करने के लिये उसने समस्त मानव-साध्य प्रयत्न किये थे, और मूक भाव से जिस हृदय-हीन के प्रहार और अत्याचार सहन करके भी जिसकी मानसिक प्रतिमा की आराधना की थी, आज उसी पति के प्रति उसे ऐसी घृणा उत्पन्न हो-गई, कि मानो वह एक भ्रष्ट अपदार्थ हो। उसकी सारी श्रद्धा विलीन हो-गई, और उसका हृदय कालीशङ्कर के प्रति रोष और जुगुप्सा से परिपूर्ण होगया। उसने मन-ही-मन कहा—जो पुरुष अपनी स्त्री को छोड़कर इस प्रकार दुर्व्यसनों में निमग्न हो, जिसने असहाय भार्य्या को ऐसे भ्रष्ट एवं निकृष्ट स्थान में लाकर रख दिया हो, और आप निश्चिन्त होकर, आनन्द से भ्रष्ट स्त्रियों के साथ विहार करता फिरता हो, उस पुरुष की आराधना करना, उसके प्रति श्रद्धा रखना, एवं उसे अपने प्रेम का पवित्र पात्र मानना पाप है। ऐसे भ्रष्ट अपदार्थ को सौदामिनी अपना हृदयेश बनाकर उसकी पूजा नहीं कर सकती। सौदामिनी पति के प्रति तीव्र आक्रोश को हृदय में धारण करके किसी-न-किसी भाँति जीवन व्यतीत करने लगी।

मानव-प्रकृति, शास्त्रों के शुष्क उपदेशों से विशेष बलवती है। इस-

लिये जब प्रवृत्ति और आर्ष वाक्यों में परस्पर विद्रोह उत्पन्न होजाता है, तब सदा ही विजय होती है, प्रवृत्ति की। विश्व का वर्तमान तथा अतीत इतिहास इस बात का साक्षी है।

३

इस प्रकार लगभग तीन वर्ष व्यतीत होगये। इन्हीं तीनों वर्षों में सौदामिनी एक निर्बल पुत्र की जननी भी होगई। पिता ने व्यभिचार और वारुणी की बलिवेदी पर अपने परम दुर्लभ स्वास्थ्य का बलिदान कर दिया था, उसका परिणाम भोगना पड़ा उस निर्बल, निर्बोध शिशु को! थोड़ी-सी ठण्ड से, थोड़ी-सी असावधानी से सौदामिनी का हृदय-लाल बीमार पड़ जाता। परन्तु सौदामिनी माता की समस्त ममता से उसकी परिचर्य्या करती; अब वही उसके जीवन का लक्ष्य होगया था, और सौदामिनी अपने हृदयहीन पति के उस पुत्र को ही लेकर अपने असार एवं संतप्त जीवन को सान्त्वना देती थी। वह रात-दिन अपने उसी कङ्काल-शेष निर्बल शिशु को लिये हुए बैठी रहती। एक तो जन्म का निर्बल, तिस पर घोर दारिद्र्य ने उसे अपने अत्याचार-यन्त्र में और भी पीस डालने का यत्न किया। जो सौदामिनी हृष्ट-पुष्ट शरीर लेकर काली-शङ्कर के आश्रम में आई थी, वही सौदामिनी आज अस्थि पञ्जर-मात्र लेकर अपने प्यारे पुत्र की परिचर्य्या में प्रवृत्त रहती है। इसीलिये दुर्बल सौदामिनी के चर्म-शेष स्तनों में उस पवित्र दूध की कलकलमयी धारा प्रवाहित नहीं होती थी, जिसे पान करके विश्व के समस्त बालक बलिष्ठ और परिपुष्ट होते हैं। जो कुछ दो-चार बूँद दूध निकलता भी था, उससे उस क्षुधातुर बालक की बुभुक्षा शान्त नहीं होती थी। सौदामिनी के

पास स्वयं इतना पैसा नहीं था, जो वह उसके लिये गाय का प्रबन्ध करती, और उस हृदयहीन पिता का इस ओर कण मात्र ध्यान नहीं था। पुत्र मरता था जीता, पत्नी क्षुधुचिता है, अथवा तृषित—इन सब बातों की ओर दुर्व्यसनी कालीशङ्कर को ध्यान देने का अवकाश नहीं था। वह आता; लड़ता; सौदामिनी को मारता, और चला जाता। यदि कभी वह कुछ अन्नादिक ले आता, तो उसी से काम चलता, और नहीं तो सौदामिनी को सौभाग्यवती होते हुए भी नित्य एकादशी का निराहार व्रत पालन करना पड़ता था। उधर उसका जीवन-सर्वस्व उसका एक-मात्र आधार, उचित भोजन के अभाव में धीरे-धीरे मृत्यु-देवी की ओर अग्रसर होता जाता था, और सौदामिनी असहाया, अबला, अभागिनी सौदामिनी—रो-रोकर अपने दिन और रात कष्ट और क्लेश के साथ व्यतीत करती थी !!

इधर वह भ्रष्ट युवक नित्य सौदामिनी के द्वार पर दस-पाँच बार आकर अश्लील कविताओं का गान करता था; मानो सौदामिनी को अपनी अङ्कशायिनी बनाने का उसने पापमय प्रण कर लिया था। नित्य-प्रति वह आता, गाता और अश्लील व्यङ्ग करता। यद्यपि प्रथम-दर्शन के उपरान्त कई बार सौदामिनी और उसका साक्षात् हुआ था; पर सौदामिनी की तेजस्विता, उसके विशाल लोचनों में लीला करनेवाली रोष-रक्तिमा और उसके अधर-देश पर नृत्य करनेवाली घृणा को देखकर उसके सामने कुछ कहने का साहस नहीं होता था। अपरोक्ष रूप से उसने उसे धन और आभूषणों का प्रलोभन दिया; पर, सौदामिनी ने उसकी प्रार्थना को तिरस्कार की दृष्टि से देखा, सदा उसके प्रति क्रोध-ही प्रदर्शित किया।

भूख और प्यास के प्रहार उसने सहे। अभाव और अत्याचार के आघातों को सहन किया। पर, उसने उस भ्रष्ट युवक की ओर एक बार भी सद्-भाव से नहीं देखा। जब-जब वह उसके दृष्टि-पथ पर आया, तब-तब उसने उसकी ओर उसी कराल, क्रूर दृष्टि से देखा, जिसके कारण उस युवक का आगे बढ़ने तक का साहस नहीं हुआ।

सन्ध्या की शोभा रात्रि के क्रमशः प्रगाढ़ होते हुए, अन्धकार में विलीन हो गई है। विशाल गगन-मण्डल में धीरे-धीरे तारकाओं का उदय होने लगा है, और दिवस का विकल कोलाहल, रात्रि की नीरव शान्ति में धीरे-धीरे विलुप्त होता जा रहा है। दिन-भर के तीव्र ज्वर के उपरान्त अभी थोड़ी देर हुई, सौदामिनी का पुत्र निद्रा-देवी की गोद में विश्राम करने लगा था। उसे शैय्या पर छोड़कर सौदामिनी दीपक जलाने के लिये उसके कक्ष से बाहर आई। एक दीपक जलाकर उसने रोगी-शिशु के कमरे में रख दिया, और दूसरा लेकर वह आँगन में रखने जा रही थी—उसी समय मद से उन्मत्त कालीशङ्कर ने घर में प्रवेश किया। सौदामिनी के लिये यह नया दृश्य नहीं था; एक नहीं, अनेक बार उसके मदोन्मत्त क्रोध की अग्नि को वह सहन कर चुकी थी। कालीशङ्कर ने उन्मत्त भाव से कहा—"भोजन तैयार है?"

सौदामिनी ने उपेक्षा के स्वर में उत्तर दिया—"भोजन!—भोजन क्या दीवार की मिट्टी का बनाया जाता है? भोजन तो अन्न ही से बनता है—सो अन्न के नाम घर में आज दो दिन से एक दाना भी नहीं है।"

कालीशङ्कर यह सुनकर रोष से अग्नि-शर्मा बन गया। उसने कहा—

"इतना लाता हूँ, पर जब देखो, घर में अन्न नहीं है। कौन-सा तेरा यार उसे खा जाता है?"

सौदामिनी ने घृणा के साथ कहा—"यार तो जब खा जायगा, जब मेरा पेट भरा होगा। आज तुम कितने दिन के उपरान्त घर आए हो। कितना लाये थे, थोड़ा सोचो तो! और क्या, आज दो दिन से मेरे मुख में तो अन्न का एक दाना भी नहीं गया है। तुमको क्या; तुम्हें तो बाहर भोजन मिल ही जाता है, घर में कोई भूखों मरता है, या नहीं—इससे तुम्हें क्या?"

एक तो कालीशङ्कर वैसे-ही क्रोधी प्रकृति का था, उस पर उस समय वह सुरा के प्रभाव से लगभग उन्मत्त-सा हो रहा था। पत्नी की स्पष्ट बातें (और वह भी इतने निर्भीक भाव से कहीं हुईं) सुनकर वह क्रोध से अधीर होगया। तीव्र स्वर में उसने कहा—"हाँ री! देखता हूँ, अब तेरा बहुत साहस हो गया है। मैं नहीं खिलाता हूँ, तो कौन खिलाता है? ऐसा कौन-सा तेरा यार है, जो तुझे रोज़ दे जाता है?"

अब की बार सौदामिनी ने भी क्रोध के साथ कहा—"चुप रहो! इतने ज़ोर से मत बोलो! बच्चा अभी सोया है। तुम्हें यह सब कहते हुए लज्जा भी नहीं आती। जानते हो, तुम्हारा पुत्र दूध के लिये रात-दिन तड़पता है; तुम्हारी स्त्री भूख की ज्वाला से विकल रहती है, और तुम बाहर वेश्याओं के जूते चाटा करते हो। धिक्!"

इतना सुनते ही कालीशङ्कर के क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। उसने चिल्लाकर कहा—"तब क्यों नहीं अपने मामा के घर चली जाती है, हरामज़ादी! क्यों यहाँ भूख और प्यास से मर रही है?"

सौदामिनी ने भी तीव्र स्वर में कहा—"क्यों चली जाऊँ? तुम किस साहस पर चार आदमियों के सामने मुझे विवाह करके लाये थे? आज मैं ही हूँ—जो इतना दुःख, इतना क्लेश उठाकर भी तुम्हारे घर में दीपक जलाती हूँ, नहीं तो, नहीं तो........"

आगे कहते-कहते सौदामिनी का गला भर आया। क्रोध और क्षोभ से उसकी अग्निमयी आँखों से अश्रु-धारा प्रवाहित होने लगी। काली-शङ्कर ने व्यङ्ग-पूर्वक कहा—"नहीं तो, क्या? नहीं तो किसी यार के साथ निकल जाती! क्यों, यही न?"

सौदामिनी—"हाँ, यही समझ लो। तुम बाहर आनन्द से वेश्याओं के साथ विहार करते फिरो, और मैं घर में भूखी-प्यासी पड़ी रहूँ; मेरा बच्चा भूख और प्यास से तड़पता रहे। इतना अत्याचार! इतना पाप!"

कालीशङ्कर ने मुँह बनाकर कहा—"क्यों सहती हो इतना अत्याचार? क्यों नहीं किसी यार के साथ निकल जाती हो? बड़े आनन्द से रक्खेगा; बड़े प्यार से घर की मालकिन बना देगा; कब यात्रा करोगी?"

इतना कहकर कालीशङ्कर ठहाका मारकर हँस पड़ा। सौदामिनी के सारे शरीर में आग लग गई। कालीशङ्कर के परिहास में जो अविश्वास था, उसने सौदामिनी के हृदय को एक-ही आघात में टुकड़े-टुकड़े कर दिया। सौदामिनी ने एक बार आँचल से आँसू पूँछे। अपने रोषमय लोचनों को स्थिर भाव से कालीशङ्कर के मुख पर अस्थापित करके उसने तीव्र स्वर में कहा—"ओफ़्! मैं नहीं जानती थी, कि तुम इतने निर्लज्ज हो, इतने भयङ्कर पिशाच हो! तुम क्या जानते हो मूर्ख मनुष्य! मैंने

तुम्हारे-जैसे अपदार्थों के लिये कितने प्रलोभनों को लात मार दी है? पर नहीं, मेरी भूल थी—तुम मेरी श्रद्धा-भक्ति के एकान्त अयोग्य हो! तुम—तुम, जो अपनी स्त्री को अकेले गुण्डों और बदमाशों के बीच में निःसहाय छोड़ देते हो; तुम, जो अपनी स्त्री और बच्चे का भरण-पोषण भी नहीं कर सकते; तुम, जो अपनी परिणीता-भार्या के नाम पर कलङ्क लगाते रत्ती-भर भी लज्जा बोध नहीं करते! तुम, तुम क्या मेरी भक्ति के पात्र हो सकते हो? नहीं, मैंने बड़ी मूर्खता की, जो अब तक इतना सहा! अत्याचारी पुरुष! अब मैं स्पष्ट कहे देती हूँ, कि अब मैं उसी पथ की पथिक बनूँगी, जिसकी ओर तुमने सङ्केत किया है। अपने पेट की ज्वाला के लिये नहीं; अपनी लज्जा-निवारण करने के लिये नहीं; किन्तु अपने इस मरते हुए पुत्र की रक्षा के लिये मैं पाप भी करूँगी, आकण्ठ व्यभिचार में भी निमग्न हो जाऊँगी, और आवश्यकता होने पर वेश्या बनकर कोठों पर बैठूँगी—जहाँ तुम नित्य जाकर अपने इस कलुषित शरीर को और भी परिभ्रष्ट करते हो।"

इतना सुनते ही कालीशङ्कर क्रोध से अधीर हो उठा, और सामने ही पड़े हुए डण्डे को उठाकर सौदामिनी को मारने चला। आज सौदामिनी की क्रोधमयी प्रवृत्ति भी अपनी सीमा को अतिक्रान्त कर चुकी थी, इसलिये आज वह भी विकराल स्वर में चिल्ला उठी—"सावधान! एक भी पैर आगे मत बढ़ाना।" और इतना कहकर उसने पास ही पड़ी छुरी को हाथ में ले लिया। दृढ़ मुष्टि से उसे हाथ में पकड़कर उसने कहा—"बस, बहुत हो चुका! अब यदि तुमने आगे पैर बढ़ाया, तो आज इसी स्थल पर रक्त-धारा बह चलेगी।"

सौदामिनी का ऐसा विकराल वेष देखकर कालीशङ्कर का हृदय काँप उठा। वह अपने स्थान पर जड़वत् खड़ा रहा। थोड़ी देर के लिये उसका सारा मद दूर होगया, और उसने अच्छी तरह से जान लिया, कि उसके अशेष अत्याचारों से व्यथित होकर आज सौदामिनी ने प्रचण्ड वेष धारण किया है। उसे आगे बढ़ने का साहस नहीं हुआ। सौदामिनी भी उसी तीव्र दृष्टि से उसकी ओर देखती रही। उसी समय सौदामिनी का बच्चा रो उठा—सौदामिनी शीघ्रता से उधर चली गई।

कालीशङ्कर पत्नी के द्वारा अपमानित और लाञ्छित होकर कुछ देर तक वहीं खड़ा रहा। पर, थोड़ी ही देर में उसके अधर पर उन्मत्त हास्य का आविर्भाव हुआ। वह शीघ्रता से बाहर चला गया, और बाहर जाकर उसने द्वार बन्द करके उसमें ताला लगा दिया। अपनी इस शैतानी कृति पर अट्टहास करता हुआ कालीशङ्कर चला गया। सौदामिनी आज बन्दिनी होगई !!

अतिशय अत्याचार दुर्बल के हृदय में भी एक ऐसी विकराल ज्वाला उत्पन्न कर देता है, जिसको विमल शान्ति की शीतल धारा भी प्रशमित नहीं कर सकती। वह तो तृप्त शोणित से ही शान्त होती है।

४

जिस दिन सौदामिनी और उस भ्रष्ट युवक का साक्षात् हुआ था, उसी दिन से सौदामिनी प्रभात के समय जल लेने न जाकर गम्भीर रात्रि के अन्धकार में जल ले आती थी। इसमें सन्देह नहीं, कि रात्रि के नीरस अन्धकार में भय की अधिक सम्भावना थी। परन्तु सौदामिनी उसके लिये सदा प्रस्तुत रहती थी। सौदामिनी की कंचुकी में सदा तीव्र

छुरी छिपी रहती थी, और वह उसी पर भरोसा करके दामिनी की तिमिर-राशि में धीरे-धीरे निःशब्द गति से, नल के पास जाती और दो घड़ा पानी लेकर घर को चली आती। आज भी नित्य की भाँति, जब आधी रात व्यतीत होगई और समस्त संसार नीरव शान्ति की गोद में विश्राम करने लगा, तब ज्वर के सन्ताप से मूर्च्छित शिशु को शून्य कक्ष में छोड़-कर सौदामिनी पानी भरने के लिये चली। पर, द्वार पर आते ही उसका हृदय कम्पित हो उठा। उसने देखा—द्वार बाहर से बन्द है, और उस द्वार की खुली हुई रेखा से उसने देखा, कि द्वार में बाहर से ताला भी लटक रहा है। हृदयहीन पति की सारी निठुर कार्यवाही उसकी कल्पना के सामने जगमगा उठी, और उसका हृदय एक विकराल भय से उद्विग्न और आकुल हो उठा। घर में एक बूँद पानी नहीं है; जो था, उसे उसने स्वच्छ जल लाने के लिये पृथ्वी पर फेंक दिया! अब क्या होगा? किस प्रकार रात कटेगी? वह सहसा दौड़ी। उसने मन में सोचा, कि अब भी कुछ पानी पृथ्वी पर होगा, तो उसे वह आँचल से भिगोकर पात्र में भर लेगी। उसे अपनी चिन्ता नहीं थी; आज दूसरी रात्रि व्यतीत होरही है, और उसके मुख में एक अन्न का दाना भी नहीं गया है! घर में एक मुट्ठी चावल थे, उन्हें भी उसने पुत्र के लिये रख दिया था! आज दोपहर से तो केवल जल, और दो-चार बूँद उस दूध के सिवाय, जो बुभुक्षित माता के चर्म-शेष स्तनों से बहुत कुछ प्रयत्न करने पर प्राप्त हो सका था, कुछ भी उस ज्वर-सन्तप्त बालक के मुख में नहीं गया था। आज सायं-काल से ज्वर का प्रकोप और भी बढ़ गया था, और बार-बार बालक का मुख सूखा जाता था, जिसमें दो-दो बूँद जल को समय-समय पर सौदा-

मिनी डाल देती थी। हाय! अब वह भी नहीं है; क्या करें? किस प्रकार बालक रात-भर बिना पानी के रह सकेगा? सौदामिनी उन्मादिनी-सी होगई!

एक-दो बार उसने द्वार पर तीव्र आघात किया। पर उस दुर्बल बुभुक्षित नारी में इतना बल कहाँ, कि वह उसे भङ्ग करने में समर्थ होती। देर तक वह द्वार के पास खड़ी होकर खुली भिरी में से बाहर देखती रही, कि कोई निकले, तो वह उसे आवाज़ देकर द्वार खोलने की प्रार्थना करे। आज लाज और सङ्कोच कहाँ? पुत्र तृषातुर होकर मृत्यु-शय्या पर छटपटा रहा है; तब माता को लाज और सङ्कोच के लिये अवसर कहाँ है? जब बहुत देर तक कोई नहीं आया, तब उसने तीव्र स्वर में पुकारना आरम्भ किया। परन्तु किसी ने भी उस अभागिनी की ध्वनि का प्रत्युत्तर नहीं दिया। देता भी कौन? उस समय वहाँ था ही कौन? सब अपने-अपने गृहों में आनन्दपूर्वक विश्राम कर रहे थे। केवल एक अभागिनी ही अपने सन्तप्त, तृषार्त पुत्र की मृत्यु-शय्या के पास बैठकर करुण, किन्तु नीरव-रुदन कर रही थी। नीरव! हाँ नीरव, जिससे बालक की मूर्च्छा भङ्ग न होजाय। हाय! आज वह जी भरकर रो भी नहीं सकती थी!!

उस समय उसका हृदय विकल विचारों की विहार-स्थली-सा हो रहा था। बार-बार उसके मन-मन्दिर में अतुल भावों का तुमुल नाद हो उठता था, और उस तुमुल नाद के बीच में उसका मातृत्व हा-हाकार करके रो उठता था। हाय! दूध एक ओर रहा, औषध एक ओर रही, आज वह अपने एक-मात्र पुत्र के मुख में एक बूँद जल भी नहीं दे

सकती ! विधि का कैसा भयङ्कर विधान है ! मातृत्व की कैसी विकल वेदना है ! मूर्छा में पड़ा हुआ बालक बार-बार मुँह खोल-खोलकर पानी माँगता है, बोलने की—साधारण-सा 'जल'-शब्द कहने की भी—उसमें सामर्थ्य नहीं है, कभी-कभी तृषा से अत्यन्त व्याकुल होकर वह अपनी ज्वर के सन्ताप से जलती हुई कोमल आँखें खोलकर क्षण भर के लिए माता के वेदना-व्यथित मुख की ओर देखता था। उस समय सौदामिनी की जो गति होती थी, उसे किसी महाकवि की लेखनी भी चित्रित नहीं कर सकती थी। वह चित्र का विषय है ही नहीं; वह तो हृदय की उस वेदना की पराकाष्ठा है, जो एक बार परम शान्तिमय योगीश्वर को भी उन्मत्त बना देती है। सौदामिनी बार-बार घर की छत पर जाकर दूर दूर तक दृष्टि डालती। पर, उस शून्य अन्धकार में उसे कोई आता हुआ दिखाई नहीं पड़ता। सौदामिनी उन्मादिनी की भाँति कभी छत पर, कभी द्वार पर, और कभी सन्तप्त पुत्र की रोग-शय्या के पार्श्व-देश में जाकर खड़ी हो जाती। उसकी आँखों से जो अजस्र अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी, वह भी धीरे-धीरे बन्द हो गई। उसके विशाल कमल-लोचनों में अब उन्माद का स्पष्ट लक्षण प्रतिलक्षित होने लगा, और उसे अब अपनी सुध-बुध भी जाती रही। समय तो अपनी गति से चला ही जा रहा था; परन्तु सौदामिनी को वह यामिनी, प्रलय की कभी समाप्त न होनेवाली काल-रात्रि के समान प्रतीत हो रही थी। उधर तृषा के कारण बालक की भी बुरी गति थी। धीरे-धीरे मृत्यु की कालिमा उसके मुख को आवृत्त कर रही थी; उसी समय एक ओर से घड़ी ने चार बजने की सूचना दी। सौदामिनी एक बार दौड़कर फिर छत पर गई और मानों उस अन्धकार को

भेदकर वह अपनी दृष्टि दूर तक—स्वर्ग और पृथ्वी के मिलन छोर तक, पहुँचाने का प्रयत्न करने लगी। अब की बार उसका प्रयत्न सफल हुआ और उसने द्वार पर एक व्यक्ति को आते देखा। सौदामिनी उत्कण्ठित हृदय से उस व्यक्ति के निकट आगमन की प्रतीक्षा करने लगी। उसी समय उसे वही चिर-परिचित गान की ध्वनि सुनाई दी। वही गान, वही कविता, जो वह भ्रष्ट युवक नित्य उसके द्वार-देश पर समय-कुसमय गाया करता था। इस समय भी उस गान का वही विषय था; इस समय भी उस गान के द्वारा उससे प्रणय की प्रार्थना की जा रही थी, इस समय भी उस संगीत में उससे पर्य्यंङ्क-शायिनी बनने की विनय की जा रही थी। नित्य जिस गान को सुनकर उसके समस्त शरीर में अग्नि लग जाती थी, नित्य जिस कविता के प्रथम स्वर के साथ उसके हृदय में तीव्र क्रोध का प्रादुर्भाव होता था और नित्य जिस अश्लील व्यङ्ग-संगीत को सुनकर उसका मन-मन्दिर घृणा से ओत-प्रोत होजाता था, आज वही संगीत उसे अमृत की धार के समान प्रतीत हुआ, आज वही स्वर उसे कृष्ण की बाँसुरी के मधुर राग के समान मीठा लगा; और आज वही अश्लील शृङ्गारमयी पदावली उसे वाञ्छित पदार्थ की प्राप्ति के समान सुखमयी मालूम हुई। युवक इतने में कुछ निकट आ गया था। ऊपर से आकुल स्वर में सौदामिनी ने पुकारा—"पूरनमल! पूरनमल!!"

पूरनमल चकित दृष्टि से ऊपर की ओर देखने लगा। यद्यपि इस समय इतना प्रकाश नहीं था कि वह सौदामिनी के मुख को भली-भाँति देख सकता, परन्तु कई बार पति-पत्नि के कलह-संग्राम के समय उसने सौदामिनी के कण्ठ-स्वर को सुना था; अतएव उसे पहिचानने में उसे

विशेष समय नहीं लगा । परन्तु वह उसके लिए आश्चर्य्य का विषय था । जिस सौदामिनी ने उसकी प्रणय-याचना को सदा तिरस्कारमयी दृष्टि से देखा, जिस सुन्दरी ने उसकी आकुल दृष्टि की ओर से सदा घृणा-पूर्वक मुख फिरा लिया और जिस रमणी ने उसके अश्लील रागों को सुनकर भी उसकी ओर भूलकर एक कटाक्ष नहीं किया, आज वही रमणी ब्राह्म-मुहूर्त के क्षीण प्रकाश में, अपनी छत पर खड़ी उसे इतने आकुलता से बुला रही है—यह उसके लिए एक परम विस्मय-सा प्रतीत हुआ । एक वार उसे यह स्वप्न के समान विदित हुआ; एक बार वह विस्मय-विमुग्ध होकर ऊपर की ओर वाणी-विहीन होकर उसे देखने लगा । उसी समय सौदामिनी ने आकुल भाव से कहा—"क्या देखते हो ? बाहर ताला पड़ा है, उसे तोड़ डालो । सच मानो, आज जो-कुछ तुम कहोगे, सो-ही मैं करूँगी । देर मत करो । जल्दी करो, मेरा विश्वास करो । पूरन, मैं तुम्हारी इच्छा के अनुसार ही काम करूँगी ।"

पूरन को विश्वास हो गया कि वह सब स्वप्न नहीं, स्थूल सत्य है । पूरनमल को ताला तोड़ने में विशेष समय नहीं लगा, बड़ी शीघ्रता से उसे तोड़कर वह भीतर आया । अन्दर आते ही सौदामिनी ने उसका हाथ पकड़कर कहा—"पूरन ! पीछे कुछ और कहूँगी । पहिले पानी ले आओ !" यह कहकर उसने एक पात्र पूरन के हाथ में दे दिया और आप द्वार पर खड़ी होकर उसके आने की प्रतीक्षा करने लगी । दो ही मिनट के अन्दर वह पानी ले आया—जैसे कोई उन्मत्त किसी के हाथ से कोई पदार्थ छीनता है, उसी प्रकार पूरन के हाथ से पात्र छीनकर सौदामिनी उसी कोठरी की ओर दौड़ी, जहाँ पर उसका मृतप्राय पुत्र धीरे-धीरे मृत्यु

की कन्दरा में पतित हो रहा था। पूरन ने भी धीरे-धीरे उस कोठरी में प्रवेश किया। पानी पाकर बालक के मुख पर एक प्रकार की शान्ति-सी विराज गई। उसी समय सौदामिनी ने पूरन की ओर देखा, उसने कहा— "पूरन, मैं सब कुछ करने को उद्यत हूँ। इस बच्चे को बचाओ! मैं आजन्म तुम्हारी दासी बनकर रहूँगी। तुम्हारे चरणों में अपना मस्तक, यौवन, अपना समस्त सौन्दर्य और अपना समस्त पातिव्रत्य अर्पण कर दूँगी।" यह कह कर सौदामिनी ने आकुल भाव से पूरन की ओर देखा।

यद्यपि पूरन का चरित्र एकान्त-भ्रष्ट था; पर, फिर भी उसका हृदय आकुल था। सङ्ग-दोष से उसका आचरण पतित हो गया था; परन्तु फिर भी उसके हृदय के एक निभृत कोण में भगवान् की पुण्य-मूर्ति कभी-कभी नृत्य कर उठती थी। उसने शीघ्र ही परिस्थिति के रहस्य को जान लिया। उसने जान लिया, कि आज जो सौदामिनी अपने पवित्र पातिव्रत्य को परित्याग करके उसकी पर्य्यङ्क-शायिनी बनने को प्रस्तुत है, उसका कारण वह व्यभिचारशील लालसा नहीं है, जो पर-पुरुष के चुम्बन और आलिङ्गन से, केलि और आमोद मे परिपुष्ट होती है वरन्, वास्तव में उसका कारण है, वह विकल उन्मत्त मातृत्व, जो अपने हृदय के एक-मात्र आधार को मृत्यु के मुख से बचाने के लिए आज अपने अमूल्य पातिव्रत्य-रत्न को भी विसर्जन कर देने के लिये उद्यत है। उन्मत्त मातृत्व की इस पुनीत महिमा को देखकर पूरन का हृदय श्रद्धा से ओत-प्रोत हो गया। उसने एक बार आँखें उठाकर सौदामिनी की उस उन्मादिनी मुख-श्री को देखा। उसने देखा, कि उस गम्भीर व्यथा और प्रबल उन्माद की सङ्गम-भूमि पर मातृत्व अपनी महा महिमा के साथ

विराजमान है। उसने देखा, कि उसके सामने ममतामयी माता की उन्मादिनी मूर्त्ति खड़ी है। उसने देखा कि, सर्वस्व-त्यागिनी जननी की वेदना-व्यथित प्रतिभा उसके सामने खड़ी होकर उससे अपने पुत्र की जीवन-रक्षा की याचना कर रही है। पूरन का हृदय भक्ति और श्रद्धा से ओत-प्रोत हो गया; उसके भावों में एक बार ही परिवर्तन हो गया। आज तीन वर्ष से जो चरित्रहीन, भ्रष्ट-कामुक युवक, जिस सुन्दरी के रूप-यौवन को अपनी काम-प्रवृत्ति की अग्नि-शान्ति का साधन बनाना चाहता था, वही युवक उसी सुन्दरी में मातृत्व की महिमामयी शोभा का विलास देखकर, भक्ति और श्रद्धा से उसकी ओर ताकने लगा। व्यभिचार का भाव उस पुण्य मातृत्व की उन्मत्त धारा में विलीन हो गया। पूरन ने उसके चरणों में घुटने टेककर गद्गद् कण्ठ से कहा—"क्षमा करो, मैंने वास्तव में बड़ी भूल की थी। मैंने आज तक अपने मनो-मन्दिर में कैसे भयङ्कर पाप का परिपालन किया था!!"

सौदामिनी ने विकृत स्वर में कहा—"नहीं, नहीं, पूरन! इस अभिनय की आवश्यकता नहीं है। मैं सच कहती हूँ, अब इस शरीर पर तुम्हारा अधिकार है। जो इच्छा हो, सो करना। चुम्बन करना, आलिङ्गन करना और अपने हृदय की साध पूरी करना। पर; बचाओ, मेरे इस मरते हुए बच्चे को बचाओ! विश्वेश्वर साक्षी हैं; मैं तुम्हारी दासी बनकर जीवन व्यतीत करूँगी।"

पूरन ने आँखों में आँसू भरकर कहा—"ऐसा न कहो मेरी माता। तुम्हारे इन शब्दों को सुनने ही से मेरा हृदय फटा जाता है। माँ! तुम्हारा एक पुत्र इस रोग-शय्या पर पड़ा है, और एक तुम्हारे सामने

उपस्थित है। अब कुवचन मुख से मत निकालना, नहीं तो पृथ्वी एक भयङ्कर भूकम्प से उथल-पुथल हो जाएगी, और पुण्य सदा के लिए नष्ट हो जायँगे। अच्छा, डॉक्टर को बुलाने जाता हूँ।"

पूरन ने जल्दी से सौदामिनी के पैर छुए, और वह कमरे से बाहर हो गया। उस समय प्राची दिशा से सूर्य्यदेव की प्रथम किरण उतरकर आँगन में रक्खे, पात्र पर क्रीड़ा कर रही थी।

माता की ममतामयी मूर्ति की मुख श्री पर लीला करनेवाली पुण्य-ज्योति पाप के गम्भीर तिमिर को क्षण-भर में विनष्ट कर देती है।

५

पूरन के चले जाने के उपरान्त सौदामिनी का उन्मत्त भाव कुछ शान्त हुआ। परन्तु, गत घटना पर स्वस्थ-चित्त होकर विचार करने की शक्ति अभी तक उसे प्राप्त नहीं हुई थी। वह ज्वर-मूर्च्छित शिशु की शय्या के पार्श्व-देश में बैठी-बैठी एकटक उसकी ओर देख रही थी। बालक तीव्र ज्वर के सन्ताप से व्याकुल था। वह जल्दी-जल्दी साँस ले रहा था, और बार-बार जल के लिए मुख फैला-फैला देता था। सौदामिनी उसके मुख में दो-दो बूँद जल देती जाती थी। जल पीकर कुछ क्षण के लिए बालक शान्त हो जाता था।

पूरन गाय का ताज़ा दूध तथा डॉक्टर को साथ लेकर लगभग दो घण्टे के उपरान्त लौटा। डॉक्टर ने बड़े ध्यान से बच्चे को देखा। यद्यपि उन्होंने स्पष्ट रूप से तो कुछ नहीं कहा; पर उनके भाव और आकृति से यही प्रतीत होता था, कि रोग साधारण नहीं है। पूरन ने एक बार कहा भी—"डॉक्टर साहब, औषध के मूल्य-आदि की चिन्ता न कीजिएगा।"

किसी भी प्रकार मेरे इस भाई को बचाइये। मैं और मेरी माँ आजन्म आपके ऋणी रहेंगे।" डॉक्टर ने कहा—"पूरन बाबू, मनुष्य की जहाँ तक शक्ति है, वहाँ तक मैं चेष्टा करूँगा। पर, आप व्याकुल न हों, भगवान् रक्षा करेंगे, वे करुणामय हैं।"

डॉक्टर के अन्तिम वाक्यों ने सौदामिनी को कुछ-कुछ ढाढ़स बँधाया। डॉक्टर ने औषध का निर्णय किया। पूरन औषध लाया, और दिन-भर बिना खाए-पिए रोगी शिशु की शय्या के पास बैठकर वह उसकी परिचर्या करता रहा। यथा-समय उसे औषध देता, समय-समय पर आयली-मिश्रित दूध का एकाध चम्मच उसे पिलाता। इस दिन-भर की अजस्र सेवा के उपरान्त लगभग ५ बजे के समय रोगी की दशा में कुछ-कुछ परिवर्तन प्रतीत हुआ। रोगी ने एकाध बार आँखें भी खोलीं, ज्वर का भी प्रकोप कुछ कम हुआ। उसी समय सौदामिनी ने कहा—"पूरन, आज तुमने मेरे साथ जो उपकार किया है, उससे मैं जन्म-जन्मान्तर में उऋण नहीं हो सकती। तुमने माता का धन उसे लौटा दिया है।"

पूरन—"माँ, सब जगदीश्वरी की कृपा का फल है। तुच्छ मनुष्य का क्या साध्य है? सच पूछो तो आज तुमने मेरे जीवन में एक युगान्तर-परिवर्तन कर दिया है। आशीर्वाद दो माँ! मेरी बुद्धि ऐसी ही निर्मल बनी रहे, मेरा हृदय इसी भाँति व्यथित के लिए रोता रहे।"

सौदामिनी—"अन्तर से आशीर्वाद देती हूँ, कि तुम इसी प्रकार परोपकार में रत रहो। अच्छा, अब जाओ! कुछ भोजन इत्यादि कर आओ।"

पूरन—"और तुम, माँ!"

सौदामिनी—"मैं आज भोजन नहीं करूँगी। आज तीसरा दिन भी

मैं निराहार ही व्यतीत करूँगी ! जब तक मेरा बच्चा मृत्यु के भय से रहित नहीं होगा, तब तक मैं एक दाना भी नहीं खाऊँगी । यह मेरी प्रतिज्ञा है ।"

पूरन—"पर, ऐसे कैसे काम चलेगा ? तुम भी पड़ जाओगी ।"

सौदामिनी हँसकर कहा—"नहीं । हम स्त्री हैं; हम बहुत कुछ सह सकती हैं, पूरन ! तुम चिन्ता मत करो । मेरा विश्वास है, कि कल तक मेरा बच्चा या तो भय रहित हो जायगा, या.........।"

पूरन की आँखों में आँसू भर आये ! और कुछ कहना व्यर्थ समझकर पूरन भोजन करने के लिए चला गया । चलते समय वह एक घण्टे में लौटने को कह गया ।

पर पूरन ने इधर पीठ फेरी, इधर बच्चे की तबियत विशेष रूप से बिगड़ने लगी । अभी घड़ी-भर पहले ज्वर का सन्ताप कम हो गया था, ठहरा हुआ था । पर, अब तो बालक को तीव्र वेग से पसीना आने लगा और ज्वर धीरे-धीरे मृत्यु की शीतलता में परिणत होने लगा । अब तो सौदामिनी अत्यन्त विकल हो उठी । देखते-देखते आध घण्टे के भीतर ही रात्रि के अन्धकार में विलीन होती हुई सान्ध्य-श्री के साथ, उस शिशु का प्राणवायु भी शून्य वायु-मण्डल में विलीन हो गया !

उन्मत्त भाव से सौदामिनी हाहाकार करने लगी । उसके करुण मर्म-भेदी विलाप से सारा घर मुखरित हो उठा । लगभग पौन घण्टे के उपरान्त ज्योंही पूरन ने प्रवेश किया, त्योंही सौदामिनी की विलाप-ध्वनि उसके कानों में पड़ी । कारण जानने में उसे अधिक समय नहीं लगा । उस समय धीरे धीरे सन्ध्या का अन्धकार अगाढ़ हो रहा था और उस

अन्धकारमय कक्ष में मृतशिशु को छाती से लगाये हुए सौदामिनी विलाप कर रही थी। आते ही पूरन ने दीपक जलाया और उसके क्षीण प्रकाश में उसने जो करुण, मर्म-भेदी दृश्य देखा, उससे उसका हृदय अत्यन्त विक्षुब्ध और कातर हो उठा। उसने देखा कि सौदामिनी के बाल खुले हुए हैं और धूल से धूसर हो रहे हैं; उसका वस्त्र हट गया है और उसके अङ्ग इस समय अनावृत-प्राय हो रहे हैं। पर, इस ओर उसका ध्यान नहीं है। वह तो बार-बार उस शिशु शव को हृदय से लगाकर हाहाकार कर रही है। पूरन ने रुँधे हुए कण्ठ से पुकारा—"माँ!"

सौदामिनी ने उसकी ओर देखा। रोते हुए कहने लगी—"चला गया, रूठकर चला गया! हाय, मेरा बच्चा! पूरन, इसी बच्चे के लिए मैं सब-कुछ परित्याग करने को तैयार थी। इसके लिए मैं स्त्री का गौरव, पत्नी का पतिव्रत, सब कुछ विसर्जन करने को प्रस्तुत थी। पर, हाय रूठकर चला गया! क्यों न रूठकर चला जाता! दूध देना तो एक ओर, माँ होकर भी मैं रात-भर इसके सूखते हुए मुख में एक बूँद जल भी नहीं दे सकी! मेरा बच्चा मुझसे अभिमान करके, मुझे छोड़कर चला गया। ओफ़्!"

सौदामिनी हाहाकार कर उठी। पूरन भी रोने लगा। उसी समय द्वार-देश पर, मद से उन्मत्त कालीशङ्कर उपस्थित हुआ। उसे देखते ही सौदामिनी तीव्र स्वर में चिल्ला उठी—"इसी हृदय-हीन शैतान के कारण मेरा बच्चा मुझसे रूठकर चला गया। हाय! यदि यह पापी, पिशाच रात को मुझे बन्द न कर जाता तो मेरा बच्चा इस प्रकार प्यास से विकल होकर न मरता। अब क्या चाहते हो निष्ठुर शैतान? अब क्या इस

बच्चे के शव को भी भक्षण करोगे ? सो नहीं होगा ! मैं नहीं दूँगी ! मेरे जीते-जी कौन मेरे बच्चे को खा सकता है ? नहीं दूँगी ! नहीं दूँगी !! नहीं दूँगी !!!"

सौदामिनी फिर उन्माद के प्रभाव से प्रलाप करने लगी। उसने शिशु के शव को बड़े ज़ोर से अपने हृदय से लगा लिया। बार-बार "नहीं दूँगी ! नहीं दूँगी !" कहकर वह अपने विकराल भाव से कालीशङ्कर की ओर देखने लगी। कालीशङ्कर विस्मय-विमुग्ध होकर द्वार-देश पर खड़ा था। एक तो सुरा का तीव्र मद, उस पर दृश्य की विकराल विचित्रता। कालीशङ्कर जड़-भाव से सौदामिनी की ओर देखता रहा। सौदामिनी उसी समय सहसा अपनी कञ्चुकी में छिपी हुई छुरी निकालकर चिल्ला उठी—"हट जाओ शैतान रास्ते में से ! नहीं तो अभी यह छुरी हृदय में घुसेड़ दूँगी ! मैं जाऊँगी—मैं अपने लाल को लेकर जाऊँगी ! तुझे नहीं दूँगी ! नहीं दूँगी ! नहीं दूँगी !"

इतना कहकर सौदामिनी एक हाथ से छुरी घुमाती हुई और दूसरे से मृतशिशु का शव हृदय से लगाये हुए आगे बढ़ी। कालीशङ्कर भय से एक ओर हट गया। पूरन भी आश्चर्य-चकित होकर सौदामिनी के उस उन्मत्त वेष और व्यवहार को देखता रहा। सौदामिनी आँगन में आगई—"नहीं दूँगी ! नहीं दूँगी ! नहीं दूँगी !!" कहती हुई वह वेग से बाहर चली गई। पूरन और कालीशङ्कर दोनों आश्चर्य-चकित होकर क्रिया-हीन होकर, देखते रहे। सौदामिनी रात्रि के अन्धकार में उसी प्रकार विलीन होगई, जिस प्रकार उसकी उन्मत्त ध्वनि—"नहीं दूँगी ! नहीं

दूँगी ! नहीं दूँगी !" शून्य आकाश में विलुप्त होगई थी; सौदामिनी अन्तर्हित हो गई।

उस समय अन्धकार अगाढ़ हो गया था, और कृष्ण गगन-मण्डल के चारों ओर किसी उन्मत्त वियोगिनी के हारावली के टूटे हुए मोतियों के समान, नक्षत्र-राशि बिखरी हुई थी। संसार निद्रा के कृष्ण चीर से आवृत्त हो रहा था।

दो-तीन मिनट के उपरान्त पूरन को कुछ चेत हुआ। वह भी 'माँ! माँ!' कहता हुआ सहसा प्रधावित हुआ। कालीशङ्कर उस शून्य कोठरी में सिर पकड़कर बैठ गया।

पूरन ने उस काली यामिनी में बहुत ढूँढ़ा। परन्तु, सौदामिनी मेघ-मण्डल में सौदामिनी की भाँति अन्तर्हित हो गई। उस अन्धकारमयी यामिनी ने मानों उसे तिमिरावृत कक्ष में छिपा लिया!!

मातृत्व के उन्मत्त हाहाकार में जिस व्यथित सङ्गीत की धारा उच्छ्-वसित होती है, उसे सुनकर कवि की लेखनी करुणामयी कविता अंकित करने लगती है, दार्शनिक का हृदय संसार की वेदना का प्रत्यक्ष अनु-भव करने लगता है और विश्वप्रेमी अपनी समस्त साधना को विश्व-व्यापी दुःख के निवारण के लिये उत्सर्ग कर देता है।

दूसरे दिन प्रभात-श्री के प्रकाश में स्वच्छ-सलिला गोमती के तरङ्ग-मय वक्षस्थल पर प्रवाहित होते हुए सौदामिनी के शव को और उस पर लेटे हुए शिशु के मृत-शरीर को देखकर पूरन की आँखें अश्रुमयी एवं हृदय आकुल हो उठा। मातृत्व के उस उज्ज्वल प्राणोत्सर्ग का दर्शन करके

पूरण, भक्ति और श्रद्धा से विभोर हो गया; और उसने उस प्रवाहित पुण्य-शव को उद्देश्य करके निर्मल दुकूल पर प्रणिपात किया ।

उस समय सौदामिनी के सुन्दर मुख को प्रभात-सूर्य्य की रजत-राशि किरणें चुम्बन कर रही थीं !!

पं० गोविन्दवल्लभ पन्त

जन्मकाल　　रचनाकाल
१८९९ ई०　　१९१९ ई०

जूठा आम

१

माया केवल हँस देती थी। मेरे प्रश्नों का मुझे सदा यही उत्तर मिलता था।

जब वह मेरे सामने से चली जाती थी, तो मैं उसके हास्य में अपने अर्थ को टटोलता था। भ्रान्त भिखारी भी उस दिन में—जो उसके लिये रात के समान है—क्या इसी तरह अपना पथ खोजता होगा?

मैं एक भग्न कुटीर में रहता था, सामने ही उसकी सुविशाल अट्टालिका थी। उस प्रासाद की सर्वोच्च मंज़िल के बरामदे में चिकें पड़ी हुईं थीं। शायद माया अपने दोनों हाथों से कभी-कभी एकाध तीलियाँ तोड़ लिया करती थी। चिक का एक कोना खुल गया था। उसी कोने से, उसी की लापरवाही से एक दिन मैंने उसे देख लिया। वह एक दिन

वहाँ पर फिर आई, मैंने फिर देखा। मैं उसे पहचान गया, वह मुझे पहचान गई।

इसके बाद वह वहाँ पर नित्य कुछ देर के लिये आती थी। मैं बड़ी देर तक प्रतीक्षा करता था, प्रतीक्षा कभी विफल न गई।

मैंने जितनी मर्तबा उसके स्वर्गीय रूप के दर्शन किये, उतनी मर्तबा उसमें कुछ-न-कुछ नवीनता अवश्य पाई। उसका विश्वविमोहन हास्य मुझे अपने नाम की तरह ख़ूब अच्छी तरह याद है, किन्तु मुझे याद क्या—मालूम भी नहीं, उसका कण्ठ कितना करुण और कोमल था।

मैं उसकी वाणी को सुनने के लिये बड़ा ही उत्सुक था, किन्तु वह पाषाण—नहीं, नहीं, सुवर्ण की प्रतिमा—कभी बोली ही नहीं। मैंने बड़े-बड़े प्रयत्न किये, पर उसके अधरों से मुस्कान निकली, शब्द नहीं निकले; चित्र देखा, संगीत नहीं सुना; भाव मिला, अर्थ नहीं पाया; मेरे नेत्र कृतकृत्य हुये, कान अतृप्त ही रहे। कभी-कभी मेरे कर्णद्वय मुझसे कानाफूसी कर, कहने लगे—"तू बहरा तो नहीं है?"

२

जो भी हो, लोग कहते हैं—जीवन की सब से प्रिय वस्तु, सब से मनोहर घटना अच्छी तरह याद रहती है, पर मुझे वह भयानक सन्ध्या अभी की तरह ख़ूब याद है।

आह! वह ग्रीष्म की सन्ध्या थी! तापतप्त भूमि पर पानी छिड़ककर मैं भोजन बना रहा था, अचानक सूर्योदय हुआ। खिड़की के पास मुझे माया दिखाई दी। वह आम चूस रही थी। आम मधुर था, उससे हज़ार-

गुना माधुर्य माया की मुस्कान में था। होठों में ऐसी माधुरी रखकर भी माया न-जाने-क्यों आम चूस रही थी?

माया ने आम चूसकर उसके छिलके दूर फेंक दिये। वह जानती थी, यदि उसके जूठे आम का एक छिलका भी मेरी रसोई में गिर जाय, तो वह अपवित्र हो जायगी। मैं समझता था, कि यदि उसका एक भी जूठा छिलका मेरी रसोई में गिर जाय, तो वह पवित्र हो जायगी।

माया गुठली चूस रही थी। अचानक गुठली उसके मुँह से फ़िसल गई। माया को एकाएक यह ध्यान हुआ कि वह गुठली मेरी रसोई में गिरेगी। वह उसको सम्हालने को बढ़ी। गुठली गिरी. उसी के साथ माया भी! माया की असावधानी से गुठली गिरी, और विश्व की असावधानी से माया। संसार! क्या माया अब तेरे किसी काम की न थी? उस कलिका का अभी विकास कहाँ हुआ था मूढ़!

गुठली और माया मेरे समीप कठोर भूमि पर गिर पड़े। मेरे ऊपर वज्र गिर पड़ा। मैंने देखा—माया मूर्छित हो गयी थी।

क्षण-भर में-ही उसके माता-पिता वहाँ दौड़े आये। पङ्खा करने पर माया ने आँखें खोलीं। सब के प्राण-में-प्राण आये। माया ने अधर खोले। मुझे जीवन मिला। अधरों में कम्पन हुआ। माया ने कहा—"गुठली जूठी नहीं थी।"

इसके बाद माया ने होठ बन्द कर लिये, आँखें बन्द कर लीं। फिर माया कुछ न बोली। उसके वह स्वर अन्तिम हुए। माया सदा को चली गयी।

चारों ओर से 'गुठली जूठी नहीं थी' यही प्रतिध्वनित हो रहा था।

जड़-जीव एक-एक कर, मुझसे कहने लगे—"गुठली जूठी नहीं है।" सारा संसार एक स्वर से कहने लगा—"गुठली जूठी नहीं है।"

माया फिर कहीं नहीं दिखाई दी। बहुत दिन तक उसकी खोज में इधर-उधर पागलों की तरह घूमता रहा, कहीं उसका कोई निशान नहीं मिला।

संसार में जब मेरे लिए कोई आकर्षण नहीं रहा, तो मैं उसको त्यागकर निर्जन वन में रहने लगा। माया की वह जूठी गुठली मेरी एक-मात्र संगिनी थी। मैंने माया के पाने की चेष्टा की, नहीं मिली। शान्ति खोजी, वह भी नहीं मिली।

३

एक दिन श्याम मेघ आकाश से वारि-सिंचन कर रहे थे। मैंने अपना समस्त मोह त्यागकर वह गुठली ज़मीन में बो दी। कुछ दिन बाद अंकुर निकल आया। मैंने अनवरत परिश्रम कर, उस अंकुर की रक्षा की। कुछ दिन में वह अंकुर एक विशाल वृक्ष में परिणत हो गया।

अचानक एक मधु-वसन्त में उसमें बौर निकल आये। उस समय मैंने देखा—मानों माया अपने हास्य को लेकर आ गई है। कोकिला उसमें विश्राम कर, कूकने लगी—मानों वही माया का स्वर था। प्रत्येक बौर में आम निकल आये—मानों माया कहने लगी—'आम जूठा नहीं है।'

उसी वृक्ष के नीचे अब मेरी कुटी है। उस वृक्ष के ऊपर मैंने पक्षियों को घोंसला बनाने तथा आराम करने की आज्ञा दे रक्खी है। नीचे छाया में प्रत्येक तापतप्त बटोही से कुछ देर आराम करने का अनुरोध करता हूँ।

हर साल आम की फ़सल में प्रत्येक पथिक को एक-एक आम देता हूँ। जिस समय वे उसे खाते हैं, तो समझता हूँ, आम जूठा नहीं है।

साल में एक बार आम्र-मञ्जरियों की आड़ से झाँककर माया मुझे दर्शन देती है। मैं उससे कहता हूँ—'माया !'

वह लज्जित हो जाती है, और पत्तों के घूँघट को अधिक खींच लेती है। मैं कहता हूँ—'क्यों माया, इतनी लज्जा क्यों ?'

वह कहती है—'अब मेरा विवाह हो गया।'

मिलन-मुहूर्त

१

वासवदत्ता का सौन्दर्य्य, पूर्ण चन्द्र से भी अधिक पूर्ण था। उसकी देह कमल से अधिक कोमल थी। उसकी वाणी वीणा का तिरस्कार करती थी। उसकी लाज-भरी आँखें हरिणी को लजा सकती थीं। स्वर्ग के सौन्दर्य्य ने अपनी रुचि के अनुसार, अपने ही कोमल हाथों से उस सजीव स्वर्ण-प्रतिमा को निर्मित किया था। ऐसी भुवनमोहिनी शोभा—ऐसी रुचिर रूप-राशि देकर भी क्या विधाता को उसे वेश्या बनाना उचित था? कीचड़ में कमल और काँटों में फूल खिलानेवाला ही जाने।

उस दिन बाल-बसन्त के सुषमापूर्ण प्रभात में जब कोयल के करुण गान को छाती से लगाए मलय-सुरभि अपने मन से बह रही थी, एक श्रमण वासवदत्ता की सुविशाल अट्टालिका के द्वार पर भिक्षा के लिए आ खड़ा हुआ। अचानक वासवदत्ता की दृष्टि उस बौद्ध भिक्षु के ऊपर पड़ी। उसने उसे एक बार देखा; सौ बार देखा—देखती रही।

उसका नाम उपगुप्त था। सांसारिक दृष्टि से वह भिखारी था किन्तु स्वर्गीय दृष्टि से वही राजराजेश्वर था। मन से बढ़कर श्रेष्ठ और सुविस्तृत राज्य कोई नहीं है। उपगुप्त ने अपने उसी मन के ऊपर विजय प्राप्त की थी। वह राजराजेश्वर था, समस्त इन्द्रियाँ उसकी प्रजा थीं।

विश्व की चञ्चलता और अशान्ति का उसे पूरा पता था, उसकी आँखें अचंचल और शान्त थीं। स्वर्गीय दिव्य आभा से उसका मुखमण्डल भासमान था। काषाय वस्त्र उसे अपूर्व शोभा प्रदान कर रहे थे।

संसार को अपने सौन्दर्य्य से पराजित करनेवाली वासवदत्ता उस भिक्षु के समीप हार गई, उसके सौन्दर्य्य पर मुग्ध हो गई। उसका कौषेय अंचल खिसक पड़ा, कबरी शिथिल होगई, उसमें ग्रथित पुष्पराशि मुक्त होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी!

उसने उपगुप्त के समीप आकर कहा—"भिक्षु, भिक्षा-पात्र आगे बढ़ाओ।"

भिक्षा-पात्र आगे बढ़ाकर हठात् उपगुप्त ने आश्चर्य्य से कहा—"किन्तु तुम्हारे दोनों हाथ रिक्त हैं, यह मुझे क्या दे सकेंगे?"

वासवदत्ता—"यह तुम्हें वह वस्तु देंगे, जो तुम्हें इस संसार में कहीं नहीं मिली, तथा जो इन हाथों ने आज तक किसी और को प्रदान नहीं की।"

उपगुप्त—"अर्थात्?"

वासवदत्ता—"ये हाथ रिक्त नहीं हैं।"

उपगुप्त—"मैं इन स्वर्णाभूषणों से क्या करूँगा?"

वासवदत्ता—"मैं इन स्वर्णाभूषणों की बात नहीं कहती। अमोघ

युवक ! ये हाथ रिक्त नहीं हैं। ये प्रेम के आलिंगन से परिपूर्ण हैं। मैं वही आलिंगन तुम्हें दूँगी। कल्पना करो भिक्षु, जिस वासवदत्ता की छाया-स्पर्श के लिए बड़े-बड़े राजराजेश्वर व्याकुल रहते हैं, वह तुम्हें प्रेम का आलिंगन देगी।"

उपगुप्त के मुख के भावों में कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ। वासवदत्ता ने फिर कहा—"भिक्षा-पात्र आगे बढ़ाओ। मैं तुम्हें भिक्षा में अपना हृदय दूँगी।"

उपगुप्त ने पूछा—"इसका अर्थ ?"

वासवदत्ता—"इसका अर्थ यही है, कि यह तुम्हारी सुकुमार देह भिक्षा-वृत्ति के लिए नहीं है। यह अनुपम सौन्दर्य्य-सुमन संसार के स्पर्श से दूर वन-पथ में मुरझाने के लिए नहीं है। आओ भिक्षु, मेरे सदन में आओ। मैं विश्व की स्वामिनी हूँ, तुम्हारी दासी बनूँगी।"

उपगुप्त के वासना के अभाव से मुक्त मुख-मण्डल में हँसी की एक क्षीण रेखा दिखाई दी। वह चुप रहा।

वासवदत्ता ने विकल होकर कहा—"उत्तर दो भिक्षु।"

उपगुप्त ने उत्तर दिया—"किन्तु कई कारणों से अभी समय नहीं है।"

वासवदत्ता—"तो कब ?"

उपगुप्त—"फिर कुछ दिन बाद आऊँगा।"

"फिर कुछ दिन बाद आऊँगा," वासवदत्ता मन-ही-मन सोचने लगी—"रमणी के रूप का यह अपमान ! एक सामान्य भिक्षु उसके सौन्दर्य्य का तिरस्कार कर सका ! देखा जायगा। मैं उस दिन की प्रतीक्षा करूँगी।"

उपगुप्त द्रुत गति से सङ्घ की ओर चला गया। वासवदत्ता सुवर्ण-मूर्ति की तरह उसे नीरव-निश्चल होकर देखती रही।

२

अपने छोटे से जीवन की एक झलक दिखाकर सन्ध्या तीव्र गति से चली गई थी। शारदीय शुभ्राकाश की प्राची में उदयोन्मुख चन्द्रमा की किरणें रूपोज्ज्वल चाँदनी बिछा रही थीं!

एक सघन वन के चरणों को धोती हुई कलरव-रव-रता गंगा बह रही थी। दिन-भर के भिक्षा-भार से मुक्त उपगुप्त उस वन से होकर अपने मठ को लौट रहा था।

उस भयंकर हिंस्र पशु, सिंह के ऊपर करुणा के अवतार भगवान् बुद्ध के उपदेश का कुछ भी असर नहीं हुआ। उसकी राक्षसी प्रवृत्ति परिवर्तित नहीं हुई। उपगुप्त को आते देखकर सिंह बड़े वेग से उसके ऊपर झपटने को तैयार हुआ। भिक्षु ने यह देखकर अपना मस्तक झुका दिया।

एक ओर सिंह उपगुप्त को भक्षण करने के लिए तैयार है, दूसरी ओर उपगुप्त सिंह के लिए भोजन बनकर खड़ा है!

पास ही एक घनी झाड़ी थी, घनी झाड़ी के हृदय में एक छिद्र था। वसन्त की पूर्ण प्रफुलता में यथा-शक्ति प्रयास करने से भी पत्तियाँ उसे भर नहीं सकी थीं! उस छिद्र से एक व्याध ने यह भयानक दृश्य देख लिया।

ज्योंही सिंह भिक्षु के ऊपर झपटने को हुआ, त्योंही व्याध ने अपने धनुष में तीर चढ़ा लिया और सामने की झाड़ी का वक्ष विदीर्ण कर, सिंह को धराशायी कर दिया।

उपगुप्त ने चकित होकर चारों ओर देखा। अपने कार्य्य की सफलता पर मुस्कराता हुआ धनुषधारी व्याध उसकी ओर आ रहा था।

भिक्षु ने दुःख-भरे शब्दों में व्याध से कहा—"हाय! तुमने यह क्या किया? सिंह ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था? अकारण निरपराध की हत्या क्यों की?"

व्याध ने मन-ही-मन सोचा—"सिंह और निरपराध?"

अपने दयाहीन कठोर जीवन में व्याध ने पहले-पहल यहीं पर करुणादेवी के दर्शन किए। वह चित्रांकित मूर्ति की तरह कुछ देर खड़ा रहा। उपगुप्त ने करुणा से परिप्लावित दृष्टि उसके ऊपर निक्षेप की। आँखों ने देखा, हृदय ने हृदय का सन्देश समझ लिया।

व्याध के दोनों हाथ हिले। उसने कंधे से तूणीर निकालकर गङ्गा के वक्ष में फेंक दिया—उसकी निर्दयता गङ्गा में डूब गई। अपने बलिष्ठ हाथों से धनुष को दो टूक कर, पृथ्वी पर पटक दिया—उसकी कठोरता अन्तिम साँस लेने लगी। इसके बाद व्याध ने भिक्षु के चरणों में गिरकर कहा—"देव! यह मेरी अन्तिम हत्या है!"

उपगुप्त ने प्रसन्न मुख से आशीर्वाद दिया। व्याध अपने नवीन संसार में प्रवेश करने के लिये चला गया। करुणा उसकी पथ-प्रदर्शिका बनी।

व्याघ्र' उपगुप्त ने भूमिशायी सिंह की ओर देखा—उसकी छाती में बुरी तरह से तीर घुसा हुआ था। भिक्षु उसे बड़ी कठिनता से गङ्गा-तट की ओर ले गया, और वहाँ जाकर उसका घाव धोने लगा।

गङ्गा के चञ्चल हृदय में दसों दिशाओं में गीति-सुधा की वृष्टि करते

हुए एक नाव जा रही थी। शरद् की निर्मल चाँदनी अच्छी तरह से खिल गई थी। वन-प्रान्त और गङ्गा की लहरों में अपूर्व शोभा अङ्कित हो रही थी।

उपगुप्त अपने कार्य में प्रवृत्त हुआ। सिंह के जीवन की आशा बहुत कम थी, किन्तु भिक्षु दत्तचित्त हुआ, अपना कार्य कर रहा था।

नाव उसी ओर आने लगी। गान के स्वर अब उपगुप्त को स्पष्ट सुनाई देने लगे। उसने देखा—नाव में और कोई नहीं, वही मुक्तकुन्तला रूपसी वासवदत्ता शरच्चन्द्र से आँख लड़ाती हुई, गा रही थी।

भिक्षु ने सिंह की छाती का तीर बाहर निकालने को हाथ बढ़ाया, अचानक गान रुक गया। नाव भिक्षु के समीप आ लगी।

नाव में-से वासवदत्ता चकित होकर चिल्लाई—"भिक्षु, यह क्या करते हो? क्या तुम्हें मालूम नहीं, जीवन-लाभ कर, यह भयङ्कर हिंस्र पशु अपने जीवन-दाता को नहीं पहचान सकेगा?—यह तुम्हारा सर्वनाश कर डालेगा?"

उपगुप्त ने कहा—"रमणी तुम भूल रही हो। यह उन हिंस्र पशुओं से अधिक भयङ्कर नहीं है, जिनका बाह्य सुन्दर है। यह उस सुन्दर रूप से अधिक भयङ्कर नहीं है, जिसकी ओट से मनुष्य का शत्रु, काम उसका बध करने के लिये कान तक प्रत्यञ्चा खींचे खड़ा है। यह उस सुन्दर मोह से अधिक भयानक नहीं है, जिसने अपने बन्धन से मनुष्य को बन्दी बना रक्खा है। यह हाथ में स्वर्ण-मुकुट लिये हुए छाया के समान निस्सार लोभ-लालसा से अधिक भीषण नहीं है, जिसके पीछे मनुष्य अपने ध्येय-धर्म को भूलकर अनन्त जन्म और जगतों में फिर रहा है।"

वासवदत्ता कुछ न समझ सकी। प्रेम से अधीर होकर उसने कहा —"भिक्षु, मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करती रह गई, तुम नहीं आये। क्या भूल गये थे?"

"नहीं, भूला नहीं। मैं आऊँगा, कुछ दिन बाद आऊँगा।"

"आज-ही चलो भिक्षु! इससे अधिक सुन्दर अवसर फिर कब आवेगा? आज चन्द्रमा संसार को आलोकित कर रहा है। तुम मेरे गृह का अन्धकार दूर करो।"

"ठहरो।" कहकर भिक्षु धीरे-धीरे सिंह की छाती से तीर निकालने लगा।

वासवदत्ता ने कहा—"तुमने अपने सौन्दर्य के तीर से मुझे आहत किया है, पहले मुझे प्राण-दान दो।"

"धीरज रक्खो सुन्दरी! मैं अवश्य आऊँगा।"

"कब आओगे?—जब तुम्हारी प्रतीक्षा करते-करते मेरे नेत्रों की ज्योति चली जायगी? दिन गिनते-गिनते जब समय मुझसे मेरा यौवन छीन लेगा?"

उपगुप्त ने उसकी ओर देखकर सोचा—हैं, यह क्या! इतना ज्ञान होने पर भी वह गढ्ढे में गिर रही है!

वासवदत्ता ने फिर कहा—"कब आओगे?"

"इसी जीवन में।"

"इसी जीवन में? वह बहुत बड़ी अवधि है।"

"तो फिर?"

"इसी क्षण कहो।"

'नहीं।"

'इसी साल?"

"इसी वर्ष आऊँगा; इसे सत्य समझो।"

"मैं अपनी अँगुलियों पर दिन और श्वास में क्षण गिनूँगी।"

वासवदत्ता चली गई। उपगुप्त मृतप्राय: सिंह के हृदय से तीर निकालने में प्रवृत्त हुआ।

३

शरद् गया, शिशिर गया, हेमन्त गया, किन्तु उपगुप्त नहीं आया। वासवदत्ता ने कई बार अश्रु-पूर्ण प्रतीक्षा की, किन्तु वह नहीं आया। उसने अनेक बार श्रृङ्गार किया, सब व्यर्थ हुआ।

सुमन, सुगन्धि और संजीवनी को लेकर अन्त में वसन्त-ऋतु आई, फिर भी वह न आया। देखते-देखते अवधि भी बीतने को आई, पर उपगुप्त नहीं आया। वासवदत्ता अतृप्त-अश्रांत आँखों से उस कभी न आनेवाले को देखती रही। सब आए; जो नहीं आया, वह एक उपगुप्त था!

अवधि के बीतने में दो ही महीने रहे—एक महीना रहा। संसार के पांथ-निवास में ठहरा हुआ पथिक, 'वर्ष' जाने की तैयारी करने लगा। उसने शिशिर का कम्बल कन्धे पर डाल लिया था, हेमन्त का बिस्तर बाँध लिया था, वसन्त के पुष्प-वस्त्र सँभाल लिये थे, ग्रीष्म का छाता हाथ में, जूता पाँव में लेलिया था, वर्षा का रिक्त लोटा और डोर भी ले लिया था, उसने अपनी अन्तिम वस्तु शरद् की चाँदनी को समेटने के लिये हाथ बढ़ाया, त्यों-ही वासवदत्ता ने विकल होकर कहा—"क्या सच मेरा प्रियतम इस साल नहीं आवेगा?"

वासवदत्ता—"केवल एक पक्ष।"

उपगुप्त—"मैं अवश्य उसके भीतर ही आऊँगा।"

वासवदत्ता—"तुम झूठ बोल रहे हो, मुझसे छल कर रहे हो।"

उपगुप्त—"अमिताभ का शिष्य झूठ नहीं बोलता, छल-कपट उसका धर्म नहीं है।"

उपगुप्त रजनी के अन्धकार में मिलकर अदृश्य हो गया। वासवदत्ता गवाक्ष-द्वार बन्द कर, छिप गई।

४

वासवदत्ता ने धन के लिए लखपति का वध किया था। भेद खुल गया। वह न्यायालय में विचार के लिए उपस्थित की गई।

उसका धन उसके काम नहीं आया, उसके प्रेमी उसके काम नहीं आए, उसका अनुपम सौन्दर्य भी उसको दण्ड से मुक्त नहीं कर सका।

हतभागिनी को न्यायालय से शूली का दण्ड नहीं मिला। प्राणदण्ड उसके अशांत जीवन के लिए शान्ति थी। वह दण्ड न था, आशीर्वाद था।

उसका रूप कुरूप किया गया। उसके चन्द्रवदन की आँखें निकाल ली गईं, नाक-कान काट दिये गए, उसके मृणाल-कर छिन्न किये गये, उसकी धन-सम्पत्ति सब छीन ली गई।

जिस समय वासवदत्ता को यह भीषण दण्ड मिला, उस समय उसने बड़े करुण स्वर से प्रार्थना की—"मैं एक सप्ताह का समय चाहती हूँ। मुझे अपने एक प्रेमी से मिलना है। वह इस सप्ताह के भीतर आजावेगा। उसके बाद मैं अत्यन्त प्रसन्नता से घातक के हाथ और न्याय की तलवार को अपनी देह सौंप दूँगी।"

किसी ने उसकी विनय को स्वीकार नहीं किया। घातक ने वासवदत्ता की कुरूप और कुत्सित कर, राज-पथ में छोड़ दिया ! एक मनुष्य उसके साथ किया गया, जो उच्च स्वर से समस्त प्रजा को उसके पाप की कथा सुनाता था।

कितना भयानक और वीभत्स दृश्य था ! उसके घावों से रक्त और पीप बहता था, जिसमें मक्खियाँ भनभना रही थीं, हाथों से हीन होने के कारण अभागिनी उनको उड़ा भी नहीं सकती थी। वह करुण शब्दों से केवल रुदन कर रही थी।

आज से पहले जो उसके सौन्दर्य्य के उपासक थे, वे उससे घृणा करने लगे, दूर ही से देखकर भाग जाते थे। सब कोई उसके ऊपर थूक रहे थे। पथ का एक भिक्षुक, लूला, लँगड़ा, कुष्ठ-रोगी भी उसके स्पर्श से बचने का प्रयास कर रहा था।

जब उसके पास विश्व को आकर्षित करनेवाला रूप नहीं रहा, यौवन नहीं रहा, धन नहीं रहा, जब समस्त संसार उससे घृणा कर रहा था, वह जीव-मात्र की समवेदना से दूर थी, ऐसे दुर्दिन में उपगुप्त ने आकर उसके मस्तक पर अपना हाथ रक्खा।

वासवदत्ता ने चकित होकर पुकारा—"कौन ?"

उपगुप्त ने उत्तर दिया—"मैं हूँ।"

वासवदत्ता, कण्ठ-स्वर कुछ पहचान गई। अपना भ्रम मिटाने को उसने पूछा—"कौन, तुम उपगुप्त हो ?"

उपगुप्त—"हाँ मैं उपगुप्त ही हूँ।"

वासवदत्ता ने दीर्घ श्वास छोड़कर कहा—"लौट जाओ, तुम किस

लिए आए ? क्या तुम मेरा उपहास करने आए हो ?"

उपगुप्त—"तुम मुझसे लौट जाने को कहती हो ! मैं तुम्हारे ही कहने के अनुसार तुम्हारे पास आया हूँ । मेरे आने में विलम्ब नहीं हुआ है, अभी वर्ष पूरा होने में दो दिन शेष हैं।"

वासवदत्ता ने निराशा के स्वर में कहा—"हाय ! जब मेरी देह वसन्त की सुरभि से सौरभवती थी, तब तुम न आये। जब मेरी शोभा का चन्द्रमा पृथ्वी के ऊपर सुधा की वृष्टि कर रहा था, तब तुम न आए। जब घातक मेरे यौवन का अन्त करने के लिए प्रस्तर-खण्ड पर अपना शस्त्र तेज़ कर रहा था, तब भी तुम न आये। भिक्षु, क्या इतने अबोध हो ! मेरे सौन्दर्य्य का दीपक बुझ गया है, मेरी शोभा का सूर्य्य अस्त हो गया है ! ऐसे समय तुम किसलिए आए ?"

उपगुप्त—"भगिनी ! मैं इन्द्रिय-सुख अथवा और किसी स्वार्थ से प्रेरित होकर तुम्हारे पास नहीं आया हूँ। शारीरिक सौन्दर्य्य व्यर्थ है, तुम्हारा यह शरीर इसकी साक्षी देगा। धन भी निस्सार है, तुम्हारा अतुल ऐश्वर्य इसका उत्तर देगा। मैं तुम्हारे पास आया हूँ। कहो तुम्हें क्या कहना है ?"

वासवदत्ता की आँखें खुल गईं। उसने कहा—"मैं क्या कहूँ भिक्षु ! तुम्हारे इस प्रश्न ने मेरे उत्तर को छीन लिया है। मुझे ज्ञात हो रहा है, जैसे मैं एक स्वप्न, एक छाया और एक मरीचिका के पीछे दौड़ रही थी। मुझे कुछ नहीं कहना है। तुम मेरे समीप कुछ देर खड़े रहो। तुम्हारे स्पर्श से मेरी यातना कम हो रही है, तुम्हारे वचनों से मेरा सन्ताप दूर हो रहा है। भिक्षु-श्रेष्ठ, तुम ही कुछ कहो।"

उपगुप्त—"संसार के दुःखों की जड़ तृष्णा है, तुम इसी तृष्णा की दासी होकर भटकती रहीं। तुमने काम के हाथ अपना धर्म बेच दिया, तुमने धन के लिए अपने प्रेमी लक्षपति की हत्या की। आज इस दुःख के समय तुम्हारे काम कोई नहीं आया।"

वासवदत्ता—"हाय! भिक्षु, तुमने इससे पहले आकर मुझे ठोकर खाने से क्यों नहीं बचाया? तुम आए, किन्तु बड़ी देर में आए"

उपगुप्त—"कुछ विलम्ब नहीं हुआ है, अभी बहुत समय है। तुम इस समय बाह्य नेत्रों से हीन हो, किन्तु तुम्हारे अन्तर-नेत्र खुल गये हैं। उठो, भगवान् बोधिसत्व का हाथ पकड़ो। वे तुम्हारे दुःख दूर करेंगे। तुम्हें मुक्त करेंगे।"

वासवदत्ता के मरु-संसार में आकाश-मार्ग से सुधाबिन्दु बरस गया। उसकी सात्विक प्रकृति जाग उठी, उसे संसार की क्षण-भंगुरता का बोध हुआ; बोध ही नहीं, अनुभव भी हुआ। उसने भिक्षु के चरणों में अपना मस्तक रखकर कहा—"मैं प्रस्तुत हूँ। मुझे ले जाओ, मेरा अञ्चल पकड़कर मुझे शान्ति के राज्य में ले जाओ।"

भिक्षु ने अपने पवित्र करों से उसका स्पर्श किया। दोनों संघ की ओर चले।

पाप-ताप से विदग्धा वासवदत्ता ने प्रायश्चित्त की सुरसरि में स्नान किया, प्रव्रज्या ग्रहण कर, अपने शेष जीवन में शान्ति पाई।

श्री सुदर्शन

जन्मकाल — रचनाकाल

१८९५ ई० — १९२० ई०

कवि की स्त्री

सत्यवान—

छात्रावस्था में मैं और मणिराम साथ-ही-साथ पढ़ते थे। उस समय हम एक-दूसरे पर प्राण देते थे। वे बचपन के दिन थे। जब तक एक-दूसरे को देख न लेते, शान्ति न मिलती। उस समय हमें बुद्धि न थी। पीछे से प्रेम का स्थान वैर ने ले लिया था, दोनों एक-दूसरे के लहू के प्यासे हो गये थे। तब हम शिक्षित हो चुके थे। एफ़० ए० की परीक्षा पास करने के पश्चात् हमारे रास्ते अलग-अलग हो गये। मणिराम मेडि-कल कॉलिज में भर्ती हो गये। मैंने साहित्य-संसार में पाँव रक्खा। मुझे रुपये-पैसे की परवाह न थी, पूर्वजों की सम्पत्ति ने इस ओर से निश्चिन्त कर दिया था। दिन-रात कविता के रस में तल्लीन रहता। कई-कई दिन घर से बाहर न निकलता। इन दिनों मेरे सिर पर यही धुन सवार

रहती थी। एक-एक पद पर घण्टों ख़र्च हो जाते थे। अपनी रचना को देखकर मैं गर्व से झूमने लग जाता था। कभी-कभी मुझे अपनी कविता में तुलसीदास की उपमा और सूरदास के रूपकों का स्वाद आता था। जब मेरी कवितायें पत्रों में निकलने लगीं, तब मेरा कवित्व का मद उतरने लगा। मद उतर गया, परन्तु उसका नशा न गया। वह नशा प्रख्याति, कीर्ति और यश का नशा था। थोड़े ही वर्षों में मेरा नाम हिन्दी-संसार में प्रसिद्ध हो गया। मैं अब कुछ काम न करता था। केवल बड़े-बड़े लोगों को पार्टियाँ दिया करता था। अब इसके बिना मुझे चैन न मिलती थी। कविता में इतना मन न लगता था। पहले मेरा सारा समय इसी की भेंट होता था, पर अब वह जी-बहलावे की चीज़ हो गई थी। परन्तु जब कभी कुछ लिखता, तब रङ्ग बाँध देता था। तुच्छ-से-तुच्छ विषय को भी लेता तो उसमें भी जान डाल देता था।

उधर मणिराम चिकित्सा के ग्रन्थों के साथ सिर फोड़ता रहा। पाँच वर्ष बाद एसिस्टेण्ट-सर्जरी की परीक्षा पास करके उसने अपनी दूकान खोल ली। परीक्षा का परिणाम निकलने के समय उसका नाम एक बार समाचार-पत्र में निकला था। इसके पश्चात् फिर कभी उसका नाम पत्रों में नहीं छपा। इधर मेरी प्रशंसा में प्रति दिन समाचार-पत्रों के पृष्ठ भरे रहते। वह दूकान पर सारा दिन बैठा रोगियों की बाट देखता रहता था। परन्तु उसका नाम कौन जानता था? लोग जाते हुए झिझकते थे। मैं उसकी ओर देखता तो घृणा से मुँह फेर लेता;—जिस प्रकार मोटर में चढ़ा हुआ मनुष्य पैदल जानेवालों को घृणा से देखता है।

२

एक दिन एक पत्र आया। उसमें मेरी कवित्व-कला की बहुत ही प्रशंसा की गई थी। मेरा अस्तित्व देश और जाति के लिए सम्मान और गौरव का हेतु बताया गया था। मेरे पास ऐसे पत्र प्रायः आया करते थे। यह कोई नई बात न थी। कभी-कभी तो ऐसे पत्रों को देखकर झुँझला उठता था। हम पुरुषों की ओर से उपेक्षा कर सकते हैं, परन्तु किसी कोमलाङ्गी के साथ यह व्यवहार करने को जी नहीं चाहता। और यह भी किसी साधारण स्त्री की ओर से नहीं था। इसकी लेखिका देहरादून के प्रसिद्ध रईस ठाकुर हृदयनारायण की शिक्षिता लड़की सावित्री थी, जिसने इसी वर्ष बी० ए० की परीक्षा पास की थी। जिसके सम्बन्ध में समाचार-पत्रों में कई लेख निकले थे, परन्तु मैंने उन्हें पढ़ने की आवश्यकता न समझी थी। इस पत्र ने सब-कुछ याद करा दिया। मैंने उसी समय लेखनी पकड़ी, और जवाब लिखने बैठ गया। परन्तु हाथ जवाब दे रहे थे। ऐसी लगन से कोई विद्यार्थी अपनी परीक्षा के पर्चे भी न लिखता होगा। एक-एक शब्द पर रुकता था, और नये-नये शब्द ढूँढकर नये-नये विचार लेखनी के अर्पण करता जाता था। मैंने सावित्री और उसकी विद्वत्ता की प्रशंसा में कोष के सम्पूर्ण सुन्दर शब्द समाप्त कर दिये। अपनी तुच्छता को भी अङ्गीकार किया—'आप मेरी प्रशंसा करती हैं, यह आपका बड़प्पन है, अन्यथा मेरी कविता में धरा ही क्या है! न कल्पना में सौन्दर्य्य है, न शब्दों में मिठास। रसिकता कविता का प्रधान अङ्ग है, वह मेरी कविता से कोसों दूर है। हम कवि बन बैठते हैं, परन्तु कवि बनना आसान नहीं। इसके लिए देखनेवाली आँखें और सुननेवाले

कान दोनों की आवश्यकता है,'—इत्यादि। कहने की आवश्यकता न होगी कि अपनी प्रशंसा करने का यह एक सभ्य ढङ्ग है।

कुछ दिन पश्चात इस पत्र का उत्तर आया—'यह जो कुछ आपने लिखा है, आप-जैसे महापुरुषों के योग्य ही है, अन्यथा मैं तो आपको टेनिसन और वर्डसवर्थ से बढ़कर समझती हूँ। आप कहते हैं कि आपकी कविता रस-हीन है। होगी। परन्तु, मुझ पर तो वह जादू का काम करती है। घण्टों रस-सागर में डुबकियाँ लगाती हूँ। खाना-पीना भूल जाती हूँ। जी चाहता है, आपकी लेखनी चूम लूँ।'

यह पत्र शराब की दूसरी बोतल थी। अन्तिम वाक्य ने हृदय में आग लगा दी। मैंने फिर उत्तर दिया, और पत्र में हृदय खोलकर रख दिया। कवि अपने चाहनेवालों को आकाश में चढ़ा देते हैं। मैंने सावित्री की प्रशंसा में आकाश-पाताल एक कर दिया। लिखा—'
लाइल का कथन है कि कवि केवल वही नहीं, जो कविता कर सकता प्रत्युत प्रत्येक व्यक्ति जो कविता समझ सकता है, और उसके मर्म तक पहुँच सकता है, कवि है। इस रूप में तुम भी कवि हो। मैंने अच्छे-अच्छों को देखा है, कविता के महत्त्व को नहीं समझ सकते। परन्तु तुम तो बाल की खाल निकालती हो। तुम्हारी योग्यता पर मुझे आश्चर्य होता है। धन्य है भारत-भूमि, जिसमें तुम-जैसी देवियाँ खेलती हैं।

मैंने सैकड़ों उपन्यास पढ़े थे, अच्छी-से-अच्छी कवितायें देखी थीं, परन्तु जो रस, जो स्वाद सावित्री के पत्र में था, वह किसी में न पाया। यही जी चाहता था कि उन्हीं को पढ़ता रहूँ।

३

सावित्री—

निस्सन्देह वे मुझे चाहते हैं, अन्यथा इस प्रकार तुरन्त ही उत्तर-प्रत्युत्तर न देते। आज पत्र लिखती हूँ, तीसरे दिन उत्तर आ जाता है। ऐसा प्रतीत होता है, मानों मेरे पत्र की राह देख रहे थे। उनके पत्र उनके कवित्व से अधिक सरस हैं। पढ़कर चित्त प्रसन्न हो जाता है। और कभी-कभी तो ऐसी चुटकी लेते हैं कि मन अधीर हो उठता है। मैंने चित्र माँग भेजा था। उत्तर देते हैं—तुमने लिखा है कि चित्र भेज रही हूँ, परन्तु मुझे आज तक नहीं मिला। रजिस्ट्री की रसीद तो भेज दो, डाकख़ाने पर नालिश कर दूँ। बरबस मुझे अपना चित्र भेजना पड़ा, उत्तर मे उनका चित्र आ गया। मेरा विचार सच्चा निकला। कैसे रसीले है! मुख पर राजकुमारों-जैसा लावण्य झलकता है। मेरे हृदय को पहले ही चैन न था, चित्र ने रहा-सहा भी छीन लिया। रात को नींद नहीं आती। उनकी अन्तिम कविता ने उनका हृदय मुझपर खोल दिया है। 'प्रियतम से'। कैसा प्यारा शीर्षक है! अक्षर-अक्षर से प्रेम टपकता है। इससे पहिली कविता 'पाती निहारकर।' भी मुझपर ही लिखी गई थी। लिखती हूँ, तुम मुझे कलङ्कित करके छोड़ोगे। यह तो कहो, तुम मेरे पीछे पल्ले झाड़कर क्यों पड़ गए हो? एक और कविता "एकान्त में" प्रकाशित हुई है। इससे जान पड़ता है, अभी तक कुँआरे हैं। तो मेरी.........परन्तु वे इतना परिश्रम क्यों करते हैं? बहुत पढ़ना-लिखना मनुष्य को बाँस की तरह खोखला कर देता है। लिखती हूँ, कविता करना बन्द कर दो और अपने शरीर की ओर ध्यान दो। मुझे

बड़ी चिन्ता रहती है। इसके बाद मैंने उनके सम्बन्ध में सब-कुछ मालूम कर लिया। वे हमारी बिरादरी के हैं, और कुँवारे हैं।

मैंने पत्र लिखा। पहले पत्रों और इस पत्र में बहुत भेद था। इसमें कोई 'सङ्कोच', कोई 'बनावट' न थी—"तुम्हारे पत्रों में सन्तोष नहीं होता। जी चाहता है, प्रत्यक्ष दर्शन हों, तो गिरकर आप के पैरों को चूम लूँ। अब अधिक न तरसाओ। प्रतिक्षण सामने देखना चाहती हूँ। प्रायः सोते-सोते चौंक पड़ती हूँ। सोचती हूँ, तुम्हारे खाने-पीने का क्या प्रबन्ध होता होगा। रात को अधिक समय तक जागते तो नहीं रहते? स्वास्थ्य बिगड़ जायगा, इसका पूरा ध्यान रक्खो। मुझे पत्र लिखना न भूलो। जी डर जाता है। मुझे अपने चरणों की दासी समझो।"

चौथे दिन उत्तर आया, तब मैं ज़मीन से उछल पड़ी। वे मेरे साथ विवाह करने से सहमत नहीं, प्रत्युत अधीर हो रहे थे। मैंने आँखें बन्द कर लीं, और आनेवाले काल्पनिक सहवास का चिन्तन करके आनन्द के झूले में झूलने लगी। इतने में किसी के पैरों की चाप सुनाई दी, मेरी आँखें खुल गईं। देखा, छोटा भाई प्रभाशङ्कर चित्रों का एक बण्डल हाथ में लिये खड़ा है। मैंने आश्चर्य-से पूछा "प्रभा, यह क्या है?"

"बाबूजी कहते हैं, ये चित्र देखकर एक छाँट दो। प्रत्येक चित्र के साथ-साथ एक पत्र है, उसे भी पढ़ जाना।"

यह कहते-कहते प्रभा ने वह बण्डल मेरे हाथ में दे दिया, और तेज़ी-से बाहर निकल गया।

मैंने बण्डल खोला। इनमें उन पुरुषों के फ़ोटो थे, जो मेरे साथ विवाह करना चाहते थे। मैंने मुस्कराते हुए सब पर एक उचटती हुई

दृष्टि डाली। कोई बैरिस्टर था, कोई इन्जीनियर, कोई डॉक्टर, कोई ठेकेदार, परन्तु मुझे कोई भी पसन्द नहीं आया। मेरे अन्तःकरण में एक ही मूर्ति के लिये स्थान था, और वहाँ पहले ही से वह मूर्ति विराजमान थी। फुर्ती से उठकर मैंने अपना सन्दूक खोला, और उसमें से उनका फ़ोटो निकालकर उसपर Passed शब्द लिखकर उसे बाबूजी के पास भेज दिया। वे स्तम्भित रह गए। उन्हें यह आशा न थी। वे समझते थे, मैं कोई लखपती का बेटा पसन्द करूँगी, परन्तु मैंने एक कवि को चुना। वे निर्धन न थे, पर इतने धनाढ्य भी न थे। मेरे चाहनेवालों में कई पुरुष ऐसे थे, जो उनको ख़रीद सकने का सामर्थ्य रखते थे। परन्तु प्रेम अन्धा कहा गया है, उसे देखना किसने सिखाया है? बाबूजी मेरी इच्छा के अनुसार सहमत हो गये। उन्होंने मुझे बड़े लाड़-प्यार से पाला था। मेरी शिक्षा पर सहस्रों रुपये ख़र्च किये थे। इस विषय में भी उन्होंने पूरी स्वतन्त्रता दे रक्खी थी।

४

जिस बात का भय था, अन्त में वही हुआ। उन्हें बुख़ार आने लगा है। कुछ दिन हुए, उनके एक मित्र मिलने आये थे। वे कहते हैं कि डॉक्टरों को तपेदिक़ का सन्देह है। यह बात सुनकर बाबूजी बड़े व्याकुल हुए। सदैव उदास रहते हैं,—जैसे कोई रोग लग गया हो। उनकी इच्छा है कि मैं अब इस विवाह का विचार छोड़ दूँ। जलती आग में कूदना बुद्धिमत्ता नहीं है। परन्तु मैं इसकी परवाह नहीं करती। संसार की आँखों में हम क्वाँरे हैं, पर जब मन मिल गये, प्रेम की डोरी बँध गई, तब शेष क्या रह गया? अब मैं उनकी हूँ, और कोई रोग,

कोई शक्ति, कोई बला मुझे उनसे अलग नहीं कर सकती। यहाँ तक कि मृत्यु को भी यह साहस नहीं। सावित्री ने सत्यवान को यमदूत के पंजे से छुड़ा लिया था। क्या मैं इन्हें नहीं बचा सकूंगी? मैं भी सावित्री हूँ। इसी भारत की मिट्टी से मेरा जन्म हुआ है, मैं उसके कारनामे को फिर ज़िन्दा कर दिखाऊँगी।

सायंकाल हो गया था, बाबूजी अपने कमरे में बैठे थे। मुझे चिन्ता हुई। यह समय उनके क्लब जाने का था। सर्दी-गर्मी में बराबर जाते थे। यह उनका नियम था—जिसमें कभी त्रुटि न आती थी। मैं उनके पास जाकर बैठ गई, और धीरे-से बोली—"क्यों, आज आप क्लब नहीं गये?"

बाबूजी ने कोई उत्तर न दिया।

मैंने कहा—"आप उदास दिखाई देते हैं?"

बाबूजी ने कहा—"तुम्हें इससे क्या?"

"आपका स्वास्थ्य बिगड़ जायगा।"

"कोई परवाह नहीं।"

"आपका खाना आधा भी न रहा।"

"मैं यह सब कुछ जानता हूँ।"

"किसी डॉक्टर को दिखाइये, रोग का बढ़ाना अच्छा नहीं।"

"अब मेरा डॉक्टर यमराज ही होगा!"

मेरी आँखों में आँसू आ गये, सिर नीचे झुक गया। बाबूजी दूसरी ओर देख रहे थे, परन्तु मेरे आँसू उन्होंने देख लिये। बात-चीत का रुख बदल गया। वे बोले—"सावित्री, मैं तो अपने भाग्य को रो रहा हूँ, पर तुम्हें क्या हुआ है?"

मैंने उनकी ओर इस प्रकार देखा, जैसे उन्होंने मुझ पर कोई बड़ा अत्याचार किया हो, और कहा—"आप मेरे पिता हैं, क्या आप भी मेरे इन आँसुओं का रहस्य नहीं समझते ? आपकी प्रत्येक बात छिपी कटार है, प्रत्येक वचन विष में बुझा हुआ बाण। आपके मित्र हैं, सुहृद् हैं, काम काज हैं, क्लब है। आप बाहर चले जाते हैं, मैं बैठी कर्मों को रोती हूँ। मैं लड़की हूँ। लड़कियों के मुँह से ऐसी बात अच्छी नहीं लगती। परन्तु क्या करूँ ? देखती हूँ, मेरे जीवन का सर्वस्व लुट रहा है। चुप कैसे रहूँ ? आप देर करके मेरे भविष्य को अन्धकारमय बना रहे हैं।"

बाबूजी ने आतुर होकर कहा—"परन्तु सावित्री, देखकर मक्खी निगलना आसान नहीं। क्या तुझे विश्वास है, कि वह तेरी सेवा-शुश्रूषा से अच्छा हो जायगा ?"

"हाँ, मुझे विश्वास है, कि मैं उन्हें बचा लूँगी। कवि बे-परवाह होते हैं, प्रायः पढ़ने-लिखने में लगे रहते हैं। मैं उन्हें जीवन के समस्त झञ्झटों से निश्चिन्त कर दूँगी। कहूँगी—पहले अपने स्वास्थ्य की ओर देखो, पीछे कविता भी हो लेगी। नौकरों के हाथ की रोटियाँ खाते हैं, खाया-पिया क्या तन लगेगा ? स्तुति करने को सभी हैं, सहानुभूति किसी में नाम को नहीं।"

बाबूजी पर मेरी इन बातों का बहुत ही प्रभाव हुआ। कुछ समय के लिये उनका मुँह बन्द हो गया। फिर बोले—"यह सब ठीक है, परन्तु कहने और करने में बहुत भेद है। मुझे सन्देह है, कि जो-कुछ तुम कह रही हो, उसे कर भी सकती हो, या नहीं ?"

मेरा मुख लाल हो गया—जैसे भरे-बाज़ार सिर से दुपट्टा उतर गया हो। फिर गरमाकर बोली—"मैं अपने वचनों के उत्तरदायित्व से अपरिचित नहीं। जो-कुछ कहा है, करके दिखा दूँगी।"

"यह सब भावना की बातें हैं, समय पर धुएँ की नाईं उड़ जाती हैं।"

"मेरे विचार में संसार भावनाओं पर ही जीता है।"

बाबूजी चुप हो गये, कोई उत्तर न सूझा। थोड़ी देर सिर झुकाकर सोचते रहे। तब एकाएक उठे, और मुझसे कुछ कहे-सुने बिना बाहर चले गये।

५

विवाह हो गया। वह बात झूठी निकली। उन्हें कोई रोग न था। यह सब किसी की दुष्टता थी। उनका स्वास्थ्य देखकर चित्त प्रफुल्लित हो जाता है। मुख पर लाली है, नेत्रों में ज्योति। मुझे देखते ही कली की नाईं खिल जाते हैं। मैंने कई कवियों के चरित्र पढ़े हैं, और एक दोष प्रायः सब में पाया है। वह यह, कि उनका आचरण कुछ इतना पवित्र नहीं होता। परन्तु उनके विषय में यह कल्पना करना भी पाप है।

वह बहुत ही शरमीले हैं; किसी पराई स्त्री के सामने आँख नहीं उठाते। वह इसे भी सदाचार से गिरा हुआ समझते हैं। मेरी कोई सहेली आ जाती, तो उठकर अन्दर चले जाते थे। मैं बहुतेरा समझाती हूँ। कहती हूँ, तुम मर्द हो, यदि स्त्री पर्दा नहीं करती, तो पुरुष क्यों करे?

परन्तु वह हँसकर डाल टाल देते हैं। मुझे उन पर पूरा-पूरा विश्वास है। मैं समझती हूँ, सब कुछ हो सकता है, परन्तु उनके मन में मैल नहीं आ सकता। ऐसा पुरुष मिल जाना मेरा सौभाग्य है। उन्होंने अपने-आपको मुझ पर छोड़ दिया है। घर-बाहर का स्याह-सफ़ेद सब मेरे ही हाथ में है। कपड़े तक स्वयं नहीं बदलते। यदि मैं न कहूँ, तो पूरा अठवाड़ा निकल जाता है, और उन्हें ध्यान भी नहीं आता कि कपड़े मैले हो गये हैं। उनके दूध का, फलों का, कमरे की सफ़ाई का मुझे ही प्रबन्ध करना पड़ता है। सोचती हूँ, यदि मेरे स्थान पर कोई दूसरी बे-परवा मनमानी करनेवाली स्त्री आ जाती तो क्या होता? घर में धूल उड़ने लगती। थोड़े ही दिनों में बीमार हो जाते। उन्हें अपने दफ़्तर की सफ़ाई का भी ध्यान नहीं। उसका भी मुझे ध्यान रखना पड़ता है। नौकर सिर चढ़ा रक्खे थे, अब ये सँभल गये हैं। ये निगोड़े आप-से-आप तो कोई काम करते ही नहीं। जब तक सिर पर न खड़े रहो, तब तक हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहते हैं। कभी कभी मुझे उन पर क्रोध भी आ जाता है। वे क्यों दबदबे से काम नहीं लेते? मैं चार दिन के लिए बाहर चली जाऊँ, तो घर में कीड़े रेंगने लगें।

एक दिन मैंने कहा—"सारे भारतवर्ष में तुम्हारी कविता की धाक बँधी हुई है, परन्तु क्या यह भी किसी को पता है कि तुम इतने बेपरवा, ऐसे आलसी हो?"

उन्होंने हँसकर उत्तर दिया—"तुम एक लेख न लिख दो।"

"बदनाम हो जाओगे।"

"इसमें कुछ भाग तुम्हें भी मिल जायगा।"

"मैं क्यों लेने लगूँ? तुम हँसकर टाल देते हो। तनिक सोचो तो सही, ऐसी बेपरवाही भी किस काम की?"

"मैंने तुम्हें घर की रानी बना दिया।"

मैंने धीरे-से कहा—"घर की रानी तो मैं बनी, परन्तु तुम अपने दफ़्तर की ओर तो ध्यान करो।"

"मैं तुम्हें अपना सुपरिण्टेण्डेण्ट समझता हूँ।"

मैं रूठकर चली गई। परन्तु हृदय आनन्द के हिलोरे ले रहा था; जिस प्रकार चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल पर तैरता है। दूसरे दिन प्रातः-काल मैं उनके दफ़्तर की ओर गई, तो दरवाज़े के साथ एक छोटा-सा बोर्ड लटकता देखा। उस पर लिखा था—

सावित्री देवी, बी० ए० सुपरिण्टेण्डेण्ट।

मैंने उसे जल्दी से उतारकर उनके सामने जा फेंका, और कहा, "ये शरारतें देख लोग क्या कहेंगे?"

उन्होंने मेरी ओर देखा तो मुस्कराकर भुजायें फैला दीं।

६

सन्ध्या का समय था। मैंने अपनी सब से बढ़िया पोशाक पहनी, और पास जाकर कहा—"बाहर चलोगे। घूम आयें?"

वे इस समय कविता में मग्न थे। धीरे-से बोले, "इस समय बात न करो। बड़ा विचित्र भाव सूझा है, उसको प्रकट करने के लिए शब्द ढूँढ़ रहा हूँ।"

मुझे विष-सा चढ़ गया। कैसे पुरुष हैं—सदा अपनी ही धुन में मग्न रहते हैं। इतना भी नहीं होता, मेरी किसी समय तो मान किया करें।

पहले मुझे देखकर प्रसन्न हो जाते थे; परन्तु अब तो ऐसा प्रतीत होता है, जैसे इनका हृदय प्रेम से शून्य हो गया है। हाँ, कविता में हृदय निकालकर रख देते हैं।

मेरी आँखों से आग बरसने लगी, मुँह से बोली—"सदा कविता ही सूझती रहती है, या किसी समय संसार का भी ध्यान आता है?"

"इस कविता से कवि-संसार में शोर मच जायगा।"

"तुम्हें मेरा भी ध्यान है, या नहीं?"

"यह अपने हृदय से पूछो।"

"मैं हृदय से नहीं पूछती, स्वयं तुमसे पूछती हूँ। तनिक आँखें उठाकर उत्तर दो न।"

"यह कविता देखकर फड़क उठोगी। ऐसी कविता मैंने आजतक नहीं लिखी।"

मैंने हताश-सी होकर कहा—"मेरी बड़ी इच्छा थी, कि आज थोड़ा घूम आती, इस कविता ने काम बिगाड़ दिया। जी चाहता है, काग़ज़ छीनकर दावात तोड़ दूँ।"

"दावात काग़ज़ की हानि साधारण बात है, परन्तु ये विचार फिर न मिलेंगे। आज अकेली चली जाओ।"

"मेरा मन नहीं मानता।"

उन्होंने हाथ से इशारा किया, और फिर झुक गये। मेरे हृदय में बर्छी-सी लगी। उन्हें कविता का ध्यान है, मेरा नहीं। संसार में नाम चाहते हैं, परन्तु घर में प्रेम नहीं चाहते। यहाँ से चली, तो हृदय पर बोझ-सा प्रतीत हुआ। अकेली सैर को निकल गई, परन्तु चित्त उदास

था; सैर में जी न लगा। हारकर एक पुल पर बैठ गई, और अपनी दशा पर रोने लगी। इन आँसुओं को देखकर पहले बाबूजी व्याकुल होजाते थे। विवाह हुआ, तो मेरे सुख-दुःख का भार एक कवि को सौंपा गया। परन्तु अब इन आँसुओं को देखनेवाला, इन पर कलेजा मलनेवाला कोई न था। मुझे ऐसा प्रतीत होता था, जैसे मेरी नाव नदी के धार में वेग से बही जाती है, और उस पर कोई मल्लाह नहीं। मैं अपनी बेबसी पर कुढ़ती थी। कभी-कभी आँख उठाकर देख भी लेती थी, कि कदाचित् आ रहे हों। प्रेम आशा नहीं छोड़ता।

मेरी आँखें जल की ओर थीं। सोचती थी, यदि कोई शक्ति मन्त्र-बल से मुझे जल की तरङ्ग बना दे, तो गङ्गा की तरङ्गों में खेलती फिरूँ। एकाएक आँखें झपक गईं, निद्रा देवी ने इच्छा पूरी कर दी। मैं गङ्गा में गिर गई। बहुतेरे हाथ-पाँव मारे, पर निकल न सकी—प्रवाह में बहने लगी।

सुधि आई, तो मैं घर पर थी। वे सामने खड़े थे, कुर्सी पर एक डॉक्टर बैठा था।

उन्होंने कहा—"अच्छी बचीं, इनका धन्यवाद करो। ये मेरे मित्र डॉक्टर मणिराम हैं। आजकल काशी में इनके नाम की पूजा होती है। नदी में न कूद पड़ते तो, तुम्हारा बचना असम्भव था।"

मैं धीरे-धीरे उठकर बैठ गई। साड़ी को सिर पर कर लिया, और डॉक्टर साहब की ओर देखा, मगर आँखें न मिल सकीं। मैंने 'परमात्मा आपका भला करे'—कहा, और आँखें झुका लीं। परन्तु हृदय में हलचल मची हुई थी। चाहती थी, ये उठकर चले जायँ। मेरा विचार था, इससे

मेरा धीरज वापस आ जायेगा। परन्तु जब वे चले गये, तब जान पड़ा, मैं भूल पर थी। व्याकुलता बढ़ गई। पानी की सैर को गई थी, आग ख़रीद लाई।

७

मणिराम—

रात हुई, परन्तु मेरी आँख में नींद न थी। उसे सावित्री की आँखों ने चुरा लिया था। उसमें कैसा आकर्षण था, कैसा बेगमी थी, जैसे कोई क़ैदी लोहे के जङ्गले के अन्दर से स्वतन्त्र सृष्टि को देखता है और आह मारकर पृथ्वी पर बैठ जाता है। उसकी आँखें बार-बार सेते और उठती थीं, परन्तु वह उन्हें उठने न देती थी, जिस प्रकार माँ अपने अबोध बालक को पराये खिलौने पकड़ते देखकर गोद में उठा लेती है। उस समय बालक किस प्रकार मचलता है, कैसा अधीर होता है; चाहता है, कि माँ छोड़ दे तो खिलौना लेकर भाग जायँ। यही दशा सावित्री की थी। सत्यवान वहीं खड़ा रहा। यदि दो मिनट के लिये भी टल जाता तो जी भरकर देख लेता। कैसी सुन्दर है, जैसे चम्पा का फूल!

दूसरे दिन दूकान को जा रहा था, तो उसे दरवाज़े पर खड़ा पाया। उसने मेरी ओर प्यासे नयनों से देखा और मुस्करा दिया। इस मुस्कराहट में बिजली थी। मेरा धैर्य छूट गया। दूकान पर जी न लगा। सारे दिन साँझ की प्रतीक्षा करता रहा। पल-पल गिनते दिन समाप्त हुआ और मैं घर को वापस लौटा। पैर भूमि पर न पड़ते थे। इस समय मैं ऐसा प्रसन्न था, जैसे किसी को कुछ मिलनेवाला हो। सत्यवान के मकान के पास पहुँचा, तो पैर आप-से-आप रुक गये, आँखें दरवाज़े पर जम

गई। सहसा वह अन्दर से निकली, और दरवाज़े के साथ लगकर खड़ी होगई। उसने मुँह से कुछ न कहा, परन्तु आँखों ने हृदय के पर्दे खोल दिये। इन आँखों में कैसा प्रेम था, कैसा चाव और उसके साथ स्त्रियों की स्वाभाविक लज्जा। चटनी में खटाई के साथ शक्कर मिली हुई थी। मैं मतवाला-सा होगया, और क्रमता-क्रामता घर पहुँचा,—जैसे किसी ने शत्रु का दुर्ग विजय कर लिया हो।

कई दिन बीत गये। नयनों का प्रेम-पाश दृढ़ होता गया। अब उसे देखकर जी न भरता था। ओस की बूँदों से किसी की प्यास कब बुझी है? तृष्णा अपने पैर आगे बढ़ा रही थी। अन्तःकरण सावधान करता था, जैसे भय के समय कोई लाल झण्डी दिखा दे। परन्तु कामदेव उस ड्राइवर के समान परवा न करता था, जिसने शराब पी ली हो। यह शराब साधारण शराब न थी। यह वह शराब थी, जो धर्म-कर्म सब चूल्हे में झोंक देती है और मनुष्य को बलात् भय के मुँह में डाल देती है। यह काम-वासना की शराब थी।

एक दिन बहुत रात गये घर लौटा। चित्त दुखी होरहा था, जैसे कोई भारी हानि होगई हो। परन्तु सावित्री दरवाज़े पर ही खड़ी थी। मैं गद्गद, प्रसन्न होगया। घाटा पूरा होगया। सारा क्रोध और दुःख दूर होगया। सावित्री ने कहा—"आज आपको बड़ी देर होगई।"

परन्तु आवाज़ थरथरा रही थी।

मेरा कलेजा धड़कने लगा। शरीर पसीना-पसीना होगया। छात्रावस्था में इसने सैकड़ों मुर्दे चीरे थे। उस समय भी यह अवस्था न हुई थी। एक-एक अङ्ग काँपने लगा। मैंने बड़ी कठिनता से अपने-आपको

सँभाला, और उत्तर दिया—"जी हाँ, कुछ मरीज़ देखने चला गया था, आप दरवाज़े पर खड़ी हैं, क्या किसी की प्रतीक्षा है ?"

"हाँ, उनकी राह देख रही हूँ।"

"क्या आज कोई कवि-सम्मेलन है ?"

"कवि-सम्मेलन तो नहीं। एक जलसे में गये हैं, वहाँ उन्हें अपनी नवीन कविता पढ़नी है।"

"तो बारह बजे के पहले न लौटेंगे।"

सावित्री ने तृषित नयनों से मेरी ओर देखा, और एक मधुर कटाक्ष से ठण्डी साँस भरकर कहा—"घर में जी नहीं लगता।"

"अभी तो आठ ही बजे हैं।"

"जी चाहता है, कि घड़ी की सुइयाँ घुमा दूँ।"

मेरे पैर न उठते थे। ऐसा प्रतीत होता था, मानो कोई विचित्र नाटक होरहा हो। परन्तु कोई देख न ले, इस विचार से पैर उठाने पड़े। इसमें धर्म का विचार हो, या न हो, परन्तु निन्दा का विचार अवश्य होता है। सावित्री ने मेरी ओर ऐसी आँखों से देखा, मानो कह रही है—'क्या तुम अब भी नहीं समझे ?'

मैं आगे बढ़ा, परन्तु हृदय पीछे छूटा जाता था। वह मेरे बस में न था। घर जाकर चित्त उदास होगया। सावित्री की मूर्ति आँखों में फिरने लगी। उसकी मधुर वाणी कानों में गूँजने लगी। मैं उसे भूल जाना चाहता था। मुझे डर था, कि इस कूचे में पैर रखने से निन्दा होगी। मुझ पर उँगलियाँ उठने लगेंगी। लोग मुझे भलामानस समझते हैं। यह करतूत मेरा सर्वनाश कर देगी। लोग चौंक उठेंगे। कहेंगे—'कैसा

भलामानस प्रतीत होता था, परन्तु पूरा गुरुघण्टाल निकला !' प्रैक्टिस भी कम हो जायगी। वह विवाहिता स्त्री है। उसकी ओर मेरा हाथ बढ़ाना बहुत ही अनुचित है। परन्तु ये सब युक्तियाँ, सब विचार जल की तरङ्गें थीं। जितनी जल्दी उठती हैं, उससे जल्दी टूट जाती हैं। वायु का हल्का-सा थपेड़ा उनका चिन्ह तक मिटा देता है। मनुष्य कितना दुर्बल, कितना बेबस है !

दूसरे दिन मैं सत्यवान के घर पहुँचा। परन्तु पैर लड़खड़ा रहे थे—जैसे नया-नया चोर चोरी करने जा रहा हो। उस समय उसका हृदय किस प्रकार धड़कता है। कहीं कोई देख न ले ! मुँह का रङ्ग भेद न खोल दे। कभी-कभी भलमनसी का विचार भी आ जाता था। पैर आगे रखता था, परन्तु पीछे हट जाता था। परन्तु मैंने एक छलाँग भरी और अन्दर चला गया। इस समय मेरे होंठ सूख रहे थे।

सत्यवान ने मुझे देखा, तो कुर्सी से उछल पड़ा, और बड़े आदर से मिला। देर तक बातें होती रहीं। सावित्री भी पास बैठी थी। मेरी आँखें बराबर उसके मुख पर अटकी रहीं। पहले चोर था, अब डाकू बना। सावित्री की झिझक भी दूर हो गई। बात-बात पर हँसती थी। अब उसे मेरी ओर देखने में सङ्कोच न था। लज्जा के स्थान पर चपलता आ गई थी। वहाँ से चला तो ऐसा प्रसन्न था, जैसे इन्द्र का सिंहासन मिल गया हो। तत्पश्चात् रास्ता खुल गया। दिन में कई बार सावित्री के दर्शन होने लगे। रात को दो-दो घण्टे उसके पास बैठा रहता। मेरा और सावित्री का आँखों-आँखों ही में मन मिल गया। पर सत्यवान को कुछ पता न था। कल्पना-सागर से विचारों के मोती निकालनेवाला

कवि, बहुत दूर तक दृष्टि दौड़ानेवाला तत्त्वदर्शी विद्वान् अपने सामने की घटना को नहीं समझता था। उसकी कविता दूसरों को जगाती थी, परन्तु वह स्वयं सोया हुआ था;—उस अनजान यात्री के समान जो नौका में बैठा दूर के हरे-हरे खेतों और ऊँची-ऊँची पहाड़ियों को देख-देखकर झूमता है, परन्तु नहीं जानता कि उसकी नाव भयानक चट्टान के निकट पहुँच रही है। सत्यवान विनाश की ओर बढ़ रहा था।

८

सावित्री

कितना अन्तर है। मणिराम की आँखें हृदय में आग लगा देती थीं। निकट आते तो मैं इस प्रकार खिंची जाती, जैसे चुम्बक लोहे की सूई को खींच लेता है। कैसे भोले-भाले लगते थे, जैसे मुख में जीभ ही न हो। परन्तु मेरे पास आकर इस प्रकार चहचहाते हैं, जैसे बुलबुल फूल की टहनी पर चहचहाती है। उनके बिना अब जी नहीं लगता था। मकान काटने को दौड़ता था। चाहती थी, मेरे पास ही बैठे रहें। किसी ने मुँह से तो नहीं कहा, परन्तु आँखों से पता चला कि महल्ले की स्त्रियाँ सब कुछ समझ गई हैं। मेरी ओर देखतीं तो मुस्कराने लगतीं। इतना ही नहीं, अब वह भी अपने विचारों से चौंक उठे। कवि थे, कुछ मूर्ख नहीं। बेपरवा थे, अब हाथ मल-मलकर पछताने लगे। संसार जीतते थे, परन्तु घर गवाँ बैठे। सदैव उदासीन रहते थे। रात को सो नहीं सकते थे। बात करती तो काटने को दौड़ते। आँखों में लहू उतर आता था। न खाने की ओर ध्यान था, न पीने की ओर। कई-कई दिन स्नान न करते थे। अब मुझे न उनके कपड़े बदलवाने का शौक था, न उनके

खाने-पीने का प्रबन्ध करती थी। कभी इन बातों में आनन्द आता था, अब इतने से जी घबराता था। कुछ दिन पश्चात् प्रयाग के एक प्रसिद्ध मासिक-पत्र में उनकी एक कविता प्रकाशित हुई, जिसका पहला पद था—

भयो क्यों अनचाहत को सङ्ग।

कविता क्या थी, अपनी अवस्था का चित्र था। मेरी आँखों से आग बरसने लगी। शेरनी की नाईं बिखरी हुई उनके सामने चली गई और बोली—"यह क्या कविता लिखने लगे हो अब?"

उन्होंने मेरी ओर ऐसी आँखों से देखा, जो पत्थर को भी मोम कर देतीं। शोक और निराशा का पूरा नमूना थीं। धीरे-से बोले—'क्या है?'

"यह कविता पढ़कर लोग क्या कहेंगे?"

"कवि जो कुछ देखता है, लिख देता है। इसमें मेरा दोष क्या है?"

मैंने तनिक पीछे हटकर कहा—"तुमने क्या देखा है?"

"सावित्री, मेरा मुख न खुलवाओ। अपने अंचल में मुँह डालकर देख लो, मुझसे कुछ छिपा नहीं।"

मैंने क्रोध से कहा—"गालियाँ क्यों देते हो?"

"गालियाँ इससे लाख गुना अच्छी होतीं।"

"तो तुम्हें मुझ पर सन्देह है?"

"सन्देह होता तो रोना काहे को था, अब तो विश्वास हो चुका। कान धोखा खा सकते हैं, परन्तु आँखें भूल नहीं करतीं। मुझे यह पता न था कि मेरा घर इस प्रकार चौपट हो जायगा।"

मुझ पर घड़ों पानी पड़ गया। पर प्रकृति, जहाँ दुराचार को आशा

होता है, वहाँ निर्लज्जता को पहले भेज देती है। ढिठाई से बोली—तुम कविता लिखो, तुम्हें किसी से क्या ?"

"घावों पर नमक छिड़कने आई हो ?"

"मेरी ओर देखते ही न थे। उस समय बुद्धि कहाँ चली गई थी।"

"मैंने तुम्हें पहचाना नहीं था। नहीं तो आज हाथ न मलता।"

"परन्तु लोग तो तुम्हारी वाहवा कर रहे हैं। जिस पत्र में देखो तुम्हारी ही चर्चा है, पढ़कर प्रसन्न हो जाते होगे।"

यह सुनकर वे खड़े होगये। नेत्रों में पागलों की-सी लाली चमक रही थी, चिल्लाकर बोले—"अपनी मौत को न बुलाओ, मैं इस समय पागल हो रहा हूँ।"

"तो क्या मार डालोगे ? बहुत अच्छा यह भी कर डालो। अपने जी की इच्छा पूरी कर लो।"

उन्होंने एक बार मेरी ओर देखा, जिस प्रकार सिंह अपने आखेट को मारने से पहले देखता है, और झपटकर आलमारी की ओर बढ़े। मेरा कलेजा धड़कने लगा। दौड़कर बाहर निकल गई। मेरा विचार था, वे मेरे पीछे दौड़ेंगे, इसलिए घर के बाहर मैदान में जा-खड़ी हुई। परन्तु साँस फूली हुई थी। मृत्यु को सामने देख चुकी थी। परन्तु वे बाहर न आये। थोड़ी देर पीछे 'दन'-का शब्द सुनाई दिया। मैं दौड़ती हुई अन्दर चली गई। देखा—वे फ़र्श पर पड़े तड़प रहे थे। मृत्यु का दृश्य देखकर मैं डर गई। परन्तु मुझे दुःख नहीं हुआ। कहीं मुक़द्दमे की लपेट में न आ जाऊँ, यह चिन्ता अवश्य हुई।

दो मास बीत गये थे। मैं अपने आँगन में बैठी मणिराम के लिए

नेकटाई खुल रही थी। मैंने लोकाचार की परवा न करके उनसे विवाह का निश्चय कर लिया था। लोग इस समाचार से चौंक उठे थे। परन्तु मैं उनके मरने से प्रसन्न हो रही थी। समझती थी, जीवन का आनन्द अब आयेगा। अचानक नौकर ने आकर डाक मेरे सामने रख दी। इसमें एक पैकेट भी था। मैंने पहले उसे खोला। यह मेरे मृतक पति की कविताओं का संग्रह था। मैंने एक-दो कविताएँ पढ़ीं। हृदय में हलचल मच गई। कैसे ऊँचे विचार थे, कैसे पवित्र भाव, संसार की मलिनता से रहित! इनमें छल न था, कपट न था। इनमें आध्यात्मिक सुख था, शान्ति थी। मेरी आँखों से आँसू बहने लगे। एकाएक तीसरे पृष्ठ पर दृष्टि गई। यह समर्पण का पृष्ठ था। मेरा लहू जम गया। पुस्तक मेरे नाम समर्पित की गई थी। एक-एक शब्द से प्रेम में लपट आ रही थी। परन्तु इस प्रेम और मणिराम के प्रेम में कितना अन्तर था। एक चन्द्रमा की चाँदनी के समान शीतल था, दूसरा अग्नि के समान दग्ध करनेवाला। एक समुद्र की नाईं गहन-गम्भीर, दूसरा पहाड़ी नाले के समान वेगवान। एक सचाई था—परन्तु निःशब्द, दूसरा झूठ था—पर बक-बोला। मेरी आँखों के सामने से पर्दा उठ गया। सतीत्व के उच्च शिखर से कहाँ गिरने को थी, यह मैंने आज अनुभव किया। उठते हुए पैर रुक गये! मैंने पुस्तक को आँखों से लगा लिया और रोने लगी।

इतने में मणिराम अन्दर आये। मुख आनेवाले आनन्द की कल्पना से लाल हो रहा था। उनके हाथ में एक बहुमूल्य माला थी, जो उन्होंने मेरे लिए बम्बई से मँगवाई थी। वह दिखाने आये थे। मुझे रोते देखकर ठिठक गये, और बोले—"क्यों रो रही हो?"

"मेरी आँखें खुल गई हैं।"

"यह अपनी माला देख लो। कल विवाह है।"

"अब विवाह न होगा।"

"सावित्री, पागल हो गई हो?"

"परमात्मा मुझे इसी प्रकार पागल बनाये रक्खे।"

मणिराम आगे बढ़े। परन्तु मैं उठकर पीछे हट गई, और दरवाज़े को ओर संकेत करके बोली—"उधर।"

उस रात मुझे ऐसी नींद आई, जैसी इससे पहले कभी न आई थी। मैंने पति को ठुकरा दिया था, परन्तु उनके प्रेम को न ठुकरा सकी। मनुष्य मर जाता है, उसका प्रेम जीता रहता है।

अमरीकन रमणी

१

मैं उन सौभाग्यवती स्त्रियों में से थी, जो अपने-आप पर ईर्षा करती हैं। स्वास्थ्य, सौन्दर्य्य और सम्पत्ति ऐसी तीन वस्तुएँ हैं, जो संसार की बहुमूल्य वस्तुएँ समझी जाती हैं। परमेश्वर ने मुझे यह तीनों वस्तुएँ दी थीं, और इतना ही नहीं, मेरे नाम के डंके अमरीका के एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक बज रहे थे। मैं अमरीका की सर्वोत्कृष्ट एक्ट्रेस थी। समाचार-पत्रों में मेरी प्रशंसा के पुल बाँधे जाते थे। लोग मेरा नाम सुनकर आनन्द में मतवाले होजाते थे। 'यूनिवर्सल थिएट्रिकल कम्पनी' के डाइरेक्टर मेरे पार्ट पर लट्टू थे। मैं जब स्टेज पर जाती, तो लोग गुल-दस्तों और फूलों के हारों से मुझे लाद देते थे, और उसके पश्चात् चित्र-वत् मौन होजाते थे। मैं जब बोलती, तो लोग अपने-आपको भूल जाते थे। मेरा एक-एक कटाक्ष, मेरे पाँवों की एक-एक थिरकन्त, मेरी अंगमुद्रा

का एक-एक शब्द, उपस्थित जनता के हृदयों में हलचल मचा देता था। वे मेरी ओर इस प्रकार तृषित नेत्रों से देखते थे, जिस प्रकार चकोर का बच्चा चन्द्रमा को देखता है। लोगों के इस भाव को देखकर मेरा हृदय आनन्द से हिलोरें लेने लगा; जैसे वायु में कमल-पत्र हिलता है।

जब पहले-पहल मैंने 'युनिवर्सल कम्पनी' में नौकरी की, उस समय उसका कोई विशेष नाम न था, परन्तु मेरे साथ मिलने से उसके अन्दर नया जीवन आ गया, और वह देश की बड़ी-बड़ी कम्पनियों में गिनी जाने लगी। इसके पश्चात् ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, मेरी कीर्ति और लोक-प्रियता बढ़ती गई। यहाँ तक कि अमरीका के प्रसिद्ध दैनिक समाचारपत्र 'ऑब्ज़रवर' ने एक लम्बा लेख लिखा, और मुझे नाटक के संसार का एक 'नया सितारा' लिखा। इतना ही नहीं, उसने मेरे कई फ़ोटो छापे, और मेरे आर्ट पर अत्यन्त साहसवर्द्धक रिमार्क दिये।

इस लेख का निकलना था, कि मेरी कीर्ति को चार पर लग गये। 'युनिवर्सल कम्पनी' अब अमरीका की सब से बड़ी कम्पनी थी। उसमें दर्शकों की भीड़ रहती थी। उसमें प्रायः लोगों को टिकट न मिलने के कारण निराश होकर वापस लौटना पड़ता था। उस समय उनके मुख पर नैराश्य टपकता था। डाइरेक्टर का दिल बढ़ा हुआ था, उसने टिकट बढ़ा दिया, परन्तु तमाशाइयों में फिर भी कमी न हुई। हमारी आय दिन-पर-दिन बढ़ने लगी। यहाँ तक कि कम्पनी की ख्याति के लिये अमरीका अपर्याप्त सिद्ध हुआ। एक दिन मैंने हँसते-हँसते कम्पनी के प्रोप्राइटर से कहा—"क्यों न यूरोप हो आयें? वहाँ भी नाटकों के शौक़ीन थोड़े नहीं हैं।"

डोम्राइटर ने मेरी ओर ऐसी भावपूर्ण दृष्टि से देखा, मानों मैंने अञ्जील की कोई पंक्ति पढ़ दी हो, और कहा—"अवश्य चलना चाहिये।"

इसके एक सप्ताह पश्चात् हमारी कम्पनी यूरोप को रवाना हुई।

२

इँगलिस्तान के तट पर पाँव रखते ही मुझे अभिमान होने लगा। अमरीका से बाहर निकलने का यह पहला अवसर था। इससे पहले मैं कभी यूरोप न आई थी। परन्तु इँगलिस्तान पहुँचकर मालूम हुआ, कि मेरी कीर्ति मुझ से पहले वहाँ पहुँच चुकी है। तट पर कई समाचारपत्रों के रिपोर्टर विद्यमान थे, जो मुझ से इण्टरव्यू (Interview) के लिये समय निश्चित करने आये थे। उनमें कुछ अपने साथ कैमरा भी लेते आये थे। इससे उनका प्रयोजन अपने पत्रों में मेरा फ़ोटो देना था। वे पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता में एकसाथ मुझ पर टूट पड़े। इससे मैं घबरा गई। परन्तु इस घबराहट में मानसिक सुख व मस्ती का आनन्दमय सम्मिश्रण था। जिस प्रकार मनुष्य कभी-कभी अत्यन्त आनन्द की अवस्था में रोने लगता है, उसी प्रकार मैं इस अभ्यर्थना के जोश को न सम्हाल सकी। मैं घबराकर दूर हट गई, और एक्ट्रेसों के-से कटाक्ष से बोली—"मैं इस समय फ़ोटो किसी को न दूँगी। मेरा मन अभी ठिकाने नहीं। कल प्रातःकाल ग्राण्ड होटल में आओ। वहाँ मैं तुम्हें समय दे सकूँगी।"

दूसरे दिन समाचारपत्र मेरी प्रशंसा से भरे हुए थे। किसी ने मुझे काफ़ की परी लिखा, किसी ने स्वर्ग की अप्सरा। किसी ने मेरे गोरे रङ्ग की प्रशंसा की, किसी ने रूप-लावण्य की। एक ने तो यहाँ तक लिखा;

दिया, कि मिस मेरीन पार्थिव जगत् की मालूम नहीं होती; उसे देखकर मनुष्य चकित रह जाता है। एक और समाचारपत्र ने लिखा था, मिस मेरीन अपने व्यावहारिक जीवन में भी अभिनय करती है! उसे देखकर यह भविष्यवाणी कही जा सकती है, कि प्रकृति ने उसे रङ्गमञ्च पर शासन करने के लिये जन्म दिया है। एक दूसरे समाचारपत्र ने लिखा था, मिस मेरीन संसार-भर की सर्वोत्कृष्ट एक्ट्रेस है, जिसके खेल निस्सन्देह इँग्लिस्तान के नाटक-संसार में कई नवीन भाव प्रवेश करने के कारण होंगे। मैं इन नोटों को पढ़कर हँसती थी।

खेल आरम्भ हुए। मैं अत्युक्ति नहीं करती, लोगों ने हमारी आशाओं से बढ़कर सम्मान किया। रात को ऐसा प्रतीत होता था, मानो सारा नगर थियेटर-हॉल में उमड़-आने को है। जब मैं स्टेज पर आती, तो लोग अन्धाधुन्ध तालियाँ पीटकर मेरा स्वागत करते। साथ ही स्टेज फूलों और गुलदस्तों से भर जाता। परन्तु स्वागत केवल फूलों तक ही न था, उसके साथ नोट बँधे होते थे। सौन्दर्य्य में जादू है, यह मुझे उस समय मालूम हुआ।

थोड़े ही दिनों में मेरे चाहनेवालों की संख्या बढ़ गयी। उनमें एक भारतीय नवयुवक मदनलाल विशेषतया उल्लेखनीय है। मैंने सुन्दर-से-सुन्दर अमरीकन देखे हैं। परन्तु ऐसी मनोहर, ऐसी सुन्दर छवि एक ही बार देखी है। वह चेहरे-मोहरे से कोई राजकुमार जान पड़ते थे। मैंने कई करोड़पति देखे हैं, जो आन-की-आन में सहस्रों ख़र्च कर सकते हैं, परन्तु उनकी बात-बात में अभिमान की गन्ध आती है। लेकिन मदनलाल की उदारता में ओछापन न था। वे नाटक में मेरी ओर कभी नोट न

फेंकते थे; उन्हें एक गुलदस्ता व एक फूल तक फेंकना सौभाग्य थी। वे जब होटल में मेरे पास आते, उस समय भी अपनी धनाढ्यता का दिखावा न करते। वे इसे भारतीय सभ्यता से गिरा हुआ समझते थे। हाँ, जब बाज़ार में मुझे कोई वस्तु ख़रीदनी होती तो बेपरवाही से रुपया दे देते, और मेरे धन्यवाद देने से पहले ही मुस्कराकर कहते 'इसकी आवश्यकता नहीं।'

मैंने वाहवा के लिए ख़ज़ाने लुटवानेवाले देखे हैं। मैंने नाम के लिये जीवन देते हुए भी देखे हैं, परन्तु इस प्रकार एकान्त में अपना रुपया लुटानेवाला यही भारतीय नवयुवक देखा है, जो उस समय आगे बढ़ता था, जब उसे निरखनेवाली कोई आँख निकट न होती थी।

३

इस प्रकार कई मास बीत गये। मदनलाल की चाहना में रत्ती-भर भी अन्तर न पड़ा। वे रात को नाटक में आते, दिन को होटल में। यह उनका दैनिक कृत्य था, जिसमें कभी चूक न होती थी। उनकी आँखें अधीर थीं, मुख चिन्तित। प्रायः बैठे-बैठे ठण्डी साँस भरकर चौंक उठते। मैंने कई बार इसका कारण पूछने की चेष्टा की, परन्तु वे मौन साधे रहे। जान पड़ता था, उनके हृदय में कोई विशेष बात है, जिसे वे मुझ पर प्रकट करना चाहते थे। परन्तु जब वे बोलने लगते, तो कोई शक्ति मुँह बन्द कर देती, वे हिचकिचाकर चुप हो जाते। वे इतने लज्जालु और सादे थे कि एक स्त्री के सामने भी अपना जी न खोल सकते थे; यद्यपि यह कुछ भी कठिन न था। मैं उनकी दशा को समझ गयी, और प्रत्येक स्त्री, जो थोड़ी-सी भी बुद्धि रखती है, इस बात को तुरन्त भाँप सकती

है। परन्तु मेरे कान उनके प्रेम के दो शब्दों के भूखे थे! अमरीकन स्त्री इतना प्रेम को नहीं चाहती, जितना प्रेम के शब्दों को चाहती है। 'मैं तुम्हें चाहता हूँ' कैसा मधुर वचन है! कैसा मनोहारी विचार! स्त्री के हृदय को मुग्ध करदेनेवाला जादू! उसकी आत्मा में हलचल मचा देनेवाला ख्याल! शनैः-शनैः मेरे हृदय में एक नये विचार ने सिर निकाला। मदनलाल के आने में तनिक देर हो जाती तो चित्त व्याकुल हो जाता। रात को नाटक में वे दिखाई न देते तो कण्ठस्थ किये हुए शब्द होंठों पर जम जाते। वे दिखाई दे जाते, तो कलेजा धड़कने लगता, आँखें नृत्य करने लगतीं। मुझे ऐसा मालूम होने लगा, मानों मदनलाल ने मुझपर जादू कर दिया है। मैं उनके बिना प्रसन्न न होती। उनकी बातचीत मेरे नीरस जीवन में रस का सञ्चार कर देती थी। मैंने सैकड़ों नवयुवक देखे थे, परन्तु जो बात मदनलाल में थी वह किसी में न थी। वे मुझ पर मुग्ध थे। मुझे देखे बिना एक दिन टिकना भी उनके लिए दुष्कर था। उनके नेत्रों में प्रेम की पिपासा थी और हृदय में व्याकुलता। परन्तु ऐसा होते हुए भी उन्होंने आत्माभिमान को हाथ से जाने नहीं दिया। उन्होंने कभी भावुकता से भरे हुए वचन नहीं कहे। एकान्त के अवसर आये और चले गये, परन्तु मदनलाल ने उनसे लाभ उठाने की चेष्टा नहीं की। उनके इन गुणों ने मेरे हृदय में अपना घर बना लिया। एक भारतीय नवयुवक प्रेम की जलन को किस शान्ति और धीरज के साथ सहन कर सकता है—यह मुझे पहला अनुभव हुआ। विचार आया, जहाँ के पुरुष इतने साहसवाले हैं, वहाँ की स्त्रियों की क्या दशा होगी?, मेरा मन वश में न रहा। प्रेम के प्रकट करने में सदैव स्त्रियाँ पुरुषों पर

विजय पाती रही हैं। मैं एक भारतीय से परास्त हुई और एक दिन टूटे-फूटे वचनों में अपना हृदय मदनलाल के सामने रख दिया।

मदनलाल का मुखमण्डल अनार के फूल के समान लाल हो उठा; मानों कोई अनहोनी बात हो गयी हो। जिस प्रकार किसी कन्या के मुख पर विवाह की बात को सुनकर लज्जा की लाली दौड़ जाती है, वही अवस्था मदनलाल की हुई। मेरे आश्चर्य की कोई सीमा न थी, परन्तु मेरा हृदय विवश था। मैंने अपना वाक्य फिर दोहराया—"मदन-लाल, जानते हो, तुम्हारे बिना मेरी क्या अवस्था होती है?"

मदनलाल को सहसा बोलने की शक्ति मिल गई, सिर झुकाकर बोले—"मेरीन, मैंने सुना था कि भारतीय पुरुष स्त्रियाँ हैं और अमरीका की स्त्रियाँ पुरुष। आज इसका प्रमाण मिल गया।"

क्या रसीला वचन था! हृदय की अवस्था का सच्चा चित्र! मेरे रोम-रोम में आनन्द की लहर उठने लगी। जिस प्रकार फूल में शहद छिपा रहता है, इसी प्रकार इस वाक्य में प्रेम की स्वीकृति छिपी हुई थी। कौन कहता है, भारतीय असभ्य हैं? जो अपने प्रेम की अवस्था को ऐसे सभ्य शब्दों में प्रगट कर सकते हैं, जो अपने हिये की लगी को कई मास गुप्त रख सकते हैं, उनको असभ्य कहना घोर अन्याय नहीं तो क्या है?

मैं सोफ़े पर बैठी थी। मेरा हृदय अपने-आपे में न रहा, और जोश से कान में पड़े हुए मोती की नाईं काँपती हुई बोली—"तो तुम मुझे चाहते हो,—प्यार करते हो?"

मदनलाल के नेत्रों में आनन्द की झलक थी, परन्तु वे पागल नहीं

हो गये। उनके मुखमण्डल से ऐसा प्रतीत होता था, मानों उनके हृदय में विचारों की उथल-पुथल हो रही है, परन्तु उन्होंने अपने-आपको वश में रखा और धीरे-से उत्तर दिया—"इसका उत्तर मेरी आँखों से पूछो।"

मैंने हँसते हुए आगे बढ़कर उनकी आँखों में झाँककर देखा और कहा—"वहाँ तो मैं बैठी हूँ।"

"कहाँ ?"

"तुम्हारी आँखों में।"

मदनलाल ने मेरे हाथ पकड़ लिये। इस समय उनका अङ्ग-अङ्ग थर्रा रहा था। वह बोले—"मेरीन, डियर ! तुम मुझपर दोष दे रही हो, जो कहती हो कि तुम केवल मेरी आँखों में ही बस रही हो! यदि अच्छी तरह देखो तो मेरे शरीर के एक-एक परमाणु में, मेरे रक्त के एक-एक बिन्दु में, मेरे विचार की एक-एक तरङ्ग में तुम विद्यमान हो। मेरा हृदय तक तुम्हारी भेंट हो चुका है। मेरे स्वप्न तुम्हारी स्मृति के अर्पण हो चुके हैं। मेरा सुख तुम्हारी याद में लीन हो गया है!"

जिस प्रकार नदी का बाँध खुल जाने से जल पूर्ण वेग से बहने लगता है, उसी प्रकार मदनलाल प्रेम के प्रवाह में बह गये।

इस समय का यह प्रेम पर वक्तृता करनेवाला नवयुवक उस पहले 'लज्जालु', 'चुपचाप', 'सीधे-सादे' मदनलाल से कितनी दूर, कितना परे था!

मदनलाल बैठ गये। इस समय उनका मुखमण्डल प्रशान्त था; जैसे तूफ़ान के पश्चात् समुद्र शान्त हो जाता है। मैंने उनकी ओर देखा, उन्होंने मेरी ओर। इन दृष्टियों में प्रेम के दफ़्तर छिपे थे। मैं प्रेम

के रङ्ग में रँगी गयी। मैं अपने-आप पर ईर्षा करती थी और समझती थी कि ऐसे नवयुवक के प्रेम को जीत लेना एक भारी सफलता है। इन दिनों मेरे एक्टिङ्ग की धूम मच गयी। मैं जोश में भरी हुई स्टेज पर जाती थी, और दर्शकों के हृदयों में हलचल मचा देती थी। वह दिन मेरे जीवन के सुनहरे दिन थे, जिन पर संसार-भर के सारे ऐश्वर्य्य निछावर किये जा सकते हैं।

मैं जिस-जिस नगर में गयी, मदनलाल मेरे साथ गये। कभी उन्होंने मुझ पर जादू किया था, अब उन पर मेरा जादू चल रहा था। वे मेरे रूप पर मुग्ध हो गये, और अपना देश, उद्देश्य, काम सब कुछ भूल बैठे; जिस प्रकार बालक स्कूल को जाते समय कोई तमाशा देखकर स्कूल का खयाल भूल जाता है। उनके पास रुपए का टोटा न था। वे इस प्रकार खुले-हाथों खर्च करते थे, मानों करोड़पति हों और जो घटनायें पीछे हुईं, उन से जान पड़ा कि वे वास्तव में करोड़पति थे।

इसी प्रकार कुछ वर्ष बीत गये। मेरा हृदय मदनलाल से उचाट हो गया। उन्हीं दिनों एक बड़े धनाढ्य बूढ़े सौदागर से मेरा परिचय हुआ। वह वस्तुतः अमेरिका का रहनेवाला था; इँग्लिस्तान में कारोबार के लिए आया हुआ था। अब वह बहुत-सा रुपया कमाकर वापस जानेवाला था। मुझे देखकर वह लट्टू हो गया। मेरी दृष्टि उसके रुपए पर पड़ी। मदन-लाल के पास अब रुपए का टोटा होने लगा था। मैंने इस धनाढ्य बूढ़े की ओर मन दिया, और अमेरिका पहुँचते ही उस से विवाह कर लिया।

४

इसके पश्चात् मैंने स्टेज छोड़ दिया, और न्यूयॉर्क में बड़ी आन-बान

से जीवन बिताने लगी। परन्तु मदनलाल का जीवन दुःखमय हो गया। उन्हें आशा नहीं थी कि मैं इस तरह आँखें फेर जाऊँगी, एक दिन मेरे पास आकर बोले—"मैं नहीं समझता था कि तुम इतनी कोरी हो जाओगी।"

मेरे लिए यह शब्द असह्य थे। मैंने गर्म होकर कहा—"तो क्या तुम्हारा यह अभिप्राय है कि तुम मेरी-अपनी छत के नीचे मेरा अपमान करते आए हो।"

मदनलाल बैठे थे। यह सुनकर खम्भे की नाईं तनकर खड़े हो गये, और धीरे-धीरे कहने लगे—"तुम्हारे अपमान के लिए, नहीं मेरीन! तुम भूलती हो, संसार में कोई बुरा-से-बुरा शब्द ऐसा नहीं, जो तुम्हारे अपमान के लिए कहा जा सकता हो। तुमने मेरे साथ धोखा नहीं किया, कर्त्तव्य, प्रेम, मनुष्यत्व, देश-प्रेम और स्त्री-जाति के गौरव के साथ धोखा किया है। मेरे हृदय में अमेरिका का गौरव बैठा हुआ था, तुमने उस पर हरताल फेर दी है। मेरे हृदय में स्त्री जाति के लिए सम्मान था, तुमने उसे छीन लिया है। मैं समझता था, स्त्री कुछ नहीं चाहती, केवल प्रेम चाहती है। तुमने अपने उदाहरण से सिद्ध कर दिया कि स्त्री सब-कुछ चाहती है, केवल प्रेम ही नहीं चाहती। उसके हाथ में वह साधन है, जिससे पुरुषों को वह मूर्ख बनाती है, और समय पर इस प्रकार बदल जाती है, मानों उसका कोई सम्बन्ध ही न था। यह विचार, और नहीं तो तुमने अमेरिकन स्त्रियों के सम्बन्ध में तो सच्चा सिद्ध कर दिया है। भारतवर्ष के लिए तुम्हारा सन्देश अमरीकन मान-प्रतिष्ठा को लोगों की आँखों में बहुत बढ़ा देगा।"

मुझ पर इनमें से किसी बात का असर न हुआ। परन्तु अन्तिम शब्दों पर लज्जा से पानी-पानी हो गई। अमरीकन स्त्री सब-कुछ सह सकती है, यह कहलाना नहीं सह सकती कि वह देश-घातक है—उसने देश की प्रतिष्ठा को नीचे गिरा दिया है। इन शब्दों से मेरे कलेजे पर छुरियाँ चल गईं। मुझको उस समय इतना क्रोध था कि यदि हाथ में पिस्तौल होती तो मदनलाल को वहीं ढेर कर देती। मदनलाल ने जब यह शब्द कहा, तब उसके चेहरे पर क्रोध न था, परन्तु मैं सुनकर पागल होगई और चिल्लाकर बोली—"मेरे मकान से निकल जाओ!"

मदनलाल ने आश्चर्य से मेरी ओर देखा। कदाचित् उनको यह ख़याल न था कि मनुष्य इतना नीच भी हो सकता है। उस समय मेरे शरीर पर उन्हीं के रुपये से ख़रीदे हुए आभूषण थे। यदि वे चाहते तो उनकी ओर अँगुली करके ही मेरा सिर नवा सकते थे। परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया और चुपचाप मेरे मकान से निकल गये।

आठ-दस मास व्यतीत हो गये। मैं मदनलाल को भूल गई। मुझे इतना भी स्मरण नहीं रहा कि मैंने उनको कोई चोट पहुँचाई है। मेरे भारतीय पाठक आश्चर्य न करें, अमरीकन स्त्री की प्रकृति ही ऐसी है। वे पुरुषों का मन तोड़ती हैं, और भूल जाती हैं। एक दिन बाज़ार में भीड़ देखकर मैं ठहर गई। वहाँ एक योगी बैठा था। उसके वस्त्र गेरुए थे, सिर पर लम्बी-लम्बी जटायें, परन्तु मुख-मण्डल इस प्रकार चमकता था, जिस प्रकार सन्तोष के राज्य में सात्विक आनन्द की मस्ती। वह लोगों को उपदेश दे रहा था और गीता का वह अध्याय सुना रहा था, जिसमें मनुष्य को अपना कर्त्तव्य पूरा करने की शिक्षा दी गई है। उसके

स्वर में माधुर्य था, उसकी बातों में मोहिनी-शक्ति। श्रोता लोग चित्र-वत् खड़े सुन रहे थे।

एकाएक उनके नेत्र मेरी ओर उठे। मेरा कलेजा शून्य-सा हो गया। यह मदनलाल थे। मेरा मस्तिष्क फटने लगा। मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि मैं उनका उपदेश सुनने के योग्य नहीं। मैं घबराकर भीड़ से निकल आई और घर की ओर चली। उस समय मेरी आँखों में मदनलाल के गुण फिरने लगे। उनके प्रकाश में अपनी भूलें दिखाई दीं। दूसरे दिन मैंने खोज की, परन्तु उनका पता न चला।

५

उन्हीं दिनों वहाँ एक भारतीय रमणी के आने का शोर मचा, जिसे राग-विद्या में निपुणता थी। समाचार-पत्रों ने उसकी प्रशंसा के पुल बाँध दिये। वह एक भारतीय साज 'वीणा' बजाती थी। उसका सङ्गीत हम लोग न समझ सकते थे, परन्तु हृदय और मस्तिष्क पर जादू की वर्षा होती थी। उसके स्वर में एक विशेष प्रकार का माधुर्य था, जो हृदय को पकड़ लेता था। इस समय तक मैं यही समझे बैठी थी कि राग-विद्या में पश्चिम का आसन सर्वोपरि है, परन्तु इस रमणी के गायन ने इसका समर्थन न किया। मुझे पहली बार पता लगा कि इस विषय में पश्चिम को पूर्व का सैकड़ों वर्ष शिष्य बनना पड़ेगा। मैं जब पहले-पहल गाना सुनने गई तो गाना सुनने के भाव से नहीं, प्रत्युत केवल जी-बह-लाव के विचार से चली गई थी। परन्तु वहाँ जाकर मेरी आँखें खुल गईं। एक भारतीय रमणी ऐसा अच्छा गा सकेगी, इसकी मुझे आशा न थी। उसका गाना सुनकर मैं मुग्ध हो गई। उसमें पुस्तिका न था।

वह जब गाती थी तो आँखें न मटकाती थी; न किसी अङ्ग को हिलाती थी। उसमें एक विशेष गौरव पाया जाता था, जो भारतीय स्त्रियों में ही पाया जा सकता है। मुझे अपना स्टेज फीका प्रतीत होने लगा।

दूसरे दिन मैं उसके निवास-स्थान पर पहुँची। उसने पूर्वीय ढङ्ग से मेरा स्वागत किया और एक कुर्सी पर मुझे बैठाकर दूसरी पर आप बैठ गई। मेरे आश्चर्य की थाह न रही। इससे पहली रात उसे दूर से देखा था, अब पास आकर देखा तो चकित रह गई। वह इतनी सुन्दर थी कि मेरी आँखें झपक गईं। उसके शरीर पर कोई भूषण न था, कोई पदक न था, परन्तु फिर भी रूप आँखों में चुभा जाता था। मैंने सादर कहा—"आपने रात को खूब गाया।"

सावित्री ने अत्यन्त स्वच्छ और सरल अँग्रेज़ी में पूछा—"आप भी जलसे में थीं? आपको मेरा गाना पसन्द आया?"

"बहुत अच्छी तरह से, आप इस कला में निपुण हैं।"

"यह न कहिये। राग-विद्या समुद्र है। इसका पार किसने पाया है?"

"आपने।"

सावित्री ने मुस्कराकर कहा—"मैं तो पहली ही सीढ़ी पर हूँ।"

"यह आपकी भारतीय विनय है। अन्यथा मेरी सम्मति तो आपके विषय में बहुत ऊँची है।"

"क्योंकि मैं आपके यहाँ अतिथि हूँ।"

"नहीं; प्रत्युत इसलिये कि आपमें वह वस्तु है, जो सोती हुई आत्माओं को जागरित कर देती है।"

सावित्री चुप हो गई। प्रत्यक्षतः वह इससे प्रसन्न हुई। मैंने समझा,

यह सब दिखावा है, परन्तु बाद की घटनाओं ने इसे झूठा सिद्ध कर दिया। मैं ज्यों-ज्यों उससे मिलती गई, उसकी प्रतिष्ठा मेरी आँखों में बढ़ती गई। यहाँ तक कि मेरा हृदय उसकी पूजा करने लगा। उसका हृदय मानसिक तत्त्व का ख़ज़ाना था, मस्तिष्क आत्म-ज्ञान का समुद्र। रुपये की उसको तनिक भी लालसा न थी। Performance से जो आय होती थी, उस में-से अधिकांश वह दान कर देती थी। उसके साथ जो सेवक थे, उनसे उसका बर्ताव सगे भाइयों का-सा था। उसकी प्रकृति छिछोरी न थी। जो-कुछ कहना होता, थोड़े में कह देती। उसके इन गुणों पर मैं मुग्ध हो गई। वह मुझे इस पार्थिव जगत् की सुन्दरी मालूम न होती थी। वह फूल के समान सुन्दर, और ओस के बिन्दु के समान पवित्र देख पड़ती थी;—संसार के जाल से रहित। एक दिन मैंने उससे पूछा—"तुम्हारे यहाँ आने का कारण क्या है, यह तो मालूम न हुआ।"

सावित्री का चेहरा बदल गया। उसने कोई उत्तर न दिया।

मैंने फिर पूछा—"रुपया कमाना?"

"भारतीय स्त्री रुपये को तुच्छ समझती है।"

"अपनी सङ्गीत-कला की प्रसिद्धि?"

"इसमें भी उसको कोई प्रसन्नता नहीं।"

"दुनियाँ की सैर?"

"यह भी नहीं।"

मैं झिलमिल-सी होकर बोली—"फिर आपका वास्तविक प्रयोजन क्या है?"

सावित्री के नेत्रों में आँसू आ गये। उसके सुन्दर कपोलों पर जल के बिन्दु लहराने लगे। ऐसा प्रतीत होता था, कि मेरे इस प्रश्न से उसके हृदय का पुराना घाव हरा हो गया है। मुझे अत्यन्त दुःख हुआ। सावित्री बोली—"बहन, मैं एक विशेष प्रयोजन से यहाँ आई हूँ। कभी अवसर मिला, तो तुमसे अपनी कहानी कहूँगी।"

मैंने उत्तर दिया—"अभी कह दो न। मेरा हृदय इसके लिये अत्यन्त व्याकुल हो रहा है।"

सावित्री ऐसी स्त्री न थी, जो सहज ही में अपनी आप-बीती किसी के सामने रखने को उद्यत हो जाती। परन्तु मेरे मेल-मिलाप ने उसे विवश कर दिया। ठण्डी साँस भरकर बोली—"अभी सुन लो।"

मैं दत्तचित्त हो गई। सावित्री ने आत्म-कथा आरम्भ की।

६

"बहन, मैं पञ्जाब देश के विख्यात नगर अमृतसर की रहनेवाली हूँ। यह सिक्खों का एक ऐतिहासिक नगर है। मेरे माता-पिता के पास जागीरें नहीं थीं, परन्तु उनकी अवस्था ऐसी अवश्य थी, कि लोग उनकी धनाढ्यों में गिनती करते थे। मुझे उन्होंने बड़े लाड़-प्यार से पाला, और जब मैं युवावस्था को पहुँची, तो ब्याह की तैयारियाँ आरम्भ कर दीं। परन्तु इससे मुझे प्रसन्नता न हुई। कारण यह, कि मेरे हृदय-पट पर एक मूर्त्ति अङ्कित हो चुकी थी, और मैंने निश्चय कर लिया था, कि विवाह करूँगी, तो उन्हीं से करूँगी, अन्यथा सारी आयु कुँवारी रहकर ही व्यतीत कर दूँगी। वे इतने सुन्दर, इतने बुद्धिमान् और इतने सज्जन थे, कि मैं उनकी पूजा करती थी। जहाँ तक मैं समझती हूँ, ऐसा पुरुष

सारे नगर में न था। वे उसी मुहल्ले के रहनेवाले थे—जिसमें मैं रहती थी। बाल्यावस्था में हम दोनों एक-साथ खेला करते थे। हमने कभी मुख से एक-दूसरे पर प्रेम प्रकट नहीं किया था, और कभी विवाह की प्रतिज्ञा भी नहीं की थी। परन्तु दोनों हृदयों में यह प्रेम इस प्रकार रच गया था, जैसे दूध में मिश्री। हमको एक दूसरे पर पूर्ण विश्वास था, और निश्चय था, कि एक-दूसरे को धोखा नहीं दे सकता।

"जब मेरे विवाह की बात चली, तो मुझे चिन्ता हुई। सुतरां, मैंने एक सहेली के मुँह से अपनी माँ को अपना सन्देशा भेजा। इस बात का सुनना था, कि मेरी माँ आग-बबूला हो गई, और मुझे धिकार-फटकार करने लगी। मैंने उन्हें स्पष्ट शब्दों में सारी बात कह दी। भारतीय कन्या के लिये यह बात असाधारण है। वहाँ यह निर्लज्जता समझी जाती है। सो भी मैंने यहाँ तक जाना स्वीकार किया। परन्तु इसका कुछ फल न हुआ। मेरे माता-पिता उनके साथ विवाह करने पर सहमत न हुए; क्योंकि वे कोई इतने धनवान् न थे। कदाचित् भारतवर्ष ही एक ऐसा अभागा देश है, जहाँ कन्याओं के लिये अपने विवाह में भी अपनी सम्मति देना एक भारी अपराध है। मेरे नेत्रों में संसार अन्धकारमय हो गया। अन्त में जब सब ओर से निराशा दिखाई दी, तो एक दिन हम दोनों घर से निकल भागे।

"बहन, भारतवर्ष में ऐसा प्रेम अत्यन्त घृणित समझा जाता है। वहाँ इस प्रकार की बात को लोग सहन नहीं कर सकते। जो कन्या घर से निकल आये, उसके लिये भारतवर्ष में कोई आदर नहीं। सैकड़ों माता पिता इस लज्जा से बचने के लिये विष खा लेते हैं, सहस्रों लड़कियाँ

में कूद पड़ते हैं, सहस्रों पेट में छुरियाँ भोंक लेते हैं। मैं यह सब-कुछ जानती थी, परन्तु प्रेम ने मुझे बावली बना दिया था। मैं यह समझ नहीं सकती थी, कि मैं अपना मन और मस्तिष्क एक मनुष्य को देकर अपना शरीर दूसरे मनुष्य को किस प्रकार सौंप सकूँगी? इसका उपाय यह हो सकता था, कि मैं अपने-आपको बलिदान कर दूँ। परन्तु जब उसका ख्याल आता था, तो हृदय काँप उठता था। इस कारण मैंने भागना ही स्वीकार किया, परन्तु कई मास पर्य्यन्त मन स्वस्थ न हुआ। वे स्वयं कई मास तक सोते-सोते चौंक उठा करते थे। हमने वेद-मन्त्रों के साथ अग्नि के सम्मुख शास्त्रोक्त विधि से विवाह कर लिया, और हिमालय की तराई में कुटिया बनाकर रहने लगे।

"हमारी आवश्यकताएँ सामान्य थीं। उस झोंपड़ी में रहते दो वर्ष निकल गये। वे दिन मेरे जीवन के सुखमय दिन थे। हम फल-फूल खाते थे, प्राकृतिक दृश्य देखते थे, और प्रेम के पाँसे खेलते थे। हमारे जीवन के यह वर्ष भोग-विलास के दिन थे—जिनको स्मरण करके अब भी हृदय रो उठता है। बहन, तुम्हारा यह नगर बहुत रमणीय है, परन्तु हिमालय की तराई की उस कुटिया से इसकी कोई तुलना नहीं—जो सन्तोष की मूर्ति बना हुआ अपने अतीत काल के ऐश्वर्य और विभूति का स्मरण करा रहा है। वहाँ दिन को धूप खेलती थी, रात्रि को चाँदनी। पर्वत की चोटियाँ दूर तक इस प्रकार एक-दूसरी के पश्चात् ऊँची होती गई हैं—मानों उसकी शृङ्खला कभी समाप्त ही नहीं होती। वह दृश्य स्मरण होते ही मैं उड़कर वहाँ पहुँच जाना चाहती हूँ—जहाँ हमारा जीवन एक ऐसा वसन्त था, जिसने कभी शिशिर के झोंके न देखे थे।

"बहन, वे मुझ पर तन-मन से निछावर थे। हम दिन-रात प्रेम की प्यासी आँखों से एक-दूसरे को देखते थे, पर कभी जी न भरता था। हमारा प्रेम खुले आकाश के समान विशाल था—जिसका कोई अन्त दिखाई नहीं देता; पत्थर के समान दृढ़ था—जिसमें कोई छिद्र नहीं होता। मैं प्रायः सोचा करती थी, कि यदि मैं भाग न निकलती, तो यह प्रेम का अमृत—जिसमें दुःख का किञ्चत्-मात्र भी अंश नहीं—मुझे कैसे प्राप्त होता? हमारी कुटिया के निकट ही थोड़ी दूर पर कुछ संन्यासी रहते थे, जो संसार के बन्धनों को तोड़कर, परलोक सुधारने की चिन्ता में भक्ति करते थे। वे हमें देखकर इस प्रकार प्रसन्न होते थे, जिस प्रकार पिता पुत्रों को देखकर। हम उनके आशीर्वाद की छाया-तले सुख से जीवन के दिन व्यतीत करते रहे।

"दो वर्ष बीत गये। हमारी कुटिया की छत और दीवारें जीर्ण हो गईं; जिस प्रकार मनुष्य की देह वृद्धावस्था में ढल जाती है। एक दिन उन्होंने भूमि खोदनी आरम्भ की, जिससे छत और दीवारें सँवारी जायँ। यह काम उन्होंने पहले न किया था। हाथों में छाले पड़ गये, परन्तु इसके सिवा और कोई उपाय न था। मैं उनकी सहायता करती थी, परन्तु मेरे बनाये कुछ न बनता था। पसीना-पसीना होकर वे भूमि को खोद रहे थे, कि सहसा उछल पड़े। मैं दौड़ती हुई गई, और आनन्द से पागल होकर झूमने लगी। वहाँ एक देग थी, जो स्वर्ण की मोहरों से मुँह तक भरी हुई थी। उन्होंने सावधानी से चारों ओर देखा, और मुझसे कहा—'चुप।'

७

"बहन, यदि यह घटना नगर में होती, तो दुहाई मच जाती, और लोगों के ठट्ठ-के-ठट्ठ इकट्ठे हो जाते। परन्तु यहाँ हमारे सिवा और कौन था? हमने देग को खींचकर बाहर निकाला, और सोचने लगे कि इस रुपये से क्या किया जाय। अन्त में यह निश्चय हुआ, कि इसे परोपकार के काम में लगाया जाय। हम सावधानी से बीचे मैदान में आये, और इमारतें बनवानी आरम्भ कर दीं। एक वर्ष के अन्दर उजाड़ भूमि एक रमणीक बस्ती बन गई। कहीं अनाथालय बन गये, कहीं अस्पताल, कहीं धर्मशाला, कहीं तालाब। हमारा महल उस नगर के मध्य में था, और इतना सुन्दर, कि देखकर चित्त प्रसन्न होजाता था। हम घर से भिखारी बनकर निकले थे, यहाँ राज भोगने लगे। मुझे कोई विशेष कार्य न था, परन्तु वे दिन-रात काम में लीन रहते थे। कहीं अनाथालय और गौशाला का हिसाब आता था, कहीं लोगों के झगड़े। उनको कई बार तो भोजन करने का भी अवसर नहीं मिलता था। मेरे आनन्द का ठिकाना न था। मुझे इन पवित्र दृश्यों से आध्यात्मिक सुख मिलता था। यद्यपि इस आध्यात्मिक आनन्द ने मुझसे मेरे पति का अधिकांश समय दूसरों के लिये छीन लिया था।

"एक दिन वे बहुत रात्रि गये महल में आये। द्वारपाल और दास-दासियाँ सब सो गये थे। मैंने चौंककर प्रेम और क्रोध की मिली-जुली आवाज़ में पूछा—'आज देर क्यों कर दी?'

"उन्होंने मुझे प्रेम-भरी दृष्टि से देखकर उत्तर दिया—'कन्याओं के लिये पाठशाला खोलने का विचार है। उसके लिये स्कीम बना रहे थे।'

'कल बना लेते।'

'नहीं, मैं उसे जल्दी समाप्त करना चाहता हूँ।'

'इतनी जल्दी काहे की है?'

"उन्होंने फिर उसी दृष्टि से मेरी ओर देखा, और कहा—'तुम्हें यह भी मालूम है, देश में क्या होरहा है?'

"यह १९०७ ई० की बात है।

"मैंने सादगी से उत्तर दिया—'क्या होरहा है, मैं नहीं जानती, तुम्हीं जानों।'

'देश-भक्ति का समय है। लीडर क़ैद होरहे हैं।'

'जानती हूँ। जो समाचार-पत्र आपने मँगवा दिये हैं, उनमें बड़े-बड़े भयानक समाचार होते हैं।'

'तो तुम्हारा भी तो कुछ कर्त्तव्य है।'

"मैंने उत्तर में पूछा—'मेरा क्या कर्त्तव्य है?'

'देश के लिये कुछ बलिदान करो। कहो, करोगी?'

'करूँगी।'

'क्या करोगी?'

'अपना सारा रुपया जातीय कार्यों के लिये दे दो।'

'वह तुम्हारा था ही कब? क्या पता, किसका दबा हुआ था, कोई अपनी वस्तु दो।'

'मेरे अपने पास तो कुछ नहीं है।'

'......मुझे दे दो।'

"मैं चौंक पड़ी, और पीछे हटकर बोली—'यह क्या कहते हो?'

'जाति को रुपये की आवश्यकता है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु रुपये से भी बड़ी आवश्यकता देश को सच्चे मनुष्यों की है। एक परिश्रमी पुरुष लाखों रुपये पैदा कर सकता है, परन्तु लाखों रुपये पुरुष को नहीं बना सकते।'

"मेरे नेत्रों में आँसू आ गये। मैंने रोते हुए कहा—'मेरा हृदय कैसे मानेगा?'

"उन्होंने मेरा हाथ अपने हाथ में ले लिया, और हलुवे से अधिक मीठे व मक्खन से अधिक नर्म शब्दों में बोले—'मैं तुम्हें सदा के लिये थोड़े ही कहता हूँ। केवल थोड़े वर्षों के लिये आज्ञा दो, मैं विलायत जाकर क़ानून पढ़ना चाहता हूँ।'

'क्या इसके बिना देश-सेवा नहीं हो सकती?'

'हो सकती है, परन्तु देश को इस समय क़ानून जाननेवालों की अधिक आवश्यकता है। तनिक विचार करके देखो, देश-सेवा के क्षेत्र में जितने लोग निकले हुए हैं, सब-के-सब क़ानून जाननेवाले हैं।'

"मैंने उत्तर दिया—'फिर मुझे भी साथ ले चलो।'

'पागल कहीं की! कभी ऐसा भी हो सकता है?'

'हो क्यों नहीं सकता, मैं तुम्हें वहाँ पढ़ने से रोक थोड़े ही लूँगी?'

"इस पर उन्होंने लम्बी-चौड़ी वक्तृता दी, और देश की करुणावस्था का मेरे सामने फ़ोटो खींच दिया। परन्तु मैं सहमत न हुई। मेरे हृदय में देश का दुःख न था, यह बात न थी। यदि मुझे कोई कहता, कि तुम्हारे सिर देने से भारत का कल्याण हो सकता है, तो मैं निस्सन्देह अपना सिर अपने हाथ से काटकर फेंक देती। परन्तु उनका वियोग मुझसे सहा

न जाता था। मैं अपनी बात पर बराबर जमी रही। परन्तु उन्होंने भी वही हठ पकड़ा, कि चुप न हुए; यहाँ तक कि मुझे सहमत होना पड़ा। जल-बिन्दुओं के निरन्तर प्रपात ने पत्थर में भी छेद कर दिया। अब जब सोचती हूँ, तो आश्चर्य होता है, कि उस समय कैसे मान गई थी।"

८

"बहन, जब वे चले गये, तो मैं बावली-सी होगई। मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो जगत् का प्रत्येक पदार्थ बदल रहा है। सूरज अब भी चढ़ता था, चन्द्रमा की किरणें मेरे महल पर अब भी खेलती थीं, आकाश पर घटायें अब भी उठती थीं। परन्तु उनमें वह सुन्दरता, वह आकर्षण, व मोहिनी न थी। मैं पछताने लगी, कि उस समय क्यों मान लिया। बम्बई से पत्र आया, तुम्हारी स्मृति साथ लिये जा रहा हूँ। यह सुनकर मेरा हृदय रोने लगा। विलायत से पत्र आया, धीरज रखना, मैं शीघ्र आऊँगा। परन्तु मुझे धीरज न था। दिन रोने में कट जाता, रात्रि जागने में। मेरा स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। घबराकर लिखा, मुझे वहीं बुला लो, मेरा मन सदैव उदास रहता है। उत्तर आया, कुछ समय और हृदय पर पत्थर रख लो। इन पत्रों में सहानुभूति, वियोग और प्रेम के भाव सदैव छिपे रहते थे। उनका आना जाना जीवन का आधार बन गया। वे इतने सुन्दर हैं, कि स्त्रियाँ उन्हें देखकर मुग्ध होजाती हैं। ऐसे पतियों की स्त्रियों को सन्देह करने के अवसर प्रायः मिलते रहते हैं। परन्तु मुझे उन पर कभी सन्देह नहीं हुआ; क्योंकि मैं जानती थी, कि वे इतने भलेमानस और सज्जन पुरुष हैं, कि किसी स्त्री की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। वे इसे भी मेरे साथ विश्वासघात समझते हैं। जब वे आने

लगे, तो मेरी एक सखी ने कहा था, कि उन पर कोई मेम जादू न कर दे। मैंने क्रोध से उसका मुँह दबा दिया था। मेरा विचार था, कि संसार में सब-कुछ हो सकता है, परन्तु यह नहीं हो सकता। मुझे क्या पता था, कि मेरे भाग्य भी फूट जायँगे।

"दो वर्ष उनके पत्र बराबर आते रहे। परन्तु इसके पश्चात् उनका आना बन्द होगया। मैंने रो-रोकर लिखा, मुझे बिन आई मौत न मारो; तुम्हारे पत्र मेरे लिये रामबाण हैं। परन्तु कोई उत्तर न आया। मैं घबरा गई, मन में करोड़ों प्रकार की भावना उठने लगीं। तार दिये, आदमी भेजे परन्तु कोई उत्तर न आया। इतना पता लगा, कि जहाँ पढ़ते थे अब वहाँ नहीं हैं। परन्तु कहाँ हैं, क्या कर रहे हैं, इसका कोई पता न लगा। अन्त में मैंने अपने दीवान को इँग्लैंड भेजा, कि जाकर पूरा-पूरा हाल लिखे। वह दीवान अपने काम में अत्यन्त चतुर था। मुझे उस पर पूरा भरोसा था। उसने जाकर कई मास तक खोज करने के पश्चात् लिखा, कि वे एक अमरीकन कम्पनी की एक्ट्रेस के साथ अमरीका चले गये हैं। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, मानो साँप ने काट खाया हो। कई दिन तक मूर्च्छा आती रही। मेरे पास रुपये-पैसे की कमी न थी दास-दासियों की कमी न थी, मुझे किसी प्रकार का कष्ट न था, परन्तु हृदय सदैव रोता था। मैंने अपने दीवान को लिखा, अमरीका चले जाओ, और उनकी खोज करो। दीवान अमरीका चला गया, और कई मास तक उनको खोजता रहा। अन्त में मुझे उसने सूचना दी, कि उस स्त्री के विश्वासघात से उनका मन खट्टा हो गया है। उसने सैकड़ों बार प्रार्थना की, सैकड़ों प्रकार से समझाया, परन्तु उन्होंने एक न सुनी। बराबर अपने

हठ पर अड़े रहे, और यही कहते रहे कि मैंने वह पाप किया है, कि अब अपनी स्त्री को मुँह नहीं दिखा सकता। अन्त में मैंने अपने हितचिंतकों की सम्मति से यह निश्चय किया, कि स्वयं अमरीका चलूँ। जब हम हिमालय की उपत्यका में अपनी कुटिया में रहते थे, उस समय मैं गाने का अभ्यास किया करती थी, जिसे सुनकर वे अपने-आपको भूल जाया करते थे। मैंने अमरीका में आकर इस कला से पति की खोज का निश्चय किया, कि कदाचित् इसी उपाय से उनका कुछ पता लग जाय। परन्तु मैं अँग्रेज़ी न जानती थी। मैं रामायण-महाभारत पढ़नेवाली, भजन गानेवाली साधारण हिन्दू-स्त्री !मेरा हृदय डोल गया; जिस प्रकार वायु के झकोरों से कभी-कभी नौका डोलने लगती है। तथापि मैंने अँगरेज़ी पढ़ना आरम्भ कर दिया। हृदय में उत्कण्ठा थी, मस्तिष्क में लगन। कुछ मास में ही बोलने लगी, और मुझे इसमें अच्छा अभ्यास हो गया। कुछ हिचकिचाहट थी, वह जहाज़ में पूरी हो गई।

"बहन ! यहाँ आने से मेरा और कोई उद्देश्य नहीं, केवल उनकी खोज करना है। परमात्मा जाने सफलता होगी या नहीं।"

यह कहते-कहते सावित्री के विशाल नेत्रों में आँसू बहने लगे।

९

मैं समझ गई कि उसके सुन्दर मुख पर उदासीनता का रङ्ग क्यों लहराता रहता था। भारतीय रमणी के लिये उसका पति ही सब कुछ है, यह मैं कहानियों में सुनती थी, पुस्तकों में पढ़ती थी, परन्तु विश्वास न था; आज वह प्रत्यक्ष देख लिया। उसे उदास देखकर मैं कुढ़ती थी, परन्तु यह ज्ञान न था कि उसके दुःख का कारण मैं ही निकलूँगी। मेरे

हृदय पर किसी ने जलते हुए अङ्गारे रख दिये। मैं रोती हुई उठी, और उसके चरणों से लिपट गई। शिकार और शिकारी दोनों रोने लगे। मैंने रोते-रोते अपने अपराध को स्वीकार किया। सावित्री के नेत्रों से अङ्गारे निकलने लगे। उसने क्रोध में आकर मुझे धक्का दिया और कहा, फिर दोबारा मेरे सामने न आना। यह अपमान मेरे लिये असह्य था। परन्तु सावित्री की प्रेम-कथा और सद्व्यवहार ने मुझ पर जादू कर दिया था। मुझे उस पर नहीं, अपने-आप पर क्रोध आ रहा था। सावित्री के महान् आत्मा ने अमरीकन प्रकृति-पूजा की भयानक मूर्त्ति मेरे सम्मुख रख दी। मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया कि मदनलाल का पता ढूँढ़ निकालूँगी।

कई मास बीत गये। सावित्री बहुत-से नगरों में से घूमकर फिर न्यूयॉर्क में आगई। उसके रूप, आकार व पहिनाव से समाचारपत्र भरे होते थे, परन्तु उसके पति का पता न लगा। मैंने भी अपनी ओर से पूरा प्रयत्न किया, परन्तु सब व्यर्थ हुआ। यहाँ तक कि मैं इस ओर से निराश हो गई।

रात्रि का समय था। मैं सुख से सोई हुई थी। एकाएक कोलाहल से आँखें खुल गईं। देखा, मकान में आग लग रही थी। मैं अंधाधुंध नीचे उतर आई। वहाँ सहस्त्रों मनुष्यों की भीड़ थी। पानी का इञ्जन अग्नि बुझाने के लिये नदियाँ बहा रहा था, परन्तु अग्नि किसी प्रकार ठण्डी न होती थी। वह जल के प्रवाह से निकल-निकलकर ऊँची उठती थी। मेरा कलेजा धड़कने लगा।

एकाएक ख्याल आया, मेरा पति ऊपर है। वह रात्रि के समय एक

तीक्ष्ण-सी मदिरा पिया करता था, जिसके मद से सारी रात उस पर बे-सुधि-सी छायी रहती थी। इस समय भी उसके मद से बेसुध पड़ा होगा। मैंने चिल्लाकर कहा,—"मेरा पति!"

यदि यह घटना पहले होती, तो मुझे पति की पर्वा न होती। परन्तु सावित्री के प्रेम ने मेरे विचार को बदल दिया था। अब मैं समझ गई थी, कि पति-पत्नी का सम्बन्ध शारीरिक नहीं, प्रत्युत आत्मिक होता है। मैं अब उसे आत्मा की पूर्ण शक्ति से चाहने लगी थी। वह आयु में मुझ से बहुत बड़ा था, और मैंने विवाह करते समय केवल उसके रुपये पर दृष्टि दी थी। परन्तु सावित्री ने मुझे सिखा दिया कि पति का प्रेम क्या वस्तु होता है। अब मैं उसके रुपये को नहीं, परन्तु उसी को चाहती थी। इसलिये अनुमान किया जा सकता है, कि उसे मृत्यु के मुख में देखकर मेरे हृदय पर क्या बीती होगी। उनको यह ख़्याल न था, कि वह अभी तक ऊपर रह सकता है। वहाँ इस समय भयङ्कर निराशा उपस्थित थी, अग्नि महल्ले के कोने-कोने में जा चुकी थी, और जहाँ न गयी थी, वहाँ वेग से जा रही थी, और उसकी मृत्यु को क्षण-क्षण में निश्चित बना रही थी। यह दृश्य सहस्रों मनुष्य खड़े देख रहे थे, परन्तु किसी के पाँव न हिलते थे। मैंने फिर चिल्लाकर कहा—"मेरा पति! जो उसे बचायेगा, मैं उसे दस हज़ार डॉलर दूँगी।"

जो काम सहानुभूति न कर सकती थी, उसे लालच ने किया। बीसों मनुष्य आगे बढ़े, परन्तु छत से लौट आये। भयानक अग्नि की ज्वाला ने रास्ता रोक रखा था। मेरे नेत्रों से आँसू बहने लगे। क्या वह नहीं बच सकता? मैंने मन-ही-मन परमेश्वर के आगे हाथ बाँधे, और

जलते हुए महल की ओर आँख उठाई। आग अपने पूरे जोबन पर थी। मैंने फिर चिल्लाकर कहा—"मेरा पति।"

भीड़ में हलचल-सी हुई। एक मनुष्य आगे निकला, और अंधाधुंध सीढ़ियों पर चढ़ गया। रास्ते में आग पहरा दे रही थी, परन्तु वह उसे चीरता हुआ निकल गया। अग्नि ने अपनी लपलपाती हुई, जिह्वाओं से उसका पीछा किया, परन्तु वह पहुँच से बाहर जा चुका था। लोगों ने तालियाँ बजाकर उसके साहस की प्रशंसा की, मेरा कलेजा होठों तक आ गया।

इतने में देखा, वह मनुष्य ऊपर की छत पर जा पहुँचा, और दृष्टि से ओझल हो गया। लोगों में फिर हर्ष की ध्वनि उठी। अब वह उस कमरे को ढूँढ रहा था, परन्तु बहुत समय तक उसे पता न लगा। वह इधर-उधर फिर रहा था, सहस्रों आँखें उस ओर भय और सहानुभूति के मिले-जुले भाव से देख रही थीं, और प्रत्येक पल जो बीत रहा था, उस वीर की मृत्यु को निकट ला रहा था।

इतने में महल की पिछली ओर से एक मनुष्य आता दिखाई दिया। मेरे आनन्द की थाह न थी, यह मेरा पति था। मैं दौड़कर उससे चिमट गई, और बोली—"तुम कहाँ थे?"

"पिछवाड़े में।"

मैंने आश्चर्य से पूछा—"कब उतरे?"

"बहुत देर हुई।"

मैंने ऊपर आँख उठाई, वह मनुष्य इधर-उधर घूम रहा था। मैंने चिल्लाकर कहा—"नीचे उतरो, ऊपर कोई नहीं है। वह बच गया है।"

सहस्रों मनुष्यों ने मेरे शब्दों को दोहराया—"वह बच गया है, तुम नीचे उतर आओ।"

वह तेज़ी से नीचे उतरने लगा। लेकिन घबराहट में किसी वस्तु से ठोकर खाकर गिर पड़ा। सहस्रों आँखों ने यह दृश्य देखा, और सहस्रों हृदयों ने ठण्डी साँसें भरीं। क्या वह बचेगा? क्या वह बच सकेगा??

प्रत्यक्षतः उसकी कोई आशा न थी। आग बढ़ रही थी, परन्तु वह बेसुध पड़ा था, और समय हाथ से जा रहा था। मेरे स्वामी के मुख पर पसीने के बिन्दु टपकने लगे। हमारे नौकरों ने दो कुर्सियाँ बिछा दीं। हम बैठकर अधीरता से इस सहानुभूति का भयानक परिणाम देखने लगे। वह अभी तक चित्त लेटा हुआ था। लोग चित्रवत् खड़े थे। संसार के सब से बड़े सभ्य देश में एक सहानुभूति रखनेवाला मनुष्य प्रचण्ड अग्नि में लेटा हुआ था, पर किसी को आगे बढ़ने का साहस न था।

१०

अकस्मात् एक मनुष्य पीछे से भीड़ को चीरता हुआ आगे बढ़ा, और तेज़ी से सीढ़ी पर चढ़ गया। उसकी टाँगों में बिजली की-सी शक्ति थी, और छाती में फ़ौलाद का हृदय। लोगों के रोकते-रोकते वह आगे बढ़ गया, और मृत्यु की दाढ़ों में घुसकर, धूएँ के बादल में लोप हो गया। लोगों की साँस रुक गई। एकाएक हर्ष की ध्वनि उठी। वह फिर दिखाई दे रहा था, और जलते हुए तख़्तों के ऊपर से गुज़र रहा था। यदि कोई तख़्ता जलकर टूट जाता तो उसकी मृत्यु निश्चित थी। परन्तु वह बड़ी सावधानी से बढ़ रहा था, और वह पहला मनुष्य—वह अभी तक अचेत पड़ा था।

जलते हुए तख़्तों के ऊपर से गुज़रकर वह आगे बढ़ा। लोगों के आशीर्वाद उसके साथ थे। सहसा प्रकाश उसके मुख पर पड़ा, मेरा कलेजा हिल गया। यह मदनलाल थे, जो एक बेचारे निस्सहाय मनुष्य को बचाने के लिए अपने प्राणों पर खेल रहे थे। उनके गुण मेरे सामने नाचने लगे। मैंने व्याकुल होकर कहा—"परमेश्वर करे, वह बच जाय।"

मेरे पति ने पूछा—"क्या तुम उसे जानती हो?"

"बहुत अच्छी तरह से।"

"कौन है।"

"मदनलाल।"

मेरा पति कुर्सी से उछल पड़ा। "वही इण्डियन?"

"हाँ, वही इण्डियन।"

"तुम्हारी सहेली—उसी विचित्र भारतीय गानेवाली स्त्री का पति? तुम्हारा अभिप्रायः उसी से है?"

"हाँ उसी से।"

"बड़ा सूरमा है। उसने अमरीकनों की नाक काट डाली है।"

"वह रह नहीं सकता था। सहानुभूति की तो वह मूर्ति है।"

"ख़ुदावन्द उसकी रक्षा करे।"

मैंने जोश से उत्तर दिया—"वह करेगा। मेरी सहेली सावित्री का प्रयत्न निष्फल नहीं जा सकता।"

"परमेश्वर दया करे।"

मैंने ऊपर आँख उठाई, तो आनन्द से उछल पड़ी। मदनलाल झुककर उस मनुष्य को उठा रहे थे। यह काम कुछ क्षणों में ही पूरा

हो गया, और वह उस मूर्च्छित शरीर को भुजाओं में उठाये हुए, धुएँ के बादलों, अग्नि की कराल काली और लाल शिखाओं में घुस गये। इस समय चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। लोगों की साँस तक रुकी हुई थी। इतने में वे निचली छत पर पहुँच गये। लोगों की हर्ष-ध्वनि से आकाश गूँज उठा। मदनलाल तले से नीचे उतरने लगे। परन्तु रास्ते में मृत्यु बैठी हुई थी। अग्नि की लपलपाती हुई, जिह्वाएँ दीवारों और सीढ़ियों को सर्पों की नाईं चाट-चाटकर उन दोनों का रास्ता बन्द कर रही थीं। परन्तु मदनलाल भयभीत नहीं हुए। उन्होंने लबादे को नल से भिगोकर अपने शरीर से कसकर बाँध लिया, सिर को लपेटा, और अग्नि में कूद पड़े। लोगों ने चिल्लाकर कहा—"परमात्मा दया कर, इस वीर को अपनी कृपा से बचा।" और यह शब्द लोगों के मुँह ही में थे, कि वह ख़तरे से बाहर थे। मैं पागलों की नाईं आगे बढ़ी, आनन्द से विह्वल हो गई। उनकी गोद में सावित्री थी। मैं अपने आपे में न रही, और अचेत हो गिर पड़ी।

११

जब मुझे सुधि आई, तो मैंने अपने-आपको एक होटल में पाया। मुझ से कुछ दूर सावित्री आरामकुर्सी पर लेटी हुई थी, और मदनलाल के साथ बात कर रही थी। इस समय उसके मुखमण्डल पर आनन्द की चमक थी। मैं बावली-सी उठकर आगे बढ़ी, और बोली—"मैं आप दोनों से क्षमा माँगती हूँ।"

सावित्री ने मुझे खींचकर गले से लगा लिया, और मुस्कराकर बोली—"बहन, अब इस बात को जाने दो।"

"परन्तु मुझे चैन नहीं आयेगा। जब तक तुम्हारे होठों से न सुन लूँगी, कि तुमने मुझे क्षमा कर दिया है।"

सावित्री ने उत्तर दिया—"मेरा हृदय तुम्हारी ओर से निर्मल है।"

मेरे हृदय से किसी ने बोझ हटा दिया, परन्तु फिर भी मैंने आँखें ऊपर न उठाईं, और कहा—"एक उपकार और करो तो बड़ी कृपा हो।"

सावित्री ने मातृ-वत्सलता के साथ अपना हाथ मेरे कन्धे पर रक्खा, और पूछा—"क्या है?"

"इनसे भी कहो, मुझे क्षमा कर दें। मैंने इनको बहुत कष्ट दिया है।"

मदनलाल इस समय तक इस प्रकार चुप थे, जैसे गूँगे हों। मेरी प्रार्थना सुनकर भी वे कुछ न बोले, और चुपचाप अपनी घड़ी की चैन के साथ खेलते रहे। सावित्री ने कहा—"सुनते हो, बहन मेरीन क्या कह रही है?"

"हाँ।"

"फिर क्षमा कर दो न?"

"इनका कोई दोष भी हो?"

मैंने बात काटकर कहा—"यह बात मेरे सम्बन्ध में है, और मैं इसे स्वयं स्वीकार करती हूँ। मैं तुम्हारी अपराधिनी हूँ।"

मदनलाल फिर भी चुप थे।

सावित्री ने कहा—"चलो, अब कह दो, बेचारी कितनी दुखित हो-रही है।"

मदनलाल बोले—"जहाँ तक मैं समझता हूँ, इसमें मेरा ही अप-राध था। यह कुँवारी थीं, अमरीका की सभ्यता में पली थीं, नाटक-

कम्पनी में काम करती थीं। इनसे ऐसी बात होजाना कोई आश्चर्य नहीं। आश्चर्य तो यह है, कि मेरी आँखों पर कैसे पट्टी बँध गई, जो मैं अपने देश, अपने धर्म, अपनी जाति, अपनी सभ्यता और अपनी रीति-नीति, और अपनी पत्नी के साथ धोखा करने पर उद्यत होगया। मुझे जब-जब ही यह स्मरण होता है, कलेजे में भाले चुभते हैं, और आँखें ऊपर नहीं उठतीं। इसी कारण मैंने प्रायश्चित्त करने के लिये साधु बनना स्वीकार किया। इसीलिये लाखों रुपये का स्वामी होते हुए भी मैंने एक ऑफ़िस में क्लर्की करना आरम्भ कर दिया था। मैं जानता था, कि तुम पर क्या बीत रही होगी। परन्तु तुम यहाँ तक पहुँच जाओगी, यह न समझता था। इस समय तक मुझे तुम्हारे प्रेम और श्रद्धा पर अभिमान था, अब तुम्हारी योग्यता और साहस पर भी मान होगया। परन्तु मेरी आँखों में जो लज्जा है, वह पता नहीं, कभी दूर होगी या नहीं। शेष रही मेरीन की बात, उसके विषय में मैं सच्चे हृदय से कह रहा हूँ, कि मेरे मन में किसी प्रकार का रोष नहीं। मैं इन्हें क्षमा करता हूँ।"

सावित्री के नैनों में जल भर आया। उसने रुद्ध कण्ठ से कहा—"यह न कहो, तुम्हें लजाने की कोई आवश्यकता नहीं। परमात्मा ने मेरा लुटा हुआ सुख लौटा दिया है, मेरे लिये यही सब-कुछ है।"

परन्तु मदनलाल इस पर सन्तुष्ट न हुए। दृढ़ता से बोले—"नहीं, तुम्हें भी क्षमा करना होगा। इसके बिना मेरे चित्त की चञ्चलता दूर न होगी।"

सावित्री ने उत्तर दिया—"यह आप क्या कह रहे हैं? भारतीय स्त्रियों के मुख से कभी ऐसे शब्द कभी नहीं निकल सकते।"

"परन्तु तुम्हें ऐसा कहना होगा।"

"मैं यह तो कह सकती हूँ, कि मेरे मन में कोई मैल नहीं है; परन्तु मैं यह नहीं कह सकती, कि मैंने क्षमा किया। मैं अपने-आपको इस योग्य नहीं समझती।"

"परन्तु तुम्हें कहना होगा।"

सावित्री का मुख-मण्डल लज्जा से तमतमाने लगा। वह भागकर बग़ल के कमरे में जा छिपी। इस समय मेरा मन आनन्द से विह्वल हो-गया था। वही सावित्री, जिसकी यशोदुन्दुभि अमरीका के एक कोने से दूसरे कोने तक बज रही थी, इस समय पति के सम्मुख एक बच्चे के समान लजा रही है। मेरे हृदय में भारत के गौरव ने सिर ऊँचा किया।

१२

थोड़े दिन पश्चात् वे भारत को वापस लौट गये, तो मेरा चित्त उदास होगया; जिस प्रकार बालक माता से बिछुड़कर उदास होजाता है। मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो मेरी कोई वस्तु खो गई है। मेरा पति सर्वदा मेरा लाड़-चाव पूरा करने में अपनी सारी शक्ति लगा देता था, परन्तु मेरा हृदय-कमल सदैव मुर्झाया रहता था। इसका परिणाम यह हुआ, कि मेरा पति भी रोगी रहने लगा, और छः मास पश्चात् मर गया।

इस घटना ने मेरा हृदय चूर-चूर कर दिया, और मेरा सारा सुख नष्ट होगया। सावित्री ने इस पर एक लम्बा-चौड़ा पत्र लिखा। वह पत्र क्या था, संसार की असारता पर एक मनोहर उपदेश था। मेरे हृदय को खोई हुई शान्ति मिल गई। मैं उसे सम्हालकर रखने लगी, मानो कोई बहु-

मूल्य और दुष्प्राप्य हीरा हो। अब भी जब मन में व्याकुलता होने लगती है, तो यह पत्र चमत्कार का काम दे जाता है।

अन्त में मुझसे न रहा गया। सावित्री और मदनलाल की लगन ने मुझे भारतवर्ष में खींच लिया। परन्तु यहाँ आकर मेरा हृदय बैठ गया। उन दोनों का पता न था। मैं हिमालय के पर्वतों पर फिरी, मैदानों में घूमी, तीर्थों पर गई, परन्तु उनका कोई पता नहीं लगा। मेरा विचार था, कि अपना समग्र धन उनके अर्पण कर दूँ, जिससे वे परोपकार के काम में लगा दें। इस विचार से समाचारपत्रों में विज्ञापन दिये, परन्तु फिर भी कोई परिणाम न निकला।

मैं हिमालय की तराइयों में घूमने लगी। दूसरे देश की स्त्री होने पर भी जहाँ-जहाँ मैं गुज़री, लोगों ने उदारता से मेरा आदर-सत्कार किया। उनके आदर-सत्कार को देखकर—जिनमें सर्वदा प्रेम, सरलता और आदर के भाव मिले हुए होते थे—मेरे हृदय में प्रश्न उठता है, कि क्या यह भारत वही भारत है, जिसके विषय में बाहर सहस्रों प्रकार की निर्मूल और अप्रासङ्गिक बातें प्रसिद्ध हैं, और की जा रही हैं। यदि मेरे वश में होता, तो भारत की आत्म-परायणता पर अमरीका और फ्रान्स की ऐश्वर्य-मय और दिखावे की सभ्यता को निछावर कर देती।

मैंने अपना रुपया बैंक में जमा करवा दिया, और उसे लिख दिया, कि मेरी मृत्यु के पश्चात् उसे भारतीय जाति-सेवकों के हाथ दे दिया जावे, और स्वयं हिमालय की उपत्यका में घूमने लगी। घूमते-घूमते एक दिन एक कुटिया दिखाई दी। उसे देखकर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे कोई मेरी अपनी बहुमूल्य वस्तु मिल गई है। मेरे पास कोई प्रमाण नहीं,

परन्तु मेरा मन साक्षी देता है, कि यह वही कुटिया है, जिसमें सावित्री और मदनलाल ने अपने प्रेम के दिवस व्यतीत किये थे। यहाँ के जल-वायु में मेरे मन को शान्ति मिलती है, और आत्मा ब्रह्मानन्द में होजाता है। जब प्रातःकाल मैं परमेश्वर के चरणों में झुककर प्रार्थना करने लगती हूँ, तो मुझे ऐसा अनुभव होता है, कि वह यहाँ से बहुत ही निकट है, और मेरी प्रार्थना के एक-एक शब्द को कान लगाकर सुन रहा है।

इस कुटिया में रहने से मुझे मानसिक शान्ति मिल गई। अब मुझे कोई इच्छा नहीं; केवल यह आकांक्षा है, कि मेरे जीवन की अन्तिम घड़ी इस पुण्यभूमि में आये, जिसको प्रकृति ने अपने अनन्त भण्डार से भर-पूर कर रक्खा है, और जिसको आध्यात्मिकता ने अपना आश्रय बनाया है। मेरा शरीर और उसकी अस्थियाँ भारत की पुण्यभूमि के अन्दर निहित हों, और अगले जन्म में (क्योंकि मुझे पुनर्जन्म पर विश्वास है) मुझे भारतवर्ष ही में जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त हो।

पाण्डेय बेचन शर्म्मा 'उग्र'

जन्मकाल	रचनाकाल
१९०१	१९२२

बुढ़ापा

१

लड़कपन के खो जाने पर उन्मत्त जवानी फूल-फूलकर हँस रही थी, बुढ़ापे के पाने पर फूट-फूटकर रो रही है। उस 'खोने' में दुःख नहीं, सुख था; सुख ही नहीं, स्वर्ग भी था। इस 'पाने' में सुख नहीं, दुःख है; दुःख ही नहीं, नरक भी है! लड़कपन का खोना—वाह! वाह!! बुढ़ापे का पाना—हाय! हाय!!

लड़कपन स्वर्ग-दुर्लभ सरलता से कहता था—"मैया, मैं तो चन्द खिलौना लैहौं।" जवानी देव-दुर्लभ प्रसन्नता से कहती थी—"दौर में सागिर रहे गर्दिश में पैमाना रहे।" और, "अङ्गं गलितं पलितं मुण्डम्"-वाला बुढ़ापा, भवसागर के विकट थपेड़ों से व्यग्र होकर, कहता है—"अब मैं नाच्यौं बहुत, गोपाल!"

कौन कहता है कि जीवन का अर्थ उत्थान है, सुख है, हा-हा-हा-हा है? यह सब सुफ़ेद झूठ है, कोरी कल्पना है, धोखा है, प्रवञ्चना है। मुझ से पूछो। मेरे तीन सौ पैंसठ लम्बे-लम्बे दिनों और लम्बी-लम्बी रातोंवाले—एक-दो, दस-बीस नहीं—साठ वर्षों से पूछो। मेरे कटु अनुभव से पूछो। मेरी लाचारी से पूछो, दुर्बलता से पूछो। वे तुम्हें, दुनिया के बालकों और जवानी को, बतलायेंगे कि जीवन का अर्थ 'वाह' नहीं, 'आह' है; हँसी नहीं, रोदन है; स्वर्ग नहीं, नरक है!

लड़कपन ने पन्द्रह वर्षों तक घोर तपस्या कर, क्या पाया?—जवानी के रूप में सर्वनाश, पतन। जवानी से बीस वर्षों तक; कभी धन के पीछे, कभी रूप के पीछे, कभी यश के पीछे और कभी मान के पीछे दौड़ लगाकर क्या हासिल किया?—वार्धक्य के लिफ़ाफ़े में सर्वनाश, पतन! और—और अब यह बुढ़ापा घण्टों नाक दबाकर, ईश्वर-भजन कर, सिद्धियों की साधना में दत्तचित्त होकर, खननन का खजाना इकट्ठा कर, बेटों की 'बटालियन' और बेटियों की 'बैटरी' तैयार कर, कौन-सी बड़ी विभूति अपनी मुट्ठी में कर लेगा?—वही सर्वनाश, वही पतन! मुझ-से पूछो, मैं कहता हूँ—और छाती ठोककर कहता हूँ—जीवन का अर्थ है, "प...त...न!"

रोज़ की बात है। तुम भी देखते हो, मैं भी देखता हूँ, दुनिया भी देखती है। प्रातःकाल उदयाचल के मस्तक पर शोभित दिन-मणि कैसा प्रसन्न रहता है। सुन्दरी ऊषा से होली खेल-खेलकर गङ्गा की बेला को, तरङ्गों को, मन्द मलयानिल को, नीलाम्बर को, दसों दिशाओं को और भगवती प्राची के अञ्चल को उन्माद से, प्रेम से और गुलाबी रङ्ग से भर

देता है। अपने आगे दुनिया का नाच देखते-देखते मूर्ख दिवाकर भी उसी रँग में रङ्गकर वही नाच नाचने लगता है, जीवन का अर्थ सुख और प्रसन्नता में देखने लगता है। मगर···मगर···?

रोज़ की बात है। तुम भी देखते हो, मैं भी देखता हूँ, दुनिया भी देखती है। सायंकाल में अस्ताचल की छाती पर पतित, मूर्छित दिन-मणि कैसा अप्रसन्न, कैसा निर्जीव रहता है! वह गुलाबी लड़कपन नहीं, वह चमकती-दमकती गरम जवानी नहीं, वह ढलता हुआ—कम्पित-करोंवाला व्यथित बुढ़ापा भी नहीं। श्री नहीं, तेज नहीं, ताप नहीं, शक्ति नहीं। उस समय सूर्य को उसकी दिन-भर की घोर तपस्या, रसदान, प्रकाश-दान का क्या फल मिलता है? सर्वनाश, पतन! उस पार—क्षितिज के चरणों के निकट, समुद्र की हाहामयी तरङ्गों के पास—पतित सूर्य की रक्त-चिता जलती है। माथे पर सायंकाल-रूपी काला चाण्डाल खड़ा रहता है। प्राची की अभागिनी अहिन पश्चिमा 'आग' देती है। दिशायें व्यथित रहती हैं, खून के आँसू बहाती रहती हैं। प्रकृति में भयानक गम्भीरता भरी रहती है। पतित सूर्य की चिता की लाली से अनन्त ओत-प्रोत रहता है!

उस समय देखनेवाले देखते हैं, ज्ञानियों को ज्ञात होता है कि जीवन का असली अर्थ, और कुछ नहीं, केवल सर्वनाश है।

२

कोरी बातों में, दार्शनिक विचार रखनेवालों की कमी नहीं। कमी होती है कर्मियों की—बातों के दायरे से आगे बढ़नेवालों की।

जीवन का अर्थ पतन या सर्वनाश है, यह कह देना सहज है। को-

चार उदाहरण देकर अपनी बात की पुष्टि कर देना भी कोई बड़ी बात नहीं। पर, पतन और सर्वनाश को आँखों के सामने रखकर जीवन-यात्रा में अग्रसर होना केवल दुरूह ही नहीं, असम्भव भी है।

उस दिन गली पार कर रहा था कि कुछ दुष्ट लड़कों की नज़र मुझ पर पड़ी। उनमें से एक ने कहा—

"हट जाओ, हट जाओ! हनुमानगढ़ी से भागकर यह जानवर इस शहर में आया है। क्या अजीब शक्ल पाई है। पूरा किष्किन्धावासी मालूम पड़ता है।"

बस; बात लग गई। बूढ़ा होजाने से ही इन्सान बन्दर हो जाता है? इतना अपमान! बूढ़ों की ऐसी प्रतिष्ठा! झुकी हुई कमर को कुबड़ी के सहारे सीधी कर, मैंने उन लड़कों से कहा—

"नालायको! आज कमर झुक गयी है। आज आँखें कम देखने और कान कम सुनने के आदी हो गये हैं। आज, दुनिया की तस्वीरें, भूले हुए स्वप्न की तरह झिलमिल दिखाई दे रही हैं। आज विश्व की रागिनी अतीत की प्रतिध्वनि की तरह अस्पष्ट सुनायी पड़ रही है। मगर, हमेशा यही हालत नहीं थी।

"अभी छोकरे हो, लौंडे हो, बच्चे हो, नादान हो, उल्लू हो! तुम क्या जानो कि संसार परिवर्तनशील है। तुम क्या जानो कि प्रत्येक बालक अगर जीता रहा तो, जवान होता है, और प्रत्येक जवान, अगर जल्द ख़त्म न हो गया तो, एक-न-एक दिन 'हनुमानगढ़ी का जानवर' होता है। लड़कपन और जवानी के हाथों बुढ़ापे पर जैसे अत्याचार होते हैं, यदि वैसे ही अत्याचार बुढ़ापा भी उन पर करने लगे, तो ईश्वर की

सृष्टि की इति हो जाय। बच्चे जन्मते-ही मार डाले जायँ। लड़के होश सँभालते ही, अपना पेट पालने के लिये, घर से बाहर निकाल दिये जायँ। संसार से, दादा के माल पर फ़ातेहा पढ़ने की प्रथा ही उठ जाय।

अब भी सौ में निन्यानवे धनी अपने बूढ़े बापों की कृपा से गद्दीदार बने हुए हैं। अब भी हज़ार में नौ सौ साढ़े-निन्यानवे शौक़ीन जवानों के भड़कीले कपड़ों के दाम, कंघी, शीशा, फ़ोटो, लवेण्डर, सोप, पाउडर, पॉलिश, वेश्या की फ़रमाइश और शराब की बोतलों के पैसे बूढ़ों की गाढ़ी कमाई की थैली से निकलते हैं। अब संसार में दया, प्रेम, करुणा और मनुष्यता की खेती में पानी देनेवाला, कमज़ोर हृदयवाला बुढ़ापा ही है; बेवकूफ़ लड़कपन नहीं—मतवाली जवानी नहीं……

फिर बूढ़ों का इतना अपमान क्यों? बुढ़ापे के प्रति ऐसी अश्रद्धा क्यों?

मगर, उन लड़कों के कान तक मेरी दोहाई की पहुँच न हो सकी। सब ने, एक स्वर से ताली बजा-बजाकर, मेरी बातों की चिड़ियों को हवा में उड़ा दिया।

"भागो! भागो!! हनुमानजी खावँ-खावँ कर रहे हैं। ठहरोगे तो किट-किट कर, टूट पड़ेंगे नोच-खाने पर उतारू हो जायँगे।"

लड़के हू-हू, हो-हो करते भाग खड़े हुए। मैं मुग्ध की तरह उनके अल्हड़पन और अज्ञान की ओर आँखें फाड़-फाड़कर देखता ही रह गया। उस समय एकाएक मुझे उस सुन्दर स्वप्न की याद आयी, जो मैंने आज से युगों पूर्व लड़कपन और यौवन के सम्मेलन के समय देखा था। कैसा मधुर था वह स्वप्न!

२

एक बार जुआ खेलने को जी चाहता है। संसार बुरा कहे या भला—परवाह नहीं। दुनियाँ मेरी हालत पर हँसे या हजो करे—कोई चिन्ता नहीं। कोई खिलाड़ी हो तो सामने आये। मैं जुआ खेलूँगा।

एक बार जुआ खेलने को जी चाहता है। जी चाहता है—एक ओर मेरा साठ वर्षों का अनुभव हो, मेरे सुफ़ैद बाल हों, झुर्रीदार चेहरा हो, काँपते हाथ हों, झुकी कमर हो, मुर्दा दिल हो, निराश हृदय हो और मेरी जीवन-भर की गाढ़ी कमाई हो। सैकड़ों वर्षों के प्रत्येक सन के हज़ार-हज़ार रुपये, लाख-लाख गिन्नियाँ और गड्डियों नोट एक ओर हों, और कोरी जवानी एक ओर हो। मैं पाँसे फेंकने को तैयार हूँ। सब-कुछ देकर जवानी लेने को राज़ी हूँ। कोई हकीम हो तो सामने आये, उसे निहाल कर दूँगा। मैं बुढ़ापे के रोग से परेशान हूँ, जवानी की दवा चाहता हूँ। कोई डॉक्टर हो तो आगे बढ़े, मुँह-माँगा दूँगा। कह चुका हूँ, निहाल कर दूँगा; मालामाल कर दूँगा।

हर साल वसन्त आता है। बूढ़े-से बूढ़ा रसाल माथे पर मौर धारण कर, ऋतुराज के दरबार में खड़ा होकर झूमता है। सौरभ-सम्पन्न शीतल समीर मन्द गति से प्रकृति के कोने-कोने में उन्माद भरता है। कोयल मस्त होकर "कुहू-कुहू" करने लगती है। मुहल्ले-टोले के हँसते हुए गुलाब—नवयुवक—उन्माद की सरिता में, सब-कुछ भूलकर, विहार करने लगते हैं; खिलखिलाते हैं, धूम-चौकड़ी मचाते हैं, चूमते हैं, चुम्बित होते हैं, लिपटते हैं, लिपटाते हैं—दुनिया के पतन को उत्थान का और सर्वनाश को मङ्गल का जामा पहनाते हैं। और मैं—रूखा-सा मुँह लिये,

कोरी आँखों तथा निर्जीव हृदय से इस लीला को टुकुर-टुकुर देखता हूँ।

उस समय मालूम पड़ता है, बुढ़ापा ही नरक है !

हर साल मतवाली वर्षा-ऋतु आती है। हर साल प्रकृति के प्रांगण में यौवन और उन्माद, सुख और विलास, आनन्द और आमोद की तीव्र मदिरा का घड़ा ढुलकाया जाता है। लड़कपन मुग्ध होकर लोट-पोट हो जाता है—"काले मेघा पानी दे !" जवानी पगली होकर गाने लगती है—"आई कारी बदरिया ना।" और मेरा बुढ़ापा ? अभागा ऐसे स्वर्गीय सुख के भोग के समय कभी सर्दी के चंगुल में फँसकर, खाँसता-खखारता रहता है, कभी गर्मी के फेर में पड़कर पंखे तोड़ता। सामने की परोसी हुई थाली भी हम—अपने दुर्भाग्य के कारण— नहीं खा सकते ! तड़प-तड़पकर रह जाते हैं; उफ़् !

उस समय मालूम पड़ता है, बुढ़ापा ही नरक है !

इस नरक से कोई मुझे बाहर करदे; युवक बना दे। मैं आजन्म ग़ुलामी करने को तैयार हूँ। बुढ़ापे की बादशाही से जवानी की ग़ुलामी करोड़ दर्जा अच्छी है। हाँ-हाँ, करोड़ दर्जा अच्छी है। मुझ से पूछो, मैं भुक्तभोगी हूँ, मुझ पर बीत रही है।

कोई यदु हो तो इस बूढ़े ययाति की सहायता करें। मैं मरने के पहले एक बार फिर उन आँखों को चाहता हूँ, जिन्हें बात-बात में उलझने, लगने, चार होने और फँसने का स्वर्गीय रोग होता है। इच्छा है, एक बार फिर किसी के प्रेम में फँसकर गाऊँ—

ठाढ़े रहे घनश्याम उतै, इत
मैं पुनि आनि अटा चढ़ि झाँकी

जानति हौ तुमहू अजरीति
न प्रीत रहै कबहूँ पल ढाँकी
'ठाकुर' कैसेहू भूलत नाहि नै
ऐसी अरी वा विलोकनि बाँकी
भावत ना छिन भौनको बैठिबो,
घूँघट कौनको ? लाज कहाँ की ?

इच्छा है, एक बार फिर किसी मनमोहन को हृदय-दान देकर, बैठे-बिठाये दुनियाँ की दृष्टि में व्यर्थ परन्तु स्वर्गीय पागलपन को सिर चढ़ाकर प्रार्थना करूँ—

रोज न आइयै जौ मनमोहन,
तौ यह नेक मतौ सुन लीजिये
प्रान हमारे तुम्हारे आधीन
तुम्हें बिन देखे सु कैसे कै जीजिये
'ठाकुर' लालन प्यारे सुनौ
बिनती इतनी पै अहो चित दीजिये
दूसरे, तीसरे, पाँचवें, सातवें
आठवें तौ भला आइबो कीजिये

४

मगर नहीं, वार्धक्य वह रोग नहीं, जिसकी दवा की जा सके। वह मर्ज़ ही ला-इलाज है। यह दर्द-सर ऐसा है, कि सर जाय तो जाय, पर दर्द न जाय।

लड़कपन के स्वर्गों का विस्मृतिमय अद्वितीय सुख देख चुका। जवानी

की अमरावती में विविध भोग-विलास कर चुका। अब बुढ़ापे के नरक में आया हूँ—भोगना ही पड़ेगा। इस नरक से मनुष्य की तो हस्ती ही क्या है, ईश्वर भी छुटकारा नहीं दिला सकता। बुढ़ापा वह पतन है—जिसका उत्थान केवल एक बार होता है, और वह होता है—दहकती हुई चिता पर। हमारे रोग की अगर दवा है, तो एक 'जाह्नवीतोयं'। यदि वैद्य है, तो एक 'नारायणो हरिः'।

फिर अब देर काहे की प्रभो? दया करो, 'समन' भेजो, जीवन की रस्सी काट डालो! अब यह नरक भोगा नहीं जाता। भव-सागर में हाथ मारते-मारते थक गया हूँ। मेरा जीवन-दीपक स्नेह-शून्य है; गुण-रहित है, प्रकाश-हीन है। इसका शीघ्र ही नाश करो! पञ्चतत्व में लय करो!

फिर से, नये सिरे से निर्माण हो; फिर से, नये सिरे से सृष्टि हो; फिर से, नये सिरे से, जन्म हो; फिर से, नये सिरे से, शैशव हो; फिर से, नये सिरे से, यौवन हो; फिर से, नये सिरे से, भोग हो, विलास हो, सुख हो, आमोद हो, विनोद हो, कविता हो, प्रेम हो, पागलपन हो; मान में अपमान, और अपमान में मान हो। फिर से, नये सिरे से, यौवन की मतवाली अंगूरी-सुरा ऐसी छने—ऐसी छने, कि लोक भूल जाय, परलोक भूल जाय, भय भूल जाय, शोक भूल जाय, यह भूल जाय, वह भूल जाय, हम भूल जायँ, और तुम 'ईश्वर' भूल जाओ! तब जीवन का सुख मिले, तब पृथ्वी का सुख दिखाई पड़े।

फिर अब देर काहे की प्रभो! कृपा करो, 'समन' भेजो; जीवन की रस्सी काट डालो!

देशभक्त

१

"स्वामिन्, आज कोई सुन्दर सृष्टि करो! किसी ऐसे प्राणी का निर्माण करो, जिसकी रचना पर हमें गौरव हो सके। क्यों?"

"सचमुच प्रिये, आज तुम्हें क्या सूझा, जो सारा धन्धा छोड़कर यहाँ आई हो, और मेरी सृष्टि-परीक्षा लेने को तैयार हो?"

"तुम्हारी परीक्षा, और मैं लूँगी? हरे, हरे! मुझे व्यर्थ ही काँटों में क्यों घसीट रहे हो नाथ! यों-ही बैठी-बैठी तुम्हारी अतुल रचना 'मृत्यु-लोक' का तमाशा देख रही थी। जब जी ऊब गया, तब तुम्हारे पास चली आई हूँ। अब संसार में मौलिकता नहीं दिखाई पड़ती। वही पुरानी गाथा चारों ओर दिखाई-सुनाई पड़ रही है। कोई रोता है, कोई खिलखिलाता है; एक प्यार करता है, दूसरा अत्याचार करता है; राजा धीरे-धीरे भीख माँगने लगता है, और भिक्षुक शासन करने! इन बातों में मौलिकता कहाँ? इसलिये प्रार्थना करती हूँ, कोई मनोरञ्जक सृष्टि

सँवारो। संसार के अधिकतर प्राणी तुमको शाप ही देते हैं, एक बार आशीर्वाद भी लो।"

"अच्छी बात है, इस समय चित्त भी प्रसन्न है। किसी से मानव-सृष्टि की आवश्यक सामग्रियाँ यहीं मँगवाओ। आज मैं तुम्हारे सामने ही तुम्हारी सहायता से सृष्टि करूँगा।"

"मैं, और तुमको सहायता दूँगी? तब रहने दो, हो चुकी सृष्टि! सृष्टि करने की योग्यता यदि मुझमें होती, तो मैं तुमको कष्ट देने के लिये यहाँ आती?"

"नाराज़ क्यों होती हो भाई? तुमसे पुतला तैयार करने को कौन कहता है? तुम यहाँ चुपचाप बैठी रहो। हाँ, कभी-कभी मेरी और मेरी कृति की ओर अपने मधुर कटाक्ष को फेर दिया करना! तुम्हारी इतनी ही सहायता से मेरी सृष्टि में जान आ जायगी, समझीं?"

"समझी। देखती हूँ, तुम्हारी आदत भी कलियुगी बूढ़ों-सी हुई जा रही है। अभी तक आँखों में जवानी का नशा छाया हुआ है।"

"और तुम्हारी आदत तो बहुत ही अच्छी हुई जा रही है। बूढ़े मारवाड़ियों की युवती कामिनियों की तरह जब होता है, तभी 'खाँव-खाँव' किया करती हो! चलो, जल्दी करो, सब चीज़ें मँगवाओ।"

२

क्षिति, जल, अग्नि, आकाश और पवन के सम्मिश्रण से विधाता ने एक पुतला तैयार किया। इसके बाद उन्होंने सब से पहले तेज को बुलाकर उस पुतले में प्रवेश करने को कहा। तेज के बाद सौन्दर्य, दया, करुणा, प्रेम, विद्या, बुद्धि, बल, सन्तोष, साहस, उत्साह, धैर्य, गम्भीरता-

आदि समस्त सद्गुणों से उस पुतले को सजा दिया। अन्त में आयु और भाग्य की रेखायें बनाने के लिये ज्योंही विधाता ने लेखनी उठाई, त्योंही ब्रह्माणी ने रोका—"सुनिये भी, इसके भाग्य में क्या लिखने जा रहे हैं। और आयु कितनी दीजियेगा ?"

"क्यों ? तुमने इन बातों से मतलब ? तुम्हें तो तमाशा-भर देखना है, वह देख लेना। भौंहें तनने लगीं न ? अच्छा लो सुन लो। इसके भाग्य में लिखी जा रही है, भयङ्कर दरिद्रता, दुःख, चिन्ता और इसकी आयु होगी बीस वर्षों की।"

"अरे! यह क्या तमाशा कर रहे हैं ? बल, साहस, दया, तेज, सौन्दर्य, विद्या, बुद्धि-आदि गुणों के देने के बाद दरिद्रता, दुःख और चिन्ता-आदि के देने की क्या आवश्यकता है, इस सृष्टि को देखकर लोग आपकी प्रशंसा करेंगे या गालियाँ देंगे ? फिर, केवल बीस वर्षों की अवस्था! इन्हीं कारणों से मर्त्य-लोक के कवि आपकी शिकायत करते हैं। क्या फिर किसी से 'नाम चतुरानन पै चूकते चले गये!' लिखवाने का विचार है ?"

विधाता ने मुस्कराकर कहा—"अब तो रचना हो गयी। चुपचाप तमाशा-भर देखो। इसकी आयु इसीलिये कम रक्खी है, जिसमें हमें तमाशा जल्द दिखाई पड़े।"

ब्राह्मणी ने पूछा—"इसे मर्त्य-लोकवाले किस नाम से पुकारेंगे ?"

प्रजापति ने गर्व-भरे स्वर में उत्तर दिया—"देशभक्त।"

२

अमरावती से इन्द्र ने, कैलास से शिव ने, बैकुण्ठ से कमलापति ने

—संसार-रङ्गमञ्च पर देशभक्त का प्रवेश उस समय देखा, जब उसकी अवस्था उन्नीस वर्ष की हो गयी। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। देव-मण्डली का एक-एक दिन हमारी अनेक शताब्दियों से भी बड़ा होता है। हमारे उन्नीस वर्ष तो उनके कुछ मिनटों से भी कम थे!

देशभक्त के दर्शनों से भगवान् कामारि प्रसन्न होकर नाचने लगे। उन्होंने अपनी प्राणेश्वरी पार्वती का ध्यान देशभक्त की ओर आकर्षित करते हुए कहा—"देखो, यह स्रष्टा की अभूतपूर्व रचना है। कोई भी देवता देशभक्त के रूप में नरलोक में जाकर अपने को धन्य समझ सकता है। प्रिये, इसे आशीर्वाद दो।" प्रसन्नवदना उमा ने कहा—"देशभक्त की जय हो!"

एक दिन देशभक्त के तेजपूर्ण मुखमण्डल पर अचानक कमला की दृष्टि पड़ गयी। उस समय वह (देशभक्त) हाथ में पिस्तौल लिये किसी देश-द्रोही का पीछा कर रहा था। इन्दिरा ने घबराकर विष्णु को उसकी ओर आकर्षित करते हुए कहा—"यह कौन हैं? मुख पर इतना तेज—ऐसी पवित्रता और करने जा रहे हैं, राक्षसी कर्म—हत्या! यह कैसी लीला है, लीलाधर!" विष्णु ने कहा—"चुपचाप देखो। 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्, धर्म-संस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे।' यदि वह—देशभक्त—राक्षसी काम करने जा रहा है, तो राम, कृष्ण, प्रताप, शिवा, गोविन्द, नैपोलियन सब ने राक्षसी कर्म किया है। देवि, इन्हें प्रणाम करो! यह कर्त्ता की पवित्र कृति है।"

* * * * *

हाथ की पिस्तौल देशद्रोही के मस्तक के सामने कर, देशभक्त ने

कहा—"मूर्ख! पश्चात्ताप कर, देश-द्रोह से हाथ खींचकर मातृ-सेवा की प्रतिज्ञा कर। नहीं तो, मरने के लिये तैयार हो जा।"

देशद्रोही के मुख पर घृणा और अभिमान की मुस्कराहट दौड़ गयी। उसने शासन के स्वर में उत्तर दिया—

"अज्ञान, सावधान! हम शासकों के लाड़ले हैं। हमारे माँ-बाप और ईश्वर, सर्व-शक्तिमान् सम्राट् हैं। सम्राट् के सम्मुख देश की बड़ाई!"

"अन्तिम बार पुनः कह रहा हूँ, 'माता की जय!' बोल; अन्यथा इधर देख!" देशभक्त की पिस्तौल गरजने के लिये तैयार हो गयी।

सिर पर सङ्कट देखकर, देशद्रोही ने अपनी जेब से सीटी निकालकर ज़ोर से बजाई। जान पड़ता है, देशद्रोही के अनेक रक्षक गुप्त रूप से उसके साथ थे। देखते-देखते बीस देशद्रोहियों का दल देशभक्त की ओर लपका! फिर क्या था, देशभक्त की पिस्तौल गरज उठी!! क्षण-भर में देशद्रोहियों का सरदार, कबूतर की तरह पृथ्वी पर लोटने लगा। गिर-फ़्तार होने के पूर्व सफल-प्रयत्न देशभक्त आनन्द-विभोर होकर चिल्ला उठा—"माता की जय हो!"/

काँपते हुए इन्द्रासन ने, पुष्पवृष्टि करते हुए नन्दन-कानन ने, ताण्डव-नृत्य में लीन रुद्र ने, कलकल करती हुई, सुरसरिता ने एक स्वर से कहा—"देशभक्त की जय हो!"

विधाता प्रेम गद्गद् होकर ब्रह्माणी से बोले—"देखती हो, देशभक्त के चरण-स्पर्श से अभागा कारागार अपने को स्वर्ग समझ रहा है, लोहे की लड़कियाँ—हथकड़ी-बेड़ियाँ—ने मानों पारस पा लिया है, संसार के हृदय में प्रसन्नता का समुद्र उमड़ रहा है, वसुन्धरा फूली नहीं समाती!

यह है मेरी कृति, यह है मेरी विभूति—प्रिये गाओ, मङ्गल मनाओ, आज मेरी लेखनी धन्य हुई !!!"

४

जिस दिन देशभक्त की जीवनी का अन्तिम पृष्ठ लिखा जानेवाला था, उस दिन स्वर्ग-लोक में आनन्द का अपार-पारावार उमड़ रहा था। त्रिंशकोटि देवाङ्गनाओं की थालियों को उदार कल्पवृक्ष ने अपने पुष्पों से भर दिया था, अमरावती ने अपना अपूर्व शृङ्गार किया था, चारों ओर मङ्गल गान गाए जा रहे थे।

समय से बहुत पहले-ही देवतागण विमान पर आरूढ़ होकर आकाश में विचरने और देशभक्त के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे।

※ ※ ※ ※ ※

सम्राट् के समर्थक भीषण शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर एक बड़े मैदान में खड़े थे। देशभक्त पर "सम्राट् के प्रति विद्रोह" का अपराध लगाकर न्याय का नाटक खेला जा चुका था। न्यायाधीश की यह आज्ञा सुनायी जा चुकी थी कि "या तो देशभक्त अपने कर्मों के लिये पश्चात्ताप प्रकट कर, 'सम्राट् की जय' घोषणा करे या तोप से उड़ा दिया जाय।" देशभक्त पश्चात्ताप क्यों करता ? अतः उसे सम्राट् के सैनिकों ने ज़ञ्जीर में कसकर तोप के सम्मुख खड़ाकर दिया !

सम्राट् के प्रतिनिधि ने कहा—

"अपराधी ! न्याय की रक्षा के लिये अन्तिम बार फिर कहता हूँ,—'सम्राट् की जय' घोषणा कर पश्चात्ताप करले !"

मुस्कराते हुए देशभक्त बन्दी ने कहा—

"तुम अपना काम करो, मुझ से पश्चात्ताप की आशा व्यर्थ है। तुम मुझ से 'सम्राट् की जय' कहलाने के लिये क्यों मरे जा रहे हो? सच्चा सम्राट् कहाँ है। तुम्हारे कहने से संसार के लुटेरे को मैं कैसे सम्राट् मान लूँ? सम्राट् मनुष्यता का द्रोही हो सकता है? सम्राट् न्याय का गला घोंट सकता है? सम्राट् रक्त का प्यासा हो सकता है? भाई, तुम जिसे सम्राट् कहते हो, उसे मनुष्यता और मनुष्यता के उपासक 'राक्षस' कहते हैं। फिर सम्राट् की जय-घोषणा कैसी? तुम मुझे तोप से उड़ा दो— इसी में सम्राट् का मङ्गल है, इसी से उसके पापों का घड़ा फूटेगा, और उसे मुक्ति मिलेगी!"

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

देव-मण्डल के बीच में बैठी हुई माता मनुष्यता की गोद में बैठकर देशभक्त ने और साथ ही त्रिंशकोटि देवताओं ने देखा, पञ्चतत्व के एक पुतले को अत्याचार के उपासकों ने तोप से उड़ा दिया!

उस पुतले के एक-एक कण को देवताओं ने मणि की तरह लूट लिया। बहुत देर तक देवलोक "देशभक्त की जय!" से मुखरित रहा!

चाँदनी

९ बजे रात.........

लड़कियाँ—ना भाई, लड़कियाँ नहीं; वे तो युवतियाँ थीं, और थीं एक-से-एक बढ़ी-चढ़ी सुन्दरियाँ। उनकी संख्या ठीक दो दर्जन और एक थी। वे मिस मिनी के कारीगरी से सजे 'ड्रेसिंग-रूम'—या शृङ्गार-सदन—में, एक धार में, ख़ूबसूरती से खड़ी थीं।

पोशाक—हाँ भाई, थी तो ज़रूर कोई पोशाक उनके गुल-बदन पर, मगर, वह बीसवीं सदी का पहनावा था और इस सदी के इस पहनावे की कहानी तथा सनातनी परिधान की कथा में उतना ही अन्तर है जितना कोट-पैण्ट और वल्कल-वसन में; 'मरे' होटल के 'मटन' और 'असन-कन्द फल-फूल' में, 'कलियुगे कलि प्रथम चरणे—श्वेत वाराह कल्पे—गौराङ्ग राज्ये' तथा 'त्रेता युगे—राम राज्ये' में।

मगर दुर्भाग्य या सौभाग्य से, न तो आप राम-राज्य के पाठक हैं और न यह त्रेता युग की कहानी। अतः इन पचीस पद्मदर्शियों के

बीसवीं सदी के परिधान की जैसी-की-तैसी तस्वीर ही आप देखें और ढूँढें इन पंक्तियों में। क्योंकि मिस मिनी के ड्रॉइंग-रूम की चर्चा है—और वह, आधुनिक सभ्यता के केन्द्र, इस युग की अमरावती, फ्रान्स की राजधानी पेरिस की चलती-फिरती, हँसती-खेलती कुसुम-कुमारी हैं। साथ ही आज के ज्ञान की ज्योति से चमककर, कभी-कभी, वह त्रेता युग और राम-राज्य की निन्दा भी कर बैठती हैं। कहती हैं, अगर हमारे फ्रान्स में राम-राज्य हो, तो हम फ़रासीसी ज़रूर ही, ९३ की क्रान्ति को दोहरा दें। क्योंकि पहले तो हम 'राजा' ही नहीं चाहते और फिर राम-सा राजा—जो महारानी सीता तक को, व्यर्थ की बात के लिये, अपने राज से निकाल दे, अपने आधे सिंहासन पर से धकेल दे! छिः, ना; हमें राम-राज्य और राम की ज़रूरत नहीं।

यह मिस मिनी कौन हैं? ऐसा सवाल यदि राम-राज्य के प्रेमी करना चाहें, तो बड़ी ख़ुशी से कर सकते हैं। यह बड़ी-बड़ी भूरी आँखों-वाली, मङ्गोलियन-मुखी, सुखों से फूली नहीं, तो कली; नाटी और छोटी-सी पेरिस-रङ्गमञ्च की एक विख्यात् नर्तकी हैं। हमारी प्रसिद्ध रियासत के परमेश्वर-स्वरूप महाराजाधिराज गत वर्ष जब विदेश-यात्रा के लिये गये थे, तब वहीं—पेरिस में—मिनी-महाराज-सम्मेलन हुआ था। एक ही दृष्टि में तो मिस मिनी ने महाराज के मोही मन को अपनी ओर मोड़ लिया था। फिर प्राइवेट सेक्रेटरी और दल के अन्य सरदारों के लाख मना करने पर भी उन्होंने अपने मत में तिल बराबर भी परिवर्तन नहीं किया। जवाहरात के भाव में मिस महोदया के उस मङ्गोली मुख को ख़रीदकर, महाप्रभु उन्हें सादर और सविनय अपने राज्य में ले ही

आये। इसी देश की हवा में साँस लेकर, यहीं का नमक खाकर और पानी पीकर हमारे धर्मावतार की 'लिटिल् मिनी' ने राम-राज्य से नफ़रत करने और कोसने का अभ्यास किया है।

सब लोगों को पता न होगा, पर, मिस महोदया गत चार वर्षों से हमारी रियासत की सुखश्री 'शेरी' और 'शेम्पेन' के बिल्लौरी गिलास में ढाल-ढालकर उड़ाती जा रही हैं। पहले, जब वह गरमा-गरम थीं, तब, महाराज उन्हीं के यौवन की आग में अपना सर्वस्व डालकर, आठोयाम, आँख और छाती सेंका करते थे। मगर, इधर कुछ दिनों से शायद मिस महोदया की यौवनाग्नि पर 'अति परिचयात् अवज्ञा' की राखी छा गई है। तभी तो, आजकल, महाराज उनसे अपनी अनन्त प्रेमिकाओं के—विविध वेश-विन्यास में—सजाने का काम लेते हैं। एक तरह से, इन दिनों वह, महाराज के विलास-भवन की निरीक्षिका का पद सुशोभित कर रही हैं। इस बहुत ज़िम्मेदार, ज़रूरी और कठिन कार्य के लिये उन्हें रियासत से एक हज़ार रुपए मासिक दक्षिणा मिलती है, और मिली है एक 'फ़िएट कार' टहलने के लिए, दो जोड़ियाँ ज़ायक़ा बदलने के लिये, एक बढ़िया महल रहने के लिये, तथा दर्जन-के-दर्जन दास-दासियाँ—'यू ब्लडी, ब्लैक, निगर' कहने के लिये। पहले मिस महोदया भारतीय दासों पर अपनी मातृ-भाषा—फ्रेंच—में गालियों की मधुर बौछार छोड़ा करती थीं, मगर; जब से उन्हें यह मालूम हुआ कि, अँग्रेज़ी राज्य में रहते-रहते 'नेटिवों' को अँग्रेज़ी गाली का स्वाद अधिक अच्छा लगने लगा है, तब से, वह भी उसी देव-भाषा में भारतीय भृत्यों की मधुर भर्त्सना करती हैं।

ख़ैर; अब उनके शृङ्गार-भवन में, एक धारा में खड़ी, उन पच्चीस पञ्चदशियों के सामने एक बार पुनः आइये। क्योंकि, मिस महोदया का साधारण परिचय तो आप पा ही गये। उन रूपवती यौवनाओं के शरीर पर, दूर से देखने से, कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता था। पर, आप नाक न सिकोड़ें, इस कथन का अर्थ यह नहीं है कि वे नग्न थीं। यदि उनके नख-शिख का वर्णन् किया जाय तो उनके पैरों में चम्पई रङ्ग के मुलायम मख़मली जोड़े थे, जिन पर सोने की मोहक रेखायें सँवारी गई थीं। जोड़े के भीतर भी पैर नङ्गे नहीं थे, उनमें उसी रङ्ग के रेशमी मोज़े मोहकता को उन्मादिनी बना रहे थे। इसके अलावा उनके सर्वाङ्ग पर पाश्चात्य पोशाक की वह पतली झिल्ली थी, जिसे उधरवाले 'अण्डर-वियर' कहते हैं। उस छाया-परिधान का रङ्ग भी वही था। उनके दोनों हाथी-दाँती-से हाथ स्कन्ध-मूल तक और नङ्गी गर्दन वक्षस्थल के उस भाग तक खुली हुई थी, जो इतना मोहक होता है कि, उसके स्मरण-मात्र से 'विश्वामित्र पाराशरः' प्रभृति की कठिन समाधि भी डावाँडोल हो जाती है।

उस शृङ्गार-सदन में बिजली की अनेक छोटी-बड़ी हरी बत्तियाँ चाँदनी-सा मायामय जाल पसारे हुए थीं। उस प्रकाश में, उस सूक्ष्म परिधान में, वे नवनीत कोमलाङ्गिनियाँ—अपने रूप से आप ही जलती हुई—मोमबत्तियाँ-सी दिखाई पड़ती थीं। मोम उनका तन था, ज्योति उनका रूप था और विलायती ढङ्ग से साफ़ किये हुए उनके श्याम सुवर्ण केश धूम्र की धूमिल—किन्तु उस रूप के साथ कितनी उज्ज्वल!—रेखाओं-से थे!

❀ ❀ ❀ ❀

११ बजे रात......

जो अवस्था इस विख्यात बीसवीं सदी की है, ठीक वही हमारे श्रीमान् महाराजाधिराज की भी है। उनका जन्म, हमारे स्वर्गवासी महाराज के सुशासन काल में, सन् १६०१ ई० की, १ जनवरी को, रात्रि के १२ बजकर १ मिनट पर हुआ था। वह उत्साह-मङ्गल और तान-गान की—जगमग—पिछली रात हमें ख़ूब याद है; ख़ूब मज़े में याद है। और यह भी याद है कि, उसी दिन इस कान्तिमयी, अल्हड़, उन्मादिनी बीसवीं सदी ने भी अपने अनोखे अस्तित्व का 'अ' देखा था। इसी से तो, कभी-कभी हमारे मन में ऐसा विश्वास बढ़ने लगता है, मानों, हमारे वर्त्तमान महाराज इस बीसवीं सदी ही के लिए पृथ्वी पर पधारे हों और महारानी बीसवीं सदी प्रकटित हुई हों हमारे भानु-कुल-भूषण के लिए!

अ—ह!! फिर उस त्रेतायुग के भानु-कुल की याद आगई! मिस मिनी महोदया का कहना यह है कि, कलियुग के लेखकों—ख़ासकर गल्प-गढ़कों—में सब से बड़ी कमी यही है कि वे बात-बात में भानु-कुल की चर्चा चला-चलाकर इस युग के विकसित पाठकों की खोपड़ी ख़ाली कर डालते हैं। मगर हम तो लाचार हैं उस कुल को स्मरण करने के लिए। क्योंकि हमारे मालिक महाराज उसी वंश में उत्पन्न हुए हैं, जिसके एक प्रतापी राजकुमार रामचन्द्र थे—जो त्रेता युग में, नौमी तिथि मधुमास पुनीता में—बाबा तुलसी के कथनानुसार—'भक्त, भूमि, भूसुर, सुरभि, सुर-हित लागि' प्रकट हुए थे।

रामचन्द्र पण्डित-प्रवर रावण की लङ्का की ओर भी गये थे, ऐसा

हमको कुछ-कुछ स्मरण है; और वह इसलिए स्मरण है कि हमारे महाप्रभु भी एक बार लङ्का-यात्रा कर चुके हैं। अभी पिछले ही साल की तो बात है। आ—हा! आपको मालूम नहीं!! हमारे प्रजा-पाल की सीलोन-यात्रा में गत वर्ष बड़े-बड़े गुल खिले थे। दस लाख रुपये, तीन महीने के लङ्का-प्रवास में, राज्य के ख़ज़ाने से उसी तरह उड़ गये, जैसे चक्रवर्ती दशरथ के पुत्र के अनन्त वाणों से ऋषिवर 'पुलस्त के नाती' के अनन्त मस्तक उड़े थे—त्रेतायुग में।

कहा जाता है, सीलोन से चलते-चलते हमारे पृथ्वी-पति ने कुछ ऐसा कमाल कर दिखाया कि हमारे राज्य के इतिहास का मुँह चमाचम हो गया। जो काम आज तक किसी भी भानु-वंशी से न बन पड़ा था, उसे हमारे क्षत्रिय पार्थिव परमेश्वर ने चुटकियों में कर दिखाया। वह अभूतपूर्व वीरता से किसी सिंहाली मुसलमान की युवती दुहिता को 'हर' लाये हैं।

वेद-विद् रावण ने मायामयी वैदेही का हरण किया था,—मगर, ख़ाक किया था। अरे, जब भिखारी बन गये और रखवाले गृद्ध-द्वारा गिरफ़्तार किये जाकर ज़लील बनाये गये तभी उनकी बुद्धि का दीवालियापन इतिहास पर प्रकट हो गया। ब्राह्मण जो थे रावण, इसी से वह महावीर और महापण्डित होकर भी, स्त्री-हरण-कला को न जान सके।

इधर हमारे प्रभु ने एक दिन अपनी मोटर पर से उस सिंहालिनी को देखा और उस घटना के ठीक छत्तीस घण्टे के भीतर वह परम रूपवती मुसलमान-दुहिता उनके सामने थी। उन्हें रावण की तरह अपनी लङ्का भी न खोनी पड़ी। वह अपने सुवर्ण-मण्डित होटल में आनन्द

से बैठे ही रहे और उनके दल के दूसरे वीरों ने, दो 'डॉज ब्रदर्स' की सहायता से, उस लड़की के बाप के घर पर चढ़ाई कर, उसका बरबस हरण कर लिया। जटायु—गृद्ध—सो भी वृद्ध; ताड़ गया था पण्डित रावण की बेवकूफ़ी को। मगर, उस सिंहाली मुसलमान के पास-पड़ोसी पुलीसवाले न ताक सके महाराज के 'डॉज-भाइयों' की ओर। मोटर देखी उन्होंने, जैसे जटायु ने रावण का रथ देखा था; मगर देखने के पूर्व उनके हाथ उनकी 'वर्दी' की जेबों में थे। शायद, भक्तों के हृदय की तरह, उन जेबों में भी कोई 'उज्ज्वलता' थी—मगर, 'हमारे' प्रभु की। अस्तु, उज्ज्वल-पक्ष को अपनी मुट्ठी में कर, पुलीसवालों ने कामिनी, मोटर और राजा का त्याग उसी तरह 'हाथ उठाकर' कर दिया जिस तरह महर्षि—या राजर्षि अथवा ब्रह्मर्षि—विश्वामित्र ने अपनी ही लड़की शकुन्तला का त्याग किया था।

लङ्का की उस ललना का नाम 'चाँदनी' है, ऐसा मिस मिनी के मझोली मुख से एक दिन सुना था। साल-भर से वह चाँदनी मिस महोदया ही के महल में, अपने परिवार से छिटकी हुई, उचटे मन से चमक रही है। वह ऐसी कुछ सुधामयी, मादक और मोहिनी है कि स्वयं मिस मिनी भी उसके मयङ्क-मुख पर मोही-सी मालूम पड़ती हैं। तभी तो उन्होंने एक दिन महाराज को चाँदनी-हरण पर बधाई दी थी। कहा था, आपने यो युगों बाद ही सही, मगर, ख़ूब बदला लिया लङ्केश्वर की मूर्खता का। बेशक आप भानुवंशी हैं—धन्य हैं!

मगर, वह चाँदनी अजीब पगली है। साल-भर से महाराज के प्रेम-प्रस्तावों पर नफ़रत से नाक सिकोड़ रही है। वह मिनी को बहुत मानती

है; क्योंकि मिस भी उसे बहुत मानती हैं। उनके आज्ञा या आदेशानु-सार वह देशी और विदेशी नृत्यों का अभ्यास कर चुकी, कुछ-कुछ गुनगुनाने भी लगी, मगर, मिस महाशया के महल के बाहर महाराज के सामने जाने को वह कभी तैयार ही नहीं होती। उसने कहीं से एक छुरा पा लिया है। वैसा ही छुरा, जैसे की चर्चा अक्सर कहानी कहनेवाले किया करते हैं। यदि कभी महाराज स्वयं मिनी के महल में मदहोशी में, चाँदनी से खेलने की धुन में, आ फटते हैं; तो, वह उसी छुरे को अपनी उभरी हुई छाती पर तानकर खड़ी हो जाती है। एक क़दम भी और आगे बढ़े......" वह गरज पड़ती है—"तो इस चाँदनी को छुरे के घाट के उस पार ही पाइयेगा। ख़बरदार, जो मेरे तन को कभी हाथ लगाया! यह तन तो मेरे प्यारे 'वाहिद' का है; जो जावा में चीनी का बहुत बड़ा रोज़गार करते हैं। इसे वही छू सकते हैं, आप नहीं; फिर आप चाहे राजा हों, या बादशाह।"

जब-जब बात यहाँ तक बढ़ जाती है, तब-तब मिस महोदया महा-राज को सम्भालती हैं; जैसे मन्दोदरी रावण को सम्भाला करती थी। वह महाराजा को चाँदनी के आगे ही वचन देती हैं, कि प्रभो! इस बार इस पगली को अपनी वीरता की ओर देखकर क्षमा कर दो। यह शीघ्र ही आपकी महिमा पहचान लेगी, और आपकी छाती की छाँह में छुमछननन कर, छिप जायगी। अभी इसका सिन ही क्या है; अक़्ल ही कितनी है!

मगर अब, महाराज माननेवाले नहीं। परसों ही उन्होंने मिनी के कानों में फ़ुसफ़ुसा दिया है, कि चाहे जैसा भी हो, इस शारदी पूर्णिमा को वह अवश्य ही चाँदनी की सुधा लूटेंगे। अस्तु, अपने पद की प्रतिष्ठा

रखने के लिये, पूर्णिमा के पूर्व ही विलास-भवन की निरीक्षिका महोदया को चाँदनी पर कोई-न-कोई जादू डाल ही देना चाहिये।

आज शारदी पूर्णिमा ही तो है? या आप अपने देश की इतनी-सी बात भी नहीं जानते? महाराज का सब से सुन्दर उद्यान – वह सामने चाँदनी में देखिये – कैसा सजाया गया है। अभी हमारे नरेन्द्र अपनी 'रोल्स-रॉइस' पर घूमने गये हुए हैं। वह ठीक ग्यारह बजे रात, इस उद्यान में पधारेंगे—अपने दल-बल के साथ। आज यहाँ पर मिस मिनी के 'मैनेजमेण्ट' में अनोखे-अनोखे गुल खिलेंगे। और?—और 'चाँदनी' आज-ही लूटी जायगी।

❀ ❀ ❀ ❀

१ बजे रात······

६ बजे रात को, उन पचीस पंचदशियों के साथ मिस मिनी जिस कमरे में थीं, यह कमरा उससे बिल्कुल भिन्न है। वह ड्रेसिङ्ग-रूम था, यह ड्रॉइङ्ग-रूम है। उस समय की युवतियों के परिधान में, और इस समय के शृङ्गार में भी भारी अन्तर हो गया है। इस अमीरी से आवृत्त कमरे में नवेलियाँ छः-छः के गुच्छ में बँटकर, चार बड़ी-बड़ी, गोल, मारबली मेज़ों के चारों ओर बैठी खिलखिला रही हैं।

इन चौबीस चारु-मुखियों से थोड़ी दूर पर वह पचीसवीं भी, एक चौकोर और पीले मारबल की मेज़ के पास, मिस मिनी के साथ बैठी है। उसका वेश-विन्यास अन्य चौबीसियों से कहीं भिन्न और मोहक हुआ है।

उन चौबीसियों के शृङ्गार में उन चीज़ों के अलावा, जिन्हें आप जान

चुके हैं, केवल दो चीज़ें अब और बढ़ा दी गई हैं। आबरवाँ के, धानी रङ्ग के, ज़रीदार, घुटने तक लम्बे, ज़रूरत से ज़्यादा चौड़े, आधी बाँह के कुरते, जिनकी बाँहों पर चार-चार अंगुल चौड़ी अंगूरी लता लहरा रही है; और उनके कमर तक ग़लते हुए सुकेशों पर सुशोभित—मालती और अशोक के धवल और सुगन्धिमय पुष्पों के मनोहर मुकुट। उन पारदर्शी-कुरतों के बाहर 'अण्डर-वियर' के भीतर कसी हुई उनकी सौन्दर्य-मयी जवानी मानों फटी पड़ती है। उन मालती और अशोक की गल-बैयों से गुथे हुए, ज़रा पाश्चात्य कला के आगार पर रचे गये मोहक मुकटों ने तो सुन्दरियों के रूप का भाव कुछ-से-कुछ कर दिया है। अब वे परियाँ मालूम पड़ती हैं—इन्द्र के अखाड़े की।

उस पचीसवीं को हमारे नरपति की विलास-भवन-निरीक्षिका ने 'परशियन' पोशाक से सँवारा है। बढ़िया सुफ़ेद रेशम का, उमरख़ैयाम के युग का कामदार पाजामा; गुलाबी रङ्ग का, रेशम और ज़री के काम का, क़ीमती कुरता; उस पर धानी रंग के मुलायम मख़मल का चोली-नुमा जाकिट; और सब के ऊपर जोगिया रङ्ग का, उसी झीने आबरवाँ का, हलके—पर सुन्दर काम का दुपट्टा! यद्यपि उसके माथे पर वह मालती-अशोक मुकुट नहीं है, फिर भी वह उन सब मुकुटिनियों की महारानी मालूम पड़ती है।

वह पचीसवीं ही तो हमारे भानु-कुल-भूषण-द्वारा हरिता और यौवन से भरिता सुन्दरी चाँदनी है। आज पहली बार, मिल मिनी के लाख-लाख मनाने से, महाराज के सामने वह जायगी। उन चौबीस मुकुटिनियों की महारानी की तरह। हाथ में बढ़िया बिल्लौरी सुराही, रङ्गीली मदिरा और

'कटक' के कारीगरों का बनाया हुआ अनमोल गङ्गा-जमुनी गिलास लेकर। मिस मिनी-द्वारा सिखायी, और बार-बार 'रिहर्सल' कराई गई किसी ख़ास अदा से। चाँदनी के पीछे—सौन्दर्य-भरी उज्ज्वल और मादक छाया की तरह,—वैसे ही सुराही-गिलास लेकर, दो दलों में विभक्त होकर, वे चौबीस चाँदनियाँ भी हमारे अन्नदाता के सामने चलेंगी। आज शरदपूनों है न। बड़ा मज़ा रहेगा। ऊपर चाँद, नीचे चाँद—चारों ओर चाँदनी-ही-चाँदनी चमकती फिरेगी।

"हमें वहाँ जाकर क्या करना होगा?" यह सवाल लङ्का की ललना ने पेरिस की मँगोलमुखी मिस मिनी से, उक्त साज-श्रृङ्गार के पहरों पूर्व —किया था। इसमें कोई सन्देह नहीं। उत्तर में मिस महोदया ने मधुर स्वर में मुस्कराते मुख से समझा दिया कि—"और क्या करना है; मैंने जो वर्ष-भर तक तुम्हें वह 'सात घूँघटवाला नाच' सिखाया है, बार-बार 'रिहर्सल' कराया है, उसी को महाराज के सामने नाचकर दिखा देना। यदि तुम सफल हुई इस परीक्षा में, तो बस, पुरस्कार है और तुम्हारी मुक्ति का समाचार है। इसे झूठ न समझना बहन! मैं महाराज के बादशाही मिज़ाज को ख़ूब जानती हूँ। वह ज़रूर तुम्हें तुम्हारे परिवार के पास, और प्यारे की भुजाओं में!—भेज देंगे। उन्होंने मुझे वचन दिया है।

"और बहन, तुम जानती नहीं, महाराज भानुवंशी हैं; और इस देश के उस वंश की विरदावली बहुत विशद है। वे लोग वचन देकर—ख़ासकर औरतों को—कभी मुकरते ही नहीं; चाहे महाराज दशरथ की तरह जान भले ही देदें।"

"उस नाच में मदिरा और सुराही का भी प्रयोग होता है? तो क्या

महाराज को ढाल-ढालकर देना होगा? पी लेने पर वह होश में न रहे तो?" चाँदनी ने शङ्कित भाव से अपनी बड़ी-बड़ी सुरमयी आँखें झुका-कर, मिस मिनी से पूछा।

"तो क्या डर है बहन? इसीलिये तो मैंने तुम्हें दूसरे वेश में सजाया है। महाराज की मदहोशी का शिकार बनेंगी, वे चौबीस मुकुटनियाँ, तुम नहीं। तुम तो मजलिस की महारानी की तरह घूम-घूमकर और नाच-नाचकर, केवल महाराज को ढालोगी, और फिर—ओहो! मैं भूल गयी थी उसको!—तुम अपना छुरा तो ज़रूर ही कमर में रक्खो। जब तक वह तुम्हारे पास रहेगा, तब तक तो तुम्हारा तन सुरक्षित है ही। महाराज तुम्हारे मिज़ाज को ख़ूब समझ गये हैं। मेरी बात मानो! वह तुम्हें भूलकर भी न छेड़ेंगे। बस, नाचो आज सखी! वह सात घूँघटवाला पुराना 'रोमन' नाच, ज़रा मस्ती से चमककर।"

इसी समय ड्राँइङ्ग-रूम के द्वार पर किसी की धीमी थपकी सुनाई पड़ी। मिनी महोदय दौड़ीं दरवाज़े की ओर। वह महाराजाधिराज के प्राइवेट-सेक्रेटरी साहब थे। स्वयं यह सूचना देने आये थे कि अब रात आधी से ऊपर बीत चली, महाराज उतावले हो रहे हैं। व्यर्थ के दरबारी विदा कर दिये गये। अब केवल चुने चन्द रह गये हैं। उद्यान में चारों ओर शरद्-पूर्णिमा की चाँदनी छा गयी है। महाराज व्यग्र हैं। वह अपनी चारों ओर सिंहल के उस मुसलमान के घर की 'चाँदनी' की छाया चाहते हैं।

मिस मिनी ने मोहकता से सेक्रेटरी के कान से अपने रँगे होंठ सटा-कर और ठुड्डी से उसके कपोल पर सिंदूर की एक रेखा खींचकर कहा —"आप चलें महोदय! हम अब हाज़िर ही होती हैं। ज़रा उस छोक-

रियों को शरबत के बहाने वह ख़ास नशा भी पिला दूँ—जिसमें ऐन मौक़े पर कोई पगली आपके उस नङ्गे देवता की पत्नी के चरित्र का पाठ न करने लगे—जिसका नाम मुझे इस वक़्त भूल रहा है।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

३ बजे रात.........

त्रेता युग में 'मघवा महामलीन' माना जाता था, इसके हमारे पास पोथों प्रमाण हैं। वह विशेष व्यक्तियों की विशेषताओं की वृद्धि से विकल हो उठता था और उसके साथ-ही-साथ उसका इन्द्रासन भी, कायर के कोमल कलेजे की तरह, काँपने लगता था। मालूम नहीं हमें, वह त्रेता-वाला मर गया था, या अभी तक अमर-का-अमर ही है। मगर, मर ही गया होगा बेचारा। अनुमान तो यही अटकल लगाता है। क्योंकि यदि वह अभी तक सहस्रलोचन होता, तो; हमारे शूर-शिर-मुकुटमणि, महिमामय महाराज की विलास-विभूति की विशेषताएँ अवश्य ही देख लेता। इन्हें देखकर भला वह अपने-आपे में रह सकता था? असम्भव! कदापि नहीं। ये सुन्दरियाँ, ये सुविधा से चुनी हुई राज्योद्यान की पुष्प-परियाँ, ये गिलास और ये सुराहियाँ,—यह शराबों की रङ्गबिरङ्गता! अरे, अरे—इन्हें यदि वह महामलीन मघवा देख पाता, तो, अपनी ही छाती पर वज्र मारकर रह जाता। यही मिस मिन्नी का भी मत है। पर सुनिये तो; आप 'मघवा' के माने जानते हैं? हमने तो सुना है, कि 'मघवा' का अर्थ 'बिलौजा' है।

शारदी पूर्णिमा को जिसकी आँखों के सामने चाँदनी की लूट हुई, बल्कि उस लूट को अधिक-से-अधिक मादक और आकर्षक बनाने का

जो सब से प्रधान उत्तरदायी है, वह उस पुराने मघवा का मशहूर मित्र है। उसका नाम चन्द्रमा है। वही तो ऋषि गौतम की रूपमयी अहल्या के बण्टाढार के समय मघवा के साथ था। वही तो द्विज-राज कहा जाता है। वही तो मयङ्क-मौलि के माथे पर चढ़ा रहता है। मिस मिनी ने अपने हिन्दू ख़ानसामा की—आठ-आनेवाली रा-क्षेपक—रामायण से उसकी कहानी सुनी है। वह बहुत हँसती रहीं, चन्द्रमा के ऊँचे पद और नीचे कर्मों पर। उनका कहना है कि जब सीता के लिये रावण, द्रौपदी के लिये कौरव, और किस-किसको अपमानित करने के अपराध में—अवतारों-द्वारा—कौन-कौन मारे ही गये, तब यह द्विज-राज अब तक क्यों जीता है? इसका सुफ़ैद और कलङ्कित शिर क्यों नहीं आकाश के कन्धे पर से काट फेंका गया? तिस पर तो मिस महोदया यह नहीं जानतीं कि वह बृहस्पति की पत्नी तारा का पति भी है—'गुरु-तियगामी' भी है। यदि उन्हें यह बात मालूम होती, तो वह अवश्य ही, भाव से मुस्करा-मुस्कराकर, किसी हिन्दू सरदार या स्वयं श्रीमान् के सामने, चन्द्रमा पर लाख-लाख फब्तियाँ कसतीं।

शारदी पूर्णिमा को, शराब, सुराही और गिलास लिये, चौबीस सुन्दरियों के आगे तथा मिस मिनी के पीछे, जब चाँदनी महाराजाधि-राज के सामने आई, उस समय उस उद्यान में चारों ओर सुफ़ैदी ही-सुफ़ैदी छाई हुई थी। उद्यान और चौबीस चुने हुए हिन्दू-मुसलमान सम-वयस्क सरदारों के बीच में हमारे भानु-कुल-भूषण और उनके प्राइवेट-सेक्रेटरी महोदय सुफ़ैद मारबल के चौकोर चबूतरे पर बैठे सुरा-सुन्दरी का सेवन कर रहे थे। उसी समय तो मिस मिनी के आदेशानुसार वे

पचीसों पश्चदर्शियाँ—न-जाने कौन-सा पीने और ढालने का गाना गा-गाकर—वह अद्भुत पश्चिमी नाच नाचने लगीं। उनमें सब से आगे, चोगिया दुपट्टा ओढ़े, लङ्का की वह मुसल्मान लड़की 'सात घूँघटवाला' परम मोहक और उन्मादक नाच नाच रही थी।

महाराज ने देखा, मिस मिनी के मक्खोली मुख की ओर; और, मिस के मुख ने मुस्कराकर कुछ इशारा किया, उन चौबीस युवतियों की ओर, जो मुकुट पहनकर चाँदनी के पीछे मदहोश-सी थिरक रही थीं। उनमें से दो, नाचती-नाचती, और सुराही-गिलास सम्हालती हुई, हमारे प्रभु की ओर बढ़ीं। पास पहुँचकर, ढालकर, दोनों ओर से उन्होंने महाराज को मदिरा की मस्ती से महका दिया। उनके हाथ के गिलास ख़ाली कर, महाराज ने उन्हें अपनी दोनों ओर बैठा लिया। वह उनके इस या उस मोहक अङ्ग से खेलने लगे। उस समय उनके आगे लङ्का की चाँदनी तो सात घूँघट का नाच नाच रही थी, और ऊपर की ज्योत्स्ना बिल्कुल नंगी खड़ी मुस्करा रही थी।

थोड़ी देर तक महाराज उन युवतियों से खेलते रहे, बाजे बजते रहे, और नाच होता रहा। इसके बाद उन्होंने पुकारा—"कल्याणसिंह! नाहरसिंह!" उक्त नाम के सरदार श्रीमान् के सामने आकर कर-बद्ध, मगर नशे में झूमते हुए, खड़े होगये। हमारे उदार प्रभु ने उन दोनों युवतियों को उन सरदारों के हवाले किया—"अब इनसे तुम खेलो!" इसी धवल चाँदनी में, मदहोश सरदारों ने अपने-अपने हिस्से की सुन्दरी को गोद में उठा लिया!

तीन बजे रात तक यही सिलसिला जारी रहा। दो-दो कर, वे सुन्द-

रियाँ पहले हमारे प्रभु के सामने आतीं; उनके आगे अपना यौवन और सुराही उँडेलतीं—और फिर, किसी 'सिंह' या 'ख़ाँ' की गोद में ढलते-ढलते बेहोश होजातीं। धीरे-धीरे चौबीसों सुन्दरियाँ एक-एक सरदार की बग़ल में होगयीं—और मिस मिनी महोदया प्राइवेट सेक्रेटरी के पास। अब महाराज अकेले रह गये झूमते, और चाँदनी रह गई अकेली नाचती; वह सात घूँघटवाला नाच। अब प्रभु उसे अपने पास देखने के लिये व्यग्र हो उठे।

मिस मिनी ने, सेक्रेटरी के कपोल से अपना मक्खोली-मुख सटाकर, चाँदनी की ओर कुछ इशारा किया। वह नाचती-नाचती ठिठकी एक बार—मगर फिर; तुरन्त ही अपने को सँभालकर, अपनी कमर की रत्न-खचित पेटी और छुरे की ओर निहारकर, बढ़ी महाराज की ओर—ढालने के लिये। उसे अपनी ओर आने देख, महाराज उत्तेजित होकर खड़े हो-गये। उनकी बड़ी-बड़ी आँखें नशे की गर्मी से लाल होरही थीं।

चाँदनी ने ढालकर सुरा-पात्र, नीची आँखों से, महाराज की ओर बढ़ाया—मगर, अब वह पागल थे। उन्होंने उसके हाथ से गिलास छीनकर, ज़ोर से, एक ओर फेंक मारा, और बाक़ा की उस मुसलमा-नेम को बरबस खींचकर अपनी गोद में ले लिया !!

मगर, महाराज की बलिष्ठ भुजाओं में फँस जाने पर भी, चाँदनी असावधान नहीं थी। उसने घटना का रुख़ देखते ही हाथ की सुराही फेंककर, छुरे को सँभाल लिया था। इसी से तो—महाराज की असा-वधानता के पूर्व ही—उसने अपनी उभरी हुई छाती पर छुरे का एक भरपूर वार किया !

पर यह क्या !! वह टूटकर दो टुकड़े होगया ? क्या वह चाँदनी का असली, फ़ौलादी, रक्षक नहीं था ? सब-के-सब इस घटना पर खिलखिला-कर हँसने लगे। सब की नज़र एक-साथ ही, मिस मिनी के मंगोली-मुख पर जाकर आश्चर्य से ठिठक गई। याने, यह तुम्हारी ही माया की महिमा है, मिस महोदया !

अब भानु-कुल-भूषण अपना सारा बल लगाकर उसको वश में करने की चेष्टा करने लगे, मगर वह पगली क़ाबू में आयी ही नहीं; बराबर उनके कठोर पंजे से छूटने की चेष्टा करती रही, और रो-रोकर दोहाई देती रही।—महाराज, मुझे बेइज़्ज़त न करो ! क्योंकि यह तन मेरे प्यारे साहिब का है। वह मेरे बचपन के सखा और जवानी के मालिक हैं। जावा में चीनी का बहुत बड़ा रोज़गार करते हैं। मुझे छोड़ दो—रक्षा करो—ग़रीबपरवर ! मैं आपकी बेटी और बहन हूँ।

मगर, महाराज तो होश में थे ही नहीं। वह बराबर उस सिंहलिनी से हाथा-पाई करते रहे; उत्तेजित हो-होकर। पर वह वश में आती ही नहीं थी। इसी बीच में प्रभु ने एक बार उसके न-जाने किस अंग को धोखे से, चूम लिया। बस, फिर क्या था ! वह चाँदनी तो आग हो उठी। वह भूल गयी अपनी अबलता, और हमारे प्रजापाल की प्रबलता को ! "सुअर के बच्चे ! हत्यारे ! शैतान !!" कहकर उसने ताबड़तोड़ कई तमाचे महाराज के मदिरा से लाल-लाल गालों पर जड़ दिये। ओह ! वह सिंहलिनी क्या थी, पूरी सिंहनी थी ! एक बार सारी मजलिस सन्न होगयी !!

एक क्षण और—और धड़-धड़-धड़ ! पिस्टल की आवाज़ से सारा

उद्यान गड़गड़ा उठा। उत्तेजित भानु-कुल-भूषण ने, चाँदनी की उभरी हुई छाती में, गोली मार दी! वह जहाँ-की-तहाँ बिखरकर धूमिल हो-गयी।

❋ * * *

सात घूँघटों के नाच के पुरस्कार-रूप में हमारे परमेश्वर-स्वरूप पृथ्वी-पति ने चाँदनी को मुक्त कर दिया। मिस मिनी ने ठीक ही कहा था। भानुवंशियों की विरदावली बहुत विशद है; वह वचन देकर कभी मुकरते नहीं।

* *
*

१—अमर अभिलाषा

(लेखक—आचार्य श्री० चतुरसेन शास्त्री)

शास्त्रीजी की लोह-लेखनी के सब से ताज़ा, सब से उत्तम और सब से मधुर प्रसाद ! हिन्दू-समाज की हाहाकारमयी कुरीति का नग्न प्रदर्शन ! लाखों विधवा माँ-बहनों के करुण रोदन की प्रतिच्छाया। पतन और कुमार्ग के नर्क में फँसे हुए अभागों की यातनाओं का ज्वलन्त चित्र। समाज के निर्दोष, सज्जन और साधु-हृदय पुरुषों को विचलित करनेवाले प्रलोभनों का चित्रण ! प्रत्येक पति, प्रत्येक महिला और प्रत्येक समाज-हितैषी को मनोयोगपूर्वक पढ़नी चाहिये। आठ चित्र, रंगीन कवर, सजिल्द का मूल्य ३) रुपया।

२—विश्व-विहार

(सम्पादक—ठाकुर राजबहादुरसिंह)

विश्व की विचित्रताओं का अनोखा वर्णन ! तारे क्यों टूटते हैं, आदमी बूढ़ा क्यों बनता है, पृथ्वी हमें गिरने क्यों नहीं देती, ज्वालामुखी क्या होता है—आदि आदि ५० गवेषणापूर्ण विषयों पर विस्तृत और खोजपूर्ण प्रकाश डाला गया है। प्रत्येक बालक, युवा और महिला के काम की चीज़ है। २५ चित्र, पचरंगा कवर, सजिल्द का मूल्य ३) रुपया।

३—मधुकरी

दोनों भाग

(सम्पादक—पं० विनोदशङ्कर व्यास)

हिन्दी-साहित्य में चुनी हुई कहानियों के अनेक संस्करण प्रकाशित हुए;—कुछ में एक ही लेखक की श्रेष्ठ रचनाएँ होती हैं, कुछ में भिन्न-भिन्न लेखकों की भिन्न-भिन्न वस्तुओं का सङ्कलन रहता है। 'मधुकरी' के दोनों भागों में हिन्दी के समस्त कहानी-लेखकों की सर्वोत्तम रचनाओं का संग्रह है। पहले भाग में 'प्रसाद', 'प्रेमचन्द', 'कौशिक', 'सुदर्शन', चतुरसेन, 'उग्र'—आदि उन लेखकों की कहानियाँ सजाई गई हैं, जो पिछली दशाब्दि से हिन्दी-साहित्य-पुष्प को मुखरित कर रहे हैं; दूसरे भाग में जैनेन्द्रकुमार, विनोदशङ्कर, राजेश्वरप्रसादसिंह, जी० पी० श्रीवास्तव, वीरेश्वरसिंह—आदि उन नव-विकसित साहित्य-कलिकाओं को स्थान मिला है, जो हिन्दी-साहित्य को संसार-श्रेष्ठ बनानेवाले भविष्यत् महारथी हैं। दोनों भाग बहुत सुन्दर काग़ज़ पर अत्यन्त शुद्धता और स्वच्छता के साथ छपे हैं। प्रत्येक साहित्य-प्रेमी कलाविद् तथा पुस्तकालय की आलमारियों में यह सेट अवश्य रहना चाहिये। मूल्य दोनों भागों का ६) रुपया।

४—बादशाह की बेटी

(अनुवादक—श्री० ऋषभचरण जैन)

विख्यात फ्रेञ्च औपन्यासिक अलेग्ज़ेण्डर ड्यूमा की अत्युत्कृष्ट रचना 'दि क्वीन्स नेक्लेस' का अविकल अनुवाद। किस प्रकार जैक्री-नामक एक राज-परिवार के नवयुवक का सम्राट् हेनरी द्वितीय की कन्या से प्रेम हुआ, किस प्रकार वही युवक सम्राट् के वध का कारण बना, किस प्रकार डायना डि-पोतेई-नामक हेनरी की रखैल ने त्रिया-चरित्र के अनोखे कौशल रचे, और अन्त में किस प्रकार विद्रोहियों ने फ्रान्स की राजनीति में भयङ्कर उथल-पुथल की, और महारानी कैथेराइन ने किन परिस्थितियों में अपने हाथों अपने पुत्र की हत्या की—इसका रोंगटे खड़े कर देनेवाला वर्णन् इस पुस्तक में पढ़िये। अनुवाद की भाषा इतनी रोचक और सरल है, कि बिल्कुल मौलिक उपन्यास का-सा आनन्द आता है। सचित्र, सजिल्द का मूल्य २) रुपया।

५—अफ़ीम का अड्डा

(अनुवादक—श्री० ऋषभचरण जैन)

इँग्लैण्ड के विश्व-विख्यात जासूसी कहानी-लेखक सर आर्थर कॉनन डॉयल की तीन अनोखी, आश्चर्यजनक, लोमहर्षक और अद्भुत कहानियों का चटकीला अनुवाद। एक बार आरम्भ करके बिना समाप्त किये न छोड़ना इन कहानियों की ख़ूबी है। मूल्य १) रुपया।

६—अमर राठौर

(लेखक—श्री० चतुरसेन शास्त्री)

द्विजेन्द्रलाल-स्कूल का सर्व-प्रथम मौलिक नाटक। हिन्दी-भाषा में नाट्य-साहित्य अविकसित अवस्था में है। ऐतिहासिक नाटक तो हिन्दी में देखने को नहीं मिलते। शास्त्रीजी की ज़ोरदार लेखनी से निकला हुआ यह ऐतिहासिक नाटक सर्वथा मौलिक है। कवर पर महत्वपूर्ण चित्र। पृष्ठ-संख्या २०० के लगभग, और मूल्य केवल १) रुपया।

७—प्रेम का दम्भ (दूसरा संस्करण)

(अनुवादक—श्री० ऋषभचरण जैन)

प्रस्तुत रचना में महर्षि टॉल्सटॉय की दो विश्व-विख्यात कहानियों का अविकल अनुवाद है। विवाह क्या है?—गृह-कलह का परिणाम क्या है?—नैतिकता किस चीज़ का नाम है?—आँखों पर पट्टी बाँधकर हम किस पतन-गह्वर समा रहे हैं? इन प्रश्नों का मार्मिक उत्तर आप इस पुस्तक में पायेंगे। ज़ारकालीन दास-प्रथा का रोमाञ्चकारी वर्णन भी इसी पुस्तक में है। अत्यन्त उप-योगी ग्रन्थ है। दूसरा संस्करण अत्यन्त शुद्धतापूर्वक छापा गया है। मूल्य सचित्र, सजिल्द का १।।) रुपया।

८—विनाश की घड़ी

(अनुवादक—ठाकुर राजबहादुर सिंह)

विश्व-विख्यात आधुनिक दार्शनिक रोम्याँ रोलाँ के वीर रस-

पूर्ण नाटक Fourteenth of July का हिन्दी-अनुवाद। मूल्य १) रुपया।

९—तपोभूमि

लेखकगण—
(श्री० जैनेन्द्रकुमार जैन)
(श्री० ऋषभचरण जैन)

जैन-बन्धु का प्रथम और अपूर्व सामाजिक उपन्यास है। साढ़े तीन-सौ पृष्ठ के उपन्यास में केवल कुल चार पात्र हैं—जिनमें सभी अनोखे, सभी विचित्र, सभी अपूर्व! किस प्रकार आदमी का मन गिरगिट की तरह रंग बदलता है, किस प्रकार बड़े-बड़े संयमी महापुरुष कामिनी के रूप-जाल में सर्वस्व गँवा बैठते हैं। इसके साथ ही घरू झगड़ों की शान्ति का क्या उपाय है, और स्त्री-पुरुष का जीवन क्यों दुःखपूर्ण हो-उठता है—इसका रहस्य भी इस पुस्तक में देखिये। मूल्य केवल २) रुपये।

१०—चार क्रान्तिकारी

(अनुवादक—ठाकुर राजबहादुर सिंह)

इँग्लैण्ड के लोमहर्षक लेखक एडगर वालेस के सब से प्रसिद्ध उपन्यास The Four Just Men का हिन्दी-अनुवाद। इस एक पुस्तक ने लेखक को संसार-भर में अमर बना दिया था। इसमें लेखक की अद्भुत शैली और भाषा-नैपुण्य का परिचय मिलता है। एक वर्ष में ढाई हज़ार कॉपियाँ हाथों-हाथ उड़ गईं! १२० पृष्ठ की पुस्तक का दाम केवल एक रुपया।

११—तलाक़

(लेखक—श्री० प्रफुल्लचन्द ओझा 'मुक्त')

लेखक का एक भावपूर्ण सामाजिक उपन्यास। युवावस्था की फूल-भरी शैया का विषाद। प्रेम के झकोरों में नवयुवक हृदय का अधःपतन, और गार्हस्थ्य-जीवन की उलझी सुलझी समस्याएँ। मूल्य केवल २) रुपया।

१२—टॉल्सटॉय की डायरी

(अनुवादक—ठाकुर राजबहादुर सिंह)

महर्षि टॉल्सटॉय की यौवन-कालीन दुर्बलताओं के ज्वलन्त चित्र। नवयुवक-हृदय की चञ्चल वृत्तियों का दिग्दर्शन। हिन्दी-साहित्य में बिल्कुल अपूर्व पुस्तक। ४७० से अधिक पृष्ठ। कई चित्र। मूल्य तीन रुपया।

१३—जासूसी कहानियाँ

(अनुवादक—श्री० सुकुमार चट्टोपाध्याय)

इँग्लैण्ड के रहस्यपूर्ण उपन्यास-लेखक सर आर्थर कॉनन डॉयल की तीन सब से अच्छी कहानियों का अनुवाद। एक बार आरम्भ करके बिना समाप्त किये छोड़ना असम्भव है। इन कहानियों को पढ़कर पाठक फिर रद्दी जासूसी क़िस्सों को पढ़ने का नाम न लेंगे। मूल्य केवल एक रुपया।

१४—मुग़लों के अन्तिम दिन

(लेखक—ख्वाजा हसन निज़ामी)

ख्वाजा साहब उर्दू-भाषा के सर्व-श्रेष्ठ लेखकों में से हैं। उन्होंने सन् ५७ के ग़दर के सम्बन्ध में अनेक सुन्दर-सुन्दर पुस्तकें लिखी हैं। यह उनमें से एक का अनुवाद है। मूल्य एक रुपया।

१५—सभ्यता का शाप

(अनुवादक—ठाकुर राजबहादुर सिंह)

महर्षि टॉल्सटॉय के सुन्दर नाटक Fruits of Enlightenment का अविकल अनुवाद। अमीरों के चोचले! दिमाग़ी ऐयाशी की करामात! बिगड़े मस्तिष्कों के विकार! अत्यन्त मनोरञ्जक पुस्तक है। मूल्य केवल १।) रुपया।

१६—चार्ली चैप्लिन

अँग्रेज़ी-सिनेमा-विशारद विलियम डॉजसन बोमैन की एक सर्वाङ्ग-सुन्दर रचना का भावानुवाद। विश्व-प्रसिद्ध अभिनेता चार्ली चैप्लिन की घटनापूर्ण जीवन-गाथा और उसके प्रसिद्ध खेलों की सार-गर्भित आलोचना। आठ चित्र और पुष्ट काग़ज़। पढ़ने-योग्य पुस्तक है। मूल्य १) रुपया।

१७—कण्ठ-हार

(अनुवादक- श्री० ऋषभचरण जैन)

विख्यात फ्रान्सीसी लेखक अलेग्ज़ैण्डर ड्यूमा के 'दि क्वीन्स नेकलेस' का हिन्दी अनुवाद। किस प्रकार राज-महिषी के हीरों के हार को लेकर भयंकर षड्यन्त्र रचा गया, किस प्रकार जादूगर कगलस्तर की भयंकर नीति के कारण फ्रेञ्च-राजनीति में क्रान्ति का प्रवेश हुआ, किस प्रकार मायाविनी जीन की चालों के कारण महारानी मेरी को दुनियाँ में मुँह दिखाना हराम होगया। इसके साथ-साथ उस समय की राजनैतिक स्थिति, राज-महलों की अभिसन्धियाँ, कर्तव्य और प्रेम के लोमहर्षक संघर्ष और राजकीय कोप के भीषण परिणाम भी आप प्रस्तुत पुस्तक में देख पायेंगे। अनुवाद की भाषा अत्यन्त रोचक और सजीव है। पाँच सौ पृष्ठ की सचित्र, सजिल्द पुस्तक का मूल्य केवल ३) रुपया।

१८—कसक

(लेखक—श्री० रामविलास शुक्ल)

हिन्दी के एक नवयुवक की प्रथम रचना। एक अछूती प्रेम-कहानी का सरस वर्णन। मूल्य सचित्र, सजिल्द का १।)

१९—धर्म के नाम पर

(लेखक—श्री० चतुरसेन शास्त्री)

हिन्दुओं की नालायकी का मैकाल्पिक वर्णन। क्रान्ति के